कृष्णा सोबती के कथा-साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक परिदृश्य

(जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)

शोध निर्देशक
डॉ. ओम प्रकाश सिंह

शोधार्थी
पल्लवी प्रकाश

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2008

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre Of Indian Languages
School Of Language, Literature & Culture Studies
NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 25/.../7/.../2008

DECLARATION

I declare that the work done in this thesis entitle ***"KRISHNA SOBTI KE KATHA SAHITYA MEIN ABHIVYAKT SAMAJIK PARIDRISHYA"*** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Pallavi Prakash

Pallavi Prakash
(Research Scholar)

DR. OM PRAKASH SINGH
(Supervisor)
Centre Of Indian Languages
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURE STUDIES
NEW DELHI-110067, INDIA

PROF. CHAMAN LAL
(Chairperson)
28/7/08
Centre Of Indian Languages
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURE STUDIES
NEW DELHI-110067, INDIA

GRAM : JAYENU, Tel: (91-011)] 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217 Fax: (91-011)26717603, 26717586

राहुल के लिए...

विषयानुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका I - IX

पहला अध्याय 1 — 40

कृष्णा सोबती का समय और उनका रचना संसार

(क) कृष्णा सोबती और उनका समय

(ख) कृष्णा सोबती की रचनात्मक चिंता

(ग) कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य

दूसरा अध्याय 41 — 65

कृष्णा सोबती के कथा-साहित्य में अभिव्यक्त समाज

(क) व्यक्ति और समाज

(ख) सामाजिक संस्थाओं का बदलता स्वरूप

(ग) जीवन के अंतर्विरोध

तीसरा अध्याय 66 — 100

कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त जीवन–मूल्य और आधुनिक दृष्टिकोण

(क) समाज और जीवन

(ख) परंपरागत और आधुनिक जीवन–मूल्यों का द्वंद्व

(ग) छटपटाहट, पीड़ा और ऊब

(घ) जीवन की सहज स्वीकृति

चौथा अध्याय 101 – 150

कृष्णा सोबती के कथा-साहित्य में उपस्थित स्त्री

(क) स्त्री का व्यक्तित्व और टूटती सीमाएँ
(ख) स्त्री-पुरुष संबंध : बदलते समीकरण
(ग) प्रेम का स्वरूप : विवाह और विकल्प की तलाश
(घ) यौन नैतिकता : वर्जनाएँ बनाम मुक्ति
(ड.) नारी चेतना का नवीन स्वरूप

पाँचवा अध्याय 151 – 187

कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त इतिहास और संस्कृति

(क) देश विभाजन और कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य
(ख) साँझी संस्कृति का स्वरूप
(ग) लोक परंपरा का चित्रण

छठा अध्याय 188 – 258

समकालीन स्त्री लेखन और कृष्णा सोबती

(क) स्त्री लेखन की चुनौतियाँ
(ख) स्त्री लेखन के अंतर्विरोध
(ग) समकालीन परिदृश्य और कृष्णा सोबती
(घ) कृष्णा सोबती की भाषा और शिल्प का वैशिष्ट्य

उपसंहार 259 – 272

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची 273 – 287

भूमिका

साहित्य के निर्माण और उसके बोध की प्रक्रिया सामाजिक संदर्भों से कभी असंपृक्त नहीं रही है। आधुनिक युग के साहित्य पर सामाजिक–राजनीतिक परिवेश का जितना गहन और व्यापक प्रभाव पड़ा है, वह इससे पूर्व दृष्टिगत नहीं होता। आज का साहित्य सामाजिक संगठनों, समाज की आर्थिक संरचना एवं राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश से गहरे तौर पर प्रभावित हुआ है। आज साहित्य, सामाजिक परिदृश्य के चित्रण की वजह से ही अपने समय और जीवन के यथार्थ से गहराई तक जुड़ा हुआ है। वही रचनाकार सशक्त एवं प्रामाणिक अनुभूतियों से युक्त रचना का प्रणेता हो सकता है जो अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक हलचलों को रचना के माध्यम से प्रस्तुत कर सके।

आधुनिक हिन्दी रचनाकारों में कृष्णा सोबती एक ऐसी ही महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं जिन्होंने सामाजिक रूप से सजग एवं सशक्त उपन्यासों एवं कहानियों की रचना कर भारतीय कथा–साहित्य को एक विस्तृत फलक प्रदान किया है। लगभग छह दशकों तक फैले अपने रचनाकाल में सोबती ने कुल दस उपन्यास, एक कहानी संग्रह एवं कुछेक संस्मरण, रेखाचित्र संग्रह तथा रिपोर्ताज लिखे हैं। कम लिखने के बावजूद भी उनका लेखन विशिष्ट है।

कृष्णा सोबती का रचनाकाल लगभग छह दशकों तक फैला हुआ हैं सामाजिक–राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के एक लम्बे दौर की वे सहभागी रही हैं। बदलते सामाजिक परिदृश्य के साथ सोबती की रचना दृष्टि में भी बदलाव आया है, एवं उसका गुणात्मक विकास हुआ है। कृष्णा सोबती का रचनाकर्म यथार्थ बोध से निःसृत है, जिसमें युगीन सामाजिक–राजनीतिक हलचलों को महसूस किया जा सकता है। सामाजिक यथार्थ को जीवन से जोड़ने की कला सोबती के लेखन की विश्वसनीयता को बढाती है। रचना में सामाजिक यथार्थ की उपस्थिति को भी वे

अनिवार्य मानती हैं। अपनी रचनाओं में सामाजिक यथार्थ के निर्वाह में वे अपने विचारों को कमजोर नहीं पड़ने देती हैं। जीवन और लेखन के मध्य होने वाली अंतःक्रिया को उन्होंने गहराई तक समझा है और यही समझ उनके लेखन को एक सशक्त और व्यापक आधार प्रदान करती है।

कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य अपने समय और समाज से पूर्णतः संपृक्त है। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए जो कथानक लिए हैं, वे भारतीय समाज के विस्तृत चित्रफलक को प्रस्तुत करते हैं। स्वतंत्रतापूर्वक तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक संरचना, सामाजिक संवेग और उनकी नियंत्रक शक्तियों के विविधतापूर्ण चित्र उनके कथा साहित्य में शामिल हैं।

कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य पर जो भी शोध–कार्य हुए हैं, वे प्रायः नारी अस्मिता की अभिव्यक्ति और शिल्पगत वैशिष्ट्य तक ही सीमित हैं। सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त विभिन्न सामाजिक–राजनीतिक प्रश्नों को समग्रता में उद्‌घाटित करने को अभी तक कोई ठोस प्रयास नहीं किया गया। अतः कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य को विभिन्न सामाजिक संदर्भों में रखकर उसके विस्तृत विवेचन और विश्लेषण के लिए मैंने प्रस्तुत विषय 'कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक परिदृश्य' का चयन किया है।

अध्ययन एवं अनुसंधान कार्य के लिए उक्त विषय को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है–

पहला अध्याय है 'कृष्णा सोबती का समय और उनका रचना संसार'। इस अध्याय के अंतर्गत तीन उप अध्याय हैं– (क) कृष्णा सोबती और उनका समय (ख) कृष्णा सोबती की रचनात्मक चिंता (ग) कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य। पहले उप अध्याय में उस समय को पकड़ने की कोशिश की गई है, जिसे कृष्णा सोबती ने जिया है। किसी भी रचनाकार के साहित्य को जानने और समझने में उसके परिवेश का ज्ञान आवश्यक होता है, क्योंकि रचनाकार के व्यक्तित्व–निर्माण में उसके परिवेश

का महत्वपूर्ण योग होता है। अतः इस उप अध्याय में मैंने यह जानने का प्रयास किया है कि कृष्णा सोबती के सर्जनात्मक व्यक्तित्व की निर्मिति में कौन–कौन सी सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियाँ सहायक हुई तथा किन साहित्यिक विचारधाराओं से वे प्रभावित हुई हैं।

दूसरे उप अध्याय में कृष्णा सोबती की रचनात्मक चिंता को जानने का प्रयास किया गया है। किसी रचनाकार की रचना–दृष्टि के निर्माण में उसकी विचारधारा, उसकी अनुभूतियों एवं उसके परिवेश का योगदान होता है। रचनाकार की रचना–दृष्टि उसकी रचनाओं की निर्मिति के पीछे की प्रेरक शक्ति होती है। कृष्णा सोबती की रचनात्मक चिंता का विषय कौन से मुद्दे रहे हैं, इसे जानने का प्रयास इस उप अध्याय में किया गया है। किसी भी युग का साहित्य, युगीन इतिहास को जानने में सहायक होता है। रचनाकार जिस युग में जी रहा होता है, उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक हलचलों से भी परिचित होता है। कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में भारतीय समाज की कितनी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है, यह पता लगाने का प्रयास हुआ है तीसरे उप अध्याय में।

दूसरे अध्याय 'कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त समाज' के तीन उप अध्याय किए गए हैं– (क) व्यक्ति और समाज (ख) सामाजिक संस्थाओं का बदलता स्वरूप (ग) जीवन के अंतर्विरोध। पहले उप अध्याय के अंतर्गत व्यक्ति और समाज के अंतर्संबंध को समझने का प्रयास हुआ है। साथ ही, यह जानने की कोशिश भी की गई है कि कृष्णा सोबती की रचनाओं में व्यक्ति को प्रमुखता मिली है या समाज को या फिर व्यक्ति और समाज के समायोजन को। सामाजिक संस्थाएँ, मनुष्यों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में विकसित नियमों एवं कार्यप्रणालियों का वह संगठित रूप हैं, जो समाज द्वारा मान्य हैं। सामाजिक–राजनीतिक परिवर्तनों के साथ ही सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है। सामाजिक संस्थाओं का परंपरागत रूप कितना प्रासांगिक रह गया

है, तथा उनके स्वरूप में आ रहे बदलाव को कृष्णा सोबती कितनी प्रामाणिकता से अभिव्यक्त कर पाई हैं, यह जानने का प्रयास दूसरे उप अध्याय में किया गया है। आज के मनुष्य के जीवन का अनिवार्य अंग बन चुके हैं अंतर्विरोध। हमारे सिद्धान्तों एवं व्यवहार में प्रायः फर्क होता है। यही फर्क जीवन के अंतर्विरोधों के कारण बन जाते हैं। कृष्णा सोबती की रचनाओं के पात्र अपने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में कितना तालमेल बिठा पाते हैं एवं उनके अंतर्विरोध किस प्रकार के हैं, यह जानने का प्रयास हुआ है तीसरे उप अध्याय में।

तीसरे अध्याय, 'कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त जीवन–मूल्य और आधुनिक दृष्टिकोण' के अंतर्गत चार उप अध्याय किए गए हैं– (क) समाज और जीवन (ख) परंपरागत और आधुनिक जीवन मूल्यों का द्वंद (ग) छटपटाहट, पीड़ा और ऊब (घ) जीवन की सहज स्वीकृति। व्यक्ति और समाज का संबंध अन्योन्याश्रित है। व्यक्तियों के बगैर समाज का अस्तित्व नहीं होता तथा समाज से इतर व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं होती। कोई भी समाज बहुस्तरीय होता है, जिसके विभाजन का आधार लोगों की जीवन–शैली, तथा उनका सामाजिक स्तर होते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन–यथार्थ के चित्रण का क्या कोई प्रयास कृष्णा सोबती के यहाँ मिलता है। यदि हाँ तो फिर वह प्रयास कितना सफल हुआ है, इसकी जाँच करने की कोशिश पहले उप अध्याय में की गई है। सामाजिक–राजनीतिक एवं आर्थिक परिवेश में परिवर्तन के साथ ही जीवन–मूल्यों के संदर्भ बदल जाते हैं। आधुनिक युग में औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं भूमंडलीकरण के प्रभावस्वरूप जो परिवर्तन आए हैं, उनकी वजह से परंपरागत जीवन मूल्य प्रश्नबद्धता के घेरे में आ गए हैं। परंपरागत एवं आधुनिक जीवन–मूल्यों की टकराहट को किस प्रकार कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्ति मिली है, यह जानने का प्रयास हुआ है, दूसरे उप अध्याय में। आधुनिक युग में बढते औद्योगीकरण एवं मशीनीकरण ने मनुष्य के जीवन को संत्रस्त बना दिया है। आज मनुष्य अपने आप से दूर होता जा रहा है क्योंकि

निराशा, कुण्ठा, असुरक्षा, असंतोष एवं मृत्यु–भय उसे चारों ओर से घेरे हुए हैं। आज मनुष्य के जीवन में व्याप्त छटपटाहट, पीड़ा और ऊब को कृष्णा सोबती की रचनाओं में कैसी अभिव्यक्ति मिली है, यह जानने का प्रयास किया गया है तीसरे उप अध्याय में। किसी भी रचनाकार की रचनादृष्टि, जीवन और संसार, परिवेश तथा विभिन्न परिस्थितियों के प्रति अपनाये गए उसके दृष्टिकोण से दूर तक प्रभावित होती है। कृष्णा सोबती की जीवन–दृष्टि मानवीय चेतना के नवीन बोध को समाहित किए हुए है, जो कि युगीन यथार्थ को जानने में सहायक है। कृष्णा सोबती की रचनाओं के पात्र, जीवन जीने की जिजीवषा रखते हैं या नहीं, इसका पता लगाने का प्रयास हुआ है, उप अध्याय चौथे में।

चौथे अध्याय, 'कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में उपस्थित स्त्री' के अंतर्गत पाँच उप अध्याय किए गए हैं– (क) स्त्री का व्यक्तित्व और टूटती सीमाएँ (ख) स्त्री–पुरूष संबंध : बदलते समीकरण (ग) प्रेम का स्वरूप : विवाह और विकल्प की तलाश (घ) यौन नैतिकता : वर्जनाएँ बनाम मुक्ति (ड.) नारी चेतना का नवीन स्वरूप। किसी भी युग के समाज एवं साहित्य में नारी की प्रस्थिति स्थिर नहीं रही, बल्कि हमेशा परिवर्तनशील रही। देश की स्वतंत्रता के पश्चात शिक्षा एवं आर्थिक अवसरों की समानता ने भारतीय नारी को भी मानसिक पराधीनता एवं जर्जर, रूढ परम्पराओं से मुक्त कराया। नारी की जीवन दृष्टि में आज क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। समाज एवं संस्कृति द्वारा निर्धारित रूढ प्रतिमानों को तोड़कर आज नारी जिस तरह स्वयं को अभिव्यक्त कर रही है, उसकी कितनी प्रामाणिक प्रस्तुति कृष्णा सोबती के साहित्य में हुई है, यह जानने का प्रयास किया गया है पहले उप अध्याय में। सामाजिक परिवेश में बदलाव के साथ ही जिस प्रकार के जीवन–मूल्य उत्पन्न हुए हैं उन्होंने मानवीय संबंधों को कई स्तरों पर प्रभावित किया है। मानवीय संबंधों में जो संबंध सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं, वे हैं स्त्री–पुरूष संबंध। स्त्री–पुरूष संबंधों के विभिन्न आयामों का कृष्णा सोबती के यहाँ किस प्रकार चित्रांकन हुआ है, यह जानने का प्रयास किया

गया है दूसरे उप अध्याय में। आधुनिक युग में उपभोक्तावादी संस्कृति ने मानवीय संवेदनाओं को बुरी तरह झकझोर कर रख दिया है। विवाह एवं प्रेम जैसी संकल्पनाओं के अर्थ बदल गए हैं, ये अब शाश्वत संबंध नहीं रहें, बल्कि अपनी सुविधानुसार तोड़े–मरोड़े जा सकते हैं। आज एक प्रेम संबंध समाप्त होने के पश्चात तुरंत ही उसका स्थानापन्न आ जाता है। इसी प्रकार, विवाह अब जन्म–जन्मांतरों का बंधन नहीं रहा, विवाह–विच्छेद अब सामान्य सी बात हो गई है। साथ ही, विवाह के समानांतर अन्य संबंध भी सामान्य सी बातें होती जा रही हैं। प्रेम एवं विवाह संबंधी मान्यताओं में जो परिवर्तन आये हैं उनका निरीक्षण करने का प्रयास किया गया है तीसरे उप अध्याय में। भारतीय समाज में नैतिकता के मापदण्ड पुरूषों एवं स्त्रियों के लिए सदा अलग–अलग रहे हैं। स्त्री को हमेशा उसके शरीर द्वारा परिभाषित करने की कोशिश की गई एवं यौन–शुचिता के दंश ने हमेशा उसे आक्रांत रखा, जबकि पुरूष के लिए कभी किसी प्रकार की यौन–वर्जनाओं का नियमन नहीं हुआ। लेकिन आधुनिक युग में नारी ने स्वयं को सिर्फ 'शरीर' माने जाने, तथा अपनी इयत्ता को सिर्फ 'शरीर' तक ही सीमित करके देखे जाने की पुंसवादी मानसिकता का विरोध किया। आज नारी उन सभी नैतिक प्रतिमानों को प्रश्नांकित कर रही है, जो पुरूषों के लिए भिन्न हैं तथा स्त्री के लिए भिन्न हैं। यौन–मुक्ति, आज की नारी के समक्ष एक बड़ा प्रश्न बन कर उपस्थित है। यौन–नैतिकता एवं उससे जुड़े हुए प्रश्नों की प्रस्तुति कृष्णा सोबती के यहाँ किस तरह हुई है, यह चौथे अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक युग में नारी, अपनी अस्मिता के प्रति जागृत हुई है। वह पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के दोहरे मानदंडों को प्रश्नांकित कर रही है तथा स्वयं के लिए, स्वयं द्वारा ही आचरण के मानदण्डों के निर्धारण का प्रयास कर रही है। प्राचीन रूढ जीवन–मूल्यों से नवीन जीवन–मूल्यों की तरफ उसकी अग्रसरता नारी की नवीन चेतना को चित्रांकित कर रही है। नारी की इस विकसित होती हुई आत्मचेतना की प्रस्तुति को निरखने का प्रयास पाँचवें उप अध्याय में हुआ है।

पाँचवें अध्याय, 'कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त इतिहास और संस्कृति' के अंतर्गत तीन उप अध्याय हैं– (क) देश–विभाजन और कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य (ख) साँझी संस्कृति का स्वरूप (ग) लोक परंपरा का चित्रण। देश–विभाजन न सिर्फ भारतीय इतिहास में, बल्कि विश्व के इतिहास में एक युगान्तकारी परिवर्तन के रूप में दर्ज किया गया है। यह एक ऐसी घटना है, जिनसे साहित्यकारों की संवेदनाओं को झकझोर दिया एवं अनेक श्रेष्ठ रचनाओं का प्रेरक–स्रोत बनी। कृष्णा सोबती उन रचनाकारों में से हैं, जिनके लिए देश–विभाजन केवल एक घटना नहीं, बल्कि एक जीवंत इतिहास है। देश–विभाजन के परिणामस्वरूप मानवीय संबंधों में आये बदलाव एवं जीवन–मूल्यों में आये परिवर्तन को कृष्णा सोबती के यहाँ कैसे प्रस्तुत किया गया है, यह जाँचने का काम हुआ है पहले उप अध्याय में। समन्वय तथा सहयोग भारतीय समाज तथा संस्कृति के प्रमुख आधारस्तंभ रहे हैं। देश–विभाजन के पूर्व हिन्दू–मुस्लिम तथा सिक्ख ये तीनों संप्रदाय जिस मेल–मिलाप एवं भाईचारे के साथ रहते हैं, वह एक समन्वित संस्कृति का चित्र प्रस्तुत करता है। संस्कृति के इस साँझेपन को कृष्णा सोबती के यहाँ किस प्रकार की अभिव्यक्ति मिली है, यह पता लगाने का प्रयास हुआ है दूसरे उप अध्याय में। किसी भी समाज के जीवन को जानने में लोक–परंपराओं का महत्वपूर्ण योग होता है। लोक परंपराएँ सामाजिक संस्थाओं के लिए आस्था का आधार बनती हैं, जिनसे जीवन के लक्ष्य एवं मूल्यों का निर्धारण होता है। विश्व में कोई भी समाज परंपरामुक्त नहीं होता। लोक–परंपराओं का चित्रण कृष्णा सोबती की रचनाओं में कितनी सफलतापूर्वक हुआ है, यह जानने का प्रयास हुआ है तीसरे उप अध्याय में।

छठे अध्याय, 'समकालीन स्त्री–लेखन और कृष्णा सोबती' के अंतर्गत चार उप अध्याय हैं– (क) स्त्री लेखन की चुनौतियाँ (ख) स्त्री लेखन के अंतर्विरोध (ग) समकालीन परिदृश्य और कृष्णा सोबती (घ) कृष्णा सोबती की भाषा और शिल्प का वैशिष्ट्य। स्त्री–विमर्श आज हिन्दी–साहित्य और समाज से टकराने वाले प्रमुख प्रश्नों

में से एक है। स्त्री–लेखन, स्त्रियों द्वारा अपने विशिष्ट अनुभवों की प्रामाणिक प्रस्तुति का लेखन है। आज के स्त्री लेखन को किन चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है, यह पता लगाने का प्रयास हुआ है पहले उप अध्याय में। कोई भी साहित्यिक विमर्श, अंतर्विरोधों से मुक्त नहीं रहा है। समकालीन स्त्री–लेखन भी इसका अपवाद नहीं। आज के स्त्री–लेखन में मौजूद अंतर्विरोध कौन–कौन से हैं, जिनका समाधान आवश्यक है, यह पता लगाने का प्रयास हुआ है दूसरे उप अध्याय में। स्त्री–लेखन आज अपनी उपस्थिति का भास जोर–जोर से कर रहा है। स्त्री–लेखन का वर्तमान परिप्रेक्ष्य क्या है, तथा इसके संदर्भ में आज कृष्णा सोबती कितनी प्रासंगिक हैं, यह समझने की कोशिश हुई है तीसरे उप अध्याय में। कृष्णा सोबती की भाषा और शिल्प के वैशिष्ट्य को देखने का प्रयास हुआ है चौथे उप अध्याय में।

अंत में उपसंहार में समूचे अध्ययन के निष्कर्ष को रखा गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध के आद्यंत निर्देशन का कार्य डॉ. ओमप्रकाश सिंह ने किया, जिनके सतत् मार्गदर्शन तथा प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप ही यह कार्य संभव हो पाया। मेरी जिज्ञासा को शांत करने तथा शोध–विचार को दिशा देने में डॉ. ओमप्रकाश सिंह की अहम भूमिका रही है। डॉ. सिंह के प्रति अपने आभार को शब्दों में व्यक्त करना कठिन है, क्योंकि शब्द छोटे पड़ जा रहे हैं।

भारतीय भाषा केन्द्र के सभी शिक्षकों की भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिनसे समय–समय पर मुझे मार्गदर्शन मिला है। भारतीय भाषा केन्द्र के कार्यालय के सभी कर्मचारियों की भी मैं आभारी हूँ।

मित्रों में अरविंद दास, अभिजीत प्रियदर्शी एवं जया तिवारी को धन्यवाद, समय–समय पर मुझे प्रोत्साहन देने के लिए। तकनीकी सहयोग के लिए चंदन जी को भी धन्यवाद।

अपनी माता डॉ. शीलाबाला वर्मा एवं पिता प्रो. जगदीश नारायण वर्मा के प्रति आभार व्यक्त करना तो कृतघ्नता ही होगी, क्योंकि उनके स्नेह से उऋण हो पाना मेरे लिए असंभव है। भाई के स्नेह एवं बहनों तथा उनके परिवार द्वारा प्रदत्त भावनात्मक सहयोग ने इस शोध–प्रबंध को आगे बढ़ाने का कार्य किया। आरोही के स्नेह ने हमेशा मेरा मनोबल बढ़ाया, उसे भी धन्यवाद। अपनी ससुराल के सभी सदस्यों को धन्यवाद तथा मेरे श्वसुर श्री रामनिरंजन सहाय को विशेष धन्यवाद, हमेशा प्रोत्साहन देने के लिए।

इस शोध–प्रबंध को पूरा कर पाना मेरे लिए संभव नहीं होता, यदि मुझे मेरे पति राहुल गौरांग का स्नेह, सहयोग एवं प्रोत्साहन नहीं मिला होता। राहुल का आभार मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकती।

पल्लवी प्रकाश

पहला अध्याय

कृष्णा सोबती का समय और उनका रचना संसार

(क) कृष्णा सोबती और उनका समय

(ख) कृष्णा सोबती की रचनात्मक चिंता

(ग) कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य

(क) कृष्णा सोबती और उनका समय

साहित्य के निर्माण और बोध की प्रक्रिया सामाजिक संदर्भों से कभी भी असंपृक्त नहीं रही है। आधुनिक युग में साहित्य पर सामाजिक–राजनीतिक परिवेश का जितना गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है, वह इससे पूर्व दृष्टिगत नहीं होता। आधुनिक काल से पूर्व के साहित्य के नियामक मूल्य प्रमुखतः प्रेम और सौंदर्य थे। आज साहित्य की दुनिया समाज की आर्थिक संरचनाओं, सामाजिक ढाँचों और राजनीतिक–सांस्कृतिक परिवेश से दूर तक प्रभावित होती है। आज का साहित्य सामाजिक परिदृश्य के चित्रण की वजह से ही अपने समय और जीवन के यथार्थ से गहराई तक जुड़ा हुआ है। वही रचनाकार सशक्त एवं प्रामाणिक अनुभूतियों से युक्त रचना का प्रणेता हो सकता है, जो सामाजिक रूप से सजग हो तथा युगीन सामाजिक–राजनीतिक हलचलों को अपनी रचनाओं में व्यक्त कर सके।

आधुनिक हिंदी साहित्यकारों में कृष्णा सोबती का एक विशिष्ट स्थान है। उन्होंने सामाजिक रूप से सजग एवं सशक्त उपन्यासों और कहानियों की रचना कर भारतीय कथा–साहित्य को एक विस्तृत फलक प्रदान किया है। लगभग छः दशकों तक फैले अपने रचना–काल में उन्होंने बहुत ज्यादा उपन्यासों या कहानियों की रचना तो नहीं की है (कुल दस उपन्यास एवं एक कहानी संग्रह), लेकिन कम लिख कर भी उनका लेखन विशिष्ट है। स्वयं कृष्णाजी इसे स्वीकार करती हैं – "प्रकाशक की ओर से प्रस्तुत अपने लेखकीय परिचय की यह पंक्ति मुझे सबसे ज्यादा पसंद है, ...बहुत कम लिखती हैं और इसे ही वह अपना साहित्यिक परिचय भी मानती हैं।"[1] यद्यपि कृष्णा सोबती ने कहानी, रिपोर्ताज, संस्मरण आदि अनेक विधाओं में लिखा है, परंतु उनके रचनाकार व्यक्तित्व की प्रमुख पहचान उपन्यासों की वजह से ही है।

कृष्णा सोबती का रचनाकाल लगभग छः दशकों तक फैला हुआ है। सामाजिक–राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के एक लंबे दौर की वे सहभागी रही हैं। सामाजिक परिदृश्य के बदलाव के साथ ही कृष्णाजी की सर्जनात्मक प्रतिभा ने

भी बदलाव महसूस किया है, उसका विकास हुआ है। जनवरी 1944 में लिखी गई 'नफीसा' तथा मई 1944 में लिखी गई 'लामा' कृष्णाजी की आरंभिक कहानियों में से है। शुरूआती दौर की कहानियों में एक रूमानी एप्रोच दिखता है, लेकिन धीरे–धीरे सोबती की दृष्टि अधिक यथार्थपरक हो जाती है। 'सिक्का बदल गया' (1948), एवं 'आजादी शम्मोजान की' (1951) इसी यथार्थपरक रचना दृष्टि का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

कृष्णा सोबती ने जब लिखना आरंभ किया, वह द्वितीय विश्वयुद्ध के आस–पास का समय था। प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति और आधुनिकीकरण के आगमन ने विचारों, मूल्यों और व्यवस्था में नई क्रांति उत्पन्न कर दी थी। आधुनिकीकरण ने यूरोप में जिस परिवर्तन की शुरूआत की थी, उसे संभालने के लिए परंपरागत तरीके कामयाब नहीं हो पा रहे थे, अतः समाजशास्त्र का जन्म इस परिवर्तन के जवाब में हुआ। समाजशास्त्र ने समाज को समझने के लिए तार्किक पद्धति अपनाये जाने पर जोर दिया। 1787 के फ्रेंच रिवोल्यूशन तथा 1648 ई. के इंग्लिश रिवोल्यूशन ने फ्रांस तथा इंग्लैण्ड में निरंकुश राजसत्ता को उखाड़ फेंका और नई लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना की। समाजशास्त्र के उदय ने व्यक्ति और समाज के अंतर्संबंधों को समझाने की चेष्टा की। वैचारिक स्वातंत्र्य, बुद्धिवाद तथा मानवतावाद को इस युग में अत्यंत महत्व दिया गया। यह युग वस्तुतः व्यक्ति प्रधान रचनाओं का समर्थक था। समाज के दलित–शोषित वर्गों से सहानुभूति रखने वाले सामाजिक विचारकों जैसे बेकन, ह्यूम, वाल्टेयर और रूसो आदि ने व्यक्ति की अस्मिता को उभारने वाली विचारधाराओं का पर्याप्त प्रचार और प्रसार किया।

व्यक्ति के प्रति सम्मान तथा व्यक्तिवाद को समर्थन ने समाज में नारी की स्थिति पर भी विचार–विमर्श प्रारंभ किया। अब तक जो नारी अस्तित्वहीन जीवन व्यतीत कर रही थी, उसके अस्तित्व को स्वीकृति देने का प्रयास समाज और साहित्य में क्रमशः दृष्टिगत होने लगा। इंग्लैण्ड में जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–73)

ने स्त्री को प्राणी के रूप में प्रतिष्ठा देने और नारी–अस्मिता को नये संदर्भों से जोड़ने का प्रयत्न किया। इसी क्रम में उनके लिए मताधिकार के अधिकार की माँग की गई।

इस माँग से उद्योग–प्रणाली में नये अवसर की गुंजाइश तथा मुक्ति–निर्णय की स्वतंत्रता के कारण नये स्त्रीत्व का उदय हुआ। अतः आधुनिकीकरण, जिसकी प्रमुख स्थापना व्यक्ति प्रधान समाज तथा रचना थी, ने भारतीय समाज एवं साहित्य को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया। देश के नवविकसित मध्यवर्ग ने प्राचीन रूढ़िवादी जाति–व्यवस्था, सती–प्रथा, अनमेल विवाह, विधवाओं की असहाय अवस्था के विरूद्ध आवाज उठा कर धर्म और विवेक के समन्वय के द्वारा नवीन लोकतांत्रिक आदर्शों के अनुकूल भारतीय समाज का पुनर्गठन करने का प्रयास किया। बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य संस्कृति एवं अंग्रेजी शिक्षा के प्रति अभिरूचि ने मध्य–वर्ग को नवीन प्रगतिशील तत्वों को आत्मसात् करने में मदद की जिससे भारतीय मध्यवर्ग की व्यक्तिवादी चेतना सशक्त हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत बदले हुए राजनैतिक परिवेश और स्वतंत्रता के बाद की सामाजिक–आर्थिक समस्याओं ने भारतीय मानस को गहरे तक प्रभावित किया।

आधुनिक काल में पुनरुत्थान एवं नवजागरण की जो लहर आई, उसके प्रभावस्वरूप सदियों से दलित, शोषित एवं पीड़ित भारतीय नारी भी विद्रोहिणी बन कर सामने आई। शिक्षा एवं सामाजिक सुधार की भावनाओं से प्रभावित होकर भारतीय नारी–समुदाय ने जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रगति की तरफ अग्रसरता दिखाई। न केवल उसने स्वयं को पुरुष–आधिपत्य से मुक्त करने का प्रयास किया, बल्कि सदियों की आर्थिक एवं सामाजिक दासता की श्रृंखला को भी काफी हद तक तोड़ने का प्रयास किया।

नवीन औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप देश की सामाजिक स्थिति तथा वर्ण–व्यवस्था में पर्याप्त परिवर्तन आए। खान–पान, शादी–विवाह, जीविकोपार्जन के साधन तथा जीवन संबंधी दृष्टिकोण की विभिन्नता ने सामाजिक संबंधों में परिवर्तन

आरंभ कर दिए। संयुक्त परिवार के विघटन ने एकल परिवारों को स्थानापन्न बनाया। बढ़ती हुई आर्थिक विषमता को वहन करने के लिए स्त्रियों ने भी कार्यक्षेत्रों में प्रवेश किया, जिसके परिणामस्वरूप स्त्री–पुरुष संबंधों में बदलाव आए।

कृष्णा सोबती ने अपने रचनाकाल में एक तरफ विभिन्न महत्वपूर्ण सामाजिक–राजनीतिक परिवर्तनों जैसे, देश–विभाजन, अस्थिर लोकतंत्र का जन्म, राजनीति का अपराधीकरण, शाहबानू प्रकरण, बाबरी मस्जिद विध्वंस एवं गुजरात के सांप्रदायिक दंगों का साक्षात्कार किया है तो दूसरी तरफ साहित्यिक विमर्शों की अनेक प्रचलित धाराओं जैसे अस्तित्ववाद, प्रयोगवाद, दलित एवं नारी विमर्श से भी पहचान का प्रयास किया है। कृष्णा सोबती की रचनात्मक प्रतिभा, कथा–साहित्य के आलोचनात्मक मापदण्डों पर पूरी तरह खरी उतरती है। कृष्णा सोबती की दृष्टि–परिधि न सिर्फ ग्रामीण परिवेश के परिवर्तनों को समेटती है, बल्कि गहरी परिवेश में विकसित हो रही पूंजीवादी उपभोक्ता संस्कृति के विभिन्न लक्षणों जैसे गुटबंदी, बढ़ती कुण्ठाओं एवं अवसाद को भी समेटती है।

किसी रचनाकार की सृजन–प्रक्रिया को समझने में उसके परिवेश और पृष्ठभूमि का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान होता है। परिवेशगत अनुभवों, अनुभूतिगत गहराईयों और यथार्थ की चिंतनाओं के द्वारा ही सर्जक का कृतित्व आकार ग्रहण करता है। कृष्णा सोबती का परिवेश पंजाबी जनसंस्कृति का तो रहा ही है, साथ ही महानगरीय परिवेश से भी उनकी अंतरंगता रही है। स्वयं कृष्णाजी के शब्दों में – "एक ओर खेतिहर वर्ग से जुड़ी हूँ जो अपने मिजाज के खुलेपन से आपको कुछ भी कर सकने की जुर्रत देता है, दूसरी ओर उस सफेदपोश वर्ग की भी उपज हूँ जिसकी सफेदपोशी उसकी भंगिमा की पर्याय बन चुकी है। खुले दिल से स्वीकार करना चाहूँगी कि इस वर्ग का तथाकथित व्यवहार, साज–सँवार और उनके नीचे पलती कुंठाओं से कहीं गहरी और पुख्ता मान्यताओं को मैंने इसी ढाँचे में जिया है और आत्मसात् किया है। इसी वर्ग की कोर से टँकी एक खास तरह

की सुधरी व्यवस्था और संयम को भी जाना है जिसका सीधा संबंध पैसे की बहुतायत से नहीं।"[2]

कृष्णा सोबती का बचपन शिमला और दिल्ली के महानगरीय परिवेश में बीता, साथ ही पंजाब से भी आना–जाना लगा रहा – "हाँ यह सच है कि गाँव और शहर की सब खूबियाँ और कमजोरियाँ हममें एक साथ मौजूद हैं। खुलापन तो जी भर कर। शहर का मुलम्मा तो वह भी जी भर।[3]

कृष्णा सोबती व्यक्तिगत आजादी की घोर समर्थक रही हैं। उनकी रचनाओं में यह दृष्टिकोण बार–बार दृष्टिगत होता है। इस व्यक्तिगत स्वतंत्रता ने उनका परिचय अकेलेपन से भी कराया है, जिसे सोबती नियति मान कर स्वीकार करती हैं तथा जिससे उन्हें कोई शिकवा नहीं, "अपनी सीधी सपाट जिंदगी में कुछ ऐसा घटा कि हम न किसी वक्त के दायरे में बँधे न किसी चौखट से, न चौखट के अंदरवाली खुशगवारियों और मजबूरियों से। जो रौनक बरकत एक छोटी दिखने वाली बड़ी दुनिया में आकर, इकट्ठा होती जाती है वह अपने यहाँ गैरहाजिर रही। अपने वक्त को रहने की इमारत ही ऐसी मिली कि जैसे घर न हो – दालान हो। वहाँ न किसी माल असबाब के ढेर लगे न कीमती जिंसो पर ताले पड़े न आँखों के आगे रूमानी चिलमन टँगी और न ही दिलोदीवार पर कोई एक तस्वीर लगी।"[4]

अकेलेपन की यह स्थिति, बकौल सोबती, अनुभवों को और समृद्ध करती है, "बेशक यह स्थिति आपको एक बड़ी दुनिया के सामने उघाड़ती है लेकिन समृद्ध भी करती है। आपमें आत्मविश्वास जगाती है। .....जहाँ व्यक्तिगत चुनावों में आप छूट लेते हैं वहाँ आप अपनी सीमाएँ भी निर्धाति करते चले जाते हैं।"[5] इस अकेलेपन ने उन्हें वह रचना–दृष्टि दी है जिससे वे यथार्थ की पहचान करती हैं। अपनी अर्जित की गई व्यक्तिगत आजादी को उन्होंने खूब जिया है। उनके अनुसार, "जो मिल गया सो मुबारक, जो बिछुड़ा सो रूखसत"[6] यही वजह है कि

एकाकीपन से प्राप्त आत्मविश्वास ने कृष्णा सोबती के स्वभाव को बेफिक्री और मस्त–मौलापन दिया है।

कृष्णा सोबती ने अपने युग की सांस्कृतिक चेतना को आत्मसात् कर निरंतर अपनी कृतियों के माध्यम से युगीन सांस्कृतिक दृष्टिकोण के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, कृष्णा सोबती ने जब लिखना प्रारंभ किया था, वह अस्तित्ववाद को प्रमुखता देने वाला युग था। अस्तित्व एवं अस्मिता जैसे शब्दों को कृष्णा सोबती ने गहरा अर्थ प्रदान किया है। अस्तित्व और अस्मिता के संघर्ष को वाणी प्रदान करती हुई सोबती कहती हैं – "आज हम दोहरी दुनिया में दो स्तरों में जीने के आदी हो चुके हैं, हो रहे हैं। एक दुनिया हमारे अंतर्मन की, अंदर की। दूसरी बाहर की, समाज की। राजनीति और तंत्र की। बाहर से अंदर की ओर पलायन और अंदर से बाहर का अलगाव दोनों के अस्तित्व एक नहीं, दो है। आमने सामने से ही इनमें टकराहटें पैदा होती हैं।"[7]

अस्तित्व या व्यक्ति के निज को सोबती के यहाँ अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान मिला है। अस्तित्व के महत्त्व का स्वीकार उनके यहाँ बार–बार मिलता है – "मैं हूँ। आज अस्तित्ववाद की यह ध्वनि हमारे प्रबुद्ध लोकमानस में व्याप्त सबसे तीखी और तेज आहट है। जहाँ समाज के प्रभुत्व में व्यक्ति की साख समाज का अंग होने में थी, वहाँ आज मानव की चेतना निज की एकांतिकता को सँजोने में थी। इसी के साथ जुड़ी है वह मौन अभिव्यक्ति भी जिसे सामाजिक संदर्भ में हम व्यक्ति की प्रतिष्ठा का नाम देते हैं।"[8] समष्टिगत जीवन एवं व्यक्तिगत जीवन, दोनों की ही महत्ता को सोबती स्वीकार करती हैं। यही वजह है कि उनकी रचनाओं में वैयक्तिक एवं सामाजिक, दोनों ही प्रकार के मूल्यों की स्थापना हुई है।

कृष्णा सोबती की जीवनदृष्टि जीवन को परंपरागत अर्थों में स्वीकार नहीं करती वरन् जीवन से जुड़े हुए यथार्थ को ही वे अपनी रचनाओं का केंद्रबिंदु बनाती हैं। यद्यपि कृष्णा सोबती 'नई कहानी' के अंतिम दौर से एक रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित हुई, पर गौर करने लायक बात यह है कि नई कहानी की

आत्मपरकता वाले समय में भी उन्होंने रचनाकार और भोक्ता के मध्य की दूरी को कायम रखने का प्रयास किया। स्वयं सोबती के शब्दों में "मुझ में एक गहरा ठंडापन है। कभी–कभार लिखने बैठ जाती हूँ तो वह मेरे निकट समूची प्रक्रिया का एक अंग बन जाता है। कुछ भी लिखना मेरे निकट एक गम्भीर और जोखिम भरी स्थिति बन जाती है। इसीलिए मैं अपने लेखक को कभी पटाती नहीं। दाँव पर नहीं लगाती। अपने से हट कर मैं उसे दूसरा व्यक्ति समझती हूँ ओर उसकी इज्जत करती हूँ।"[9] यही वजह है कि सोबती के अपने अनुभवों या विचारों को आधार बना कर उनकी रचनाओं में प्रवेश का मार्ग नहीं मिलता।

किसी भी रचनाकार के लिए लेखकीय तटस्थता वह प्रस्थान बिंदु होता है, जिसके द्वारा रचनाकार, रचना को वस्तुनिष्ठ ढंग से अभिव्यक्त कर सकता है। अज्ञेय ने भी 'शेखर : एक जीवनी' में टी.एस. इलियट के उस आदर्श को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जिसके अनुसार, "भोगनेवाले प्राणी और सृजन करनेवाले कलाकार में सदा एक अंतर होता है और जितना बड़ा कलाकार होता है, उतना ही भारी यह अंतर होता है।"[10] विजयमोहन सिंह के अनुसार, "...अज्ञेय ने इसी उपन्यास की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि यह तटस्थता या निर्वैयक्तिकता उनसे नहीं निभ पाई है। .....शेखर वस्तुओं और घटनाओं को वस्तुनिष्ठ तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित करता है। .....किंतु दिक्कत यह है कि इस प्रक्रिया में वह हमेशा अपने से बाहर नहीं रह पाता जो वस्तुनिष्ठ होने के लिए जरूरी है। वह शशि और अपने संबंधों के प्रति भी वस्तुनिष्ठ नहीं रह पाता। शशि उसे अपने व्यक्तित्व पर साज या धार चढ़ाने वाली 'त्यागमयी स्त्री' लगती है जिसने उसके लिए अपने को होम कर दिया। अतः इस वस्तुनिष्ठता में चुपके से भावनात्मक तरलता उतर आती है और यह विश्लेषण 'भावनिष्ठ' होने लगता है।"[11]

आधुनिक युग में स्त्री–लेखन और दलित लेखन पर भी आत्मपरकता का यह आरोप लगाया जा रहा है। रचना में आत्म कितना होना चाहिए और कितना नहीं, यह बहस का विषय है। 'रामचरितमानस' में तुलसी स्वयं को अभिव्यक्त नहीं

करते, तथा यह 'क्लासिक' की श्रेणी में आता है। दूसरी तरफ 'सरोज स्मृति' या 'राम की शक्तिपूजा' में निराला स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। जब स्रष्टा और भोक्ता के मध्य की दूरी खत्म हो जाती है, तब आत्मकथा का निर्माण होता है। 'नई कहानी' आंदोलन ने आत्मपरक रचनाओं के उभार को अभिव्यक्त किया था। इसके परिणामस्वरूप, आत्मपरकता का प्रभाव इस दौर की रचनाओं में स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित हुआ। कृष्णा सोबती भी 'नई कहानी आंदोलन' के अंतिम दौर से एक रचनाकार के रूप में स्थापित हुई, लेकिन इस घोर आत्मपरकता के दौर में भी उन्होंने वस्तुनिष्ठ एप्रोच अपनाने का प्रयास किया। कृष्णा सोबती की रचनाओं से गुजरने के बाद लोग उनके विषय में जो भी धारणाएँ बना लेते हैं, वे प्रायः गलत साबित हुई। किसी भी रचना की सफलता के लिए दो तथ्य महत्वपूर्ण होते हैं, संवेदना एवं उसके प्रति तटस्थ भाव, जो उसे संप्रेष्य बना सके। रचनाकार के लिए यह आवश्यक होता है कि वह व्यक्तिगत अनुभवों, अपने सुख–दुख को रचना में इस तरह प्रस्तुत करे कि उससे उसका व्यक्तिगत संबंध या लगाव प्रतीत न हो, बल्कि वह साधारणीकृत अर्थात्, सामाजिक तौर पर ग्राह्य बन कर उपस्थित हो। कृष्णा सोबती के यहाँ यह तटस्थता अनायास ही मिल जाती है, इसके लिए उन्हें कोई प्रयास नहीं करने पड़ते, ''..... मेरे सृजन की कुंजी किसी आसक्ति में नहीं। राग प्यार में भी नहीं। निहायत ठंढे विराग में, गहराई से चीजों में डूब कर पूरी तरह उनसे अलग हो जाने में। किसी भी कृति को आँकने बाँधने की यह लंबी दुरूह प्रक्रिया न कभी आसान हुई न बदली।''[12] सोबती की यही तटस्थता उनके लेखन की विश्वसनीयता को बढ़ाती है।

कृष्णा सोबती की रचनाओं में यदि अकेलेपन और स्वतंत्र जीवन–दृष्टि को अभिव्यक्ति मिली है तो वह सामाजिकता की शर्त्त पर नहीं। सामाजिकता एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मध्य एक प्रकार का संतुलन दिखाई पड़ता है सोबती के यहाँ। व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सोबती के लिए एक व्यापक अर्थ वाला शब्द है, ''व्यक्तिगत स्वतंत्रता केवल यौन स्वतंत्रता ही नहीं है। इसकी सीमाएँ बहुत बड़ी हैं। विपरीत टेक पर आप सामाजिक मान्यताओं में सजे–धजे मर्यादा में लेस हो

कर भी वस्त्रहीन दिख सकते हैं।''[13] इसीलिए सोबती के अनुसार – ''आपकी आजादी पर अंकुश वे नहीं जिनकी अपेक्षा दूसरे आप से करते हैं, वे हैं जो आपके अपने विवेक और आपकी स्वतंत्र सत्ता को परिभाषित करते हैं, आपकी विवशताओं को नहीं।''[14]

कृष्णा सोबती, नयी कहानी के लगभग अंतिम दौर में, जहाँ उसकी रूपात्मकता के विरूद्ध विद्रोह शुरू हो रहा था, एक कथाकार के रूप में पहचानी गयी तथा अपनी रचनात्मकता की वजह से ही समकालीन रचनाकारों के मध्य अपनी पहचान बरकरार रखे हुए हैं। लेखन और साहित्य कला के प्रति गहरा सरोकार उनके लेखकीय वजूद का एक अभिन्न अंग है। अपने लेखकीय व्यक्तित्व को परिभाषित करते हुए कृष्णाजी कहती हैं – ''अपनी पहचान खोजने की कोशिश करूँ तो एक मेहनती खुद्दार व्यक्ति की ही तस्वीर उभरती है ..... दशकों पुरानी लंबी दौर में मुझे न किसी को पछाड़ने की हसरत थी और न किसी से पिछड़ने का आतंक।''[15]

कृष्णा सोबती नियमित रूप से छपने वाले रचनाकारों में से नहीं। उनकी रचनाएँ कभी–कभार ही आ पाती हैं, परंतु एक कहानी संग्रह, दस उपन्यास, कुछेक रेखाचित्र संग्रह एवं एक रिपोर्ताज की लेखिका का यह कभी–कभार का लेखन ही उन्हें विशिष्ट बनाता है, क्योंकि यह गहराई में डूबकर किया जाने वाला लेखन है। कृष्णाजी के लेखन पर सामाजिक परिवेश के बदलाव एवं सामाजिक–राजनीतिक परिवर्तनों का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। कृष्णा सोबती मानती हैं कि – ''हमारा प्राणवान अंतःकरण स्वयं अपना साक्ष्य चुनता है और पाठ को प्रामाणिकता की धार पर चढ़ाकर भाषा की मदद से प्रकाशित करता है। जीवन के सघन और सजग को प्रतिभा से उजागर करता है। अपनी–अपनी निजता में अंदर से बाहर और बाहर से अंदर के कोनों से झाँक उन अंधेरों को उजागर करता है – जहाँ देह और आत्मा का मौन पन्नों पर सुरों को प्रभावित करता है।''[16]

कृष्णा सोबती की रचनाओं में पंजाब का लोकजीवन अपनी संपूर्ण गत्यात्मकता के साथ मौजूद है। उनके कथा–साहित्य की विशेषता यह है कि किसी क्षेत्र–विशेष की पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी एक विलक्षण सांकेतिकता द्वारा राष्ट्रीय संस्कृति को ध्वनित करता है। उनकी रचनाओं में न केवल स्थानिकता का आकर्षण है, बल्कि गतिशील राष्ट्रीय चेतना की संपूर्णता भी अनुप्राणित है।

बदलते हुए सामाजिक परिवेश एवं परिदृश्य का प्रभाव कृष्णाजी की कथा–यात्रा के संदर्भ में देखा जा सकता है। शुरूआती दौर की रचना 'डार से बिछुड़ी' (1958) से लेकर 'समय सरगम' (2000) तक कृष्णाजी के रचनाकार व्यक्तित्व ने एक लंबा सफर तय किया है। राजेंद्र यादव के शब्दों में – ''ऊपर से देखने पर उनकी हर रचना के बीच चाहे जितना अंतर और अंतराल लगे, लेकिन जरा गहराई में जा कर देखने पर मुझे लगता है कि उनके पास एक निश्चित थीम है जो हर रचना में विकसित हुई है, आगे बढ़ी है। ..... वह है, नारी का क्रमशः स्वतंत्र होता हुआ व्यक्तित्व, उसका चीज से व्यक्ति और फिर व्यक्तित्व बनना।''[17]

यदि गौर से देखा जाए, तो पाशो से लेकर मित्रो, रत्ती, महक और आरण्या तक का सफर सोबती की कलम ने एकाएक तय नहीं किया, बल्कि उसके लिए सरजमीन तैयार की बदलते हुए सामाजिक परिदृश्य ने। पाशो के डरे–सहमे व्यक्तित्व के पीछे स्वातंत्र्योत्तर भारत की उस स्त्री–लेखिका के सर्जनात्मक व्यक्तित्व का हाथ है, जो उस समय तक अपनी आकांक्षाओं को स्वर देने में असमर्थ थी, एवं जिसके अंदर स्वयं के नारी होने के भाव को लेकर झिझक थी। स्वतंत्रता के पश्चात् शिक्षा के प्रचार–प्रसार एवं आर्थिक अवसरों की उपलब्धि ने स्त्री को पुरुष की बराबरी में खड़ा होने का मौका दिया। नारी अब परदे के पीछे छिपने वाला व्यक्तित्व नहीं थी, वरन् पुरुष के साथ सभी क्षेत्रों में कंधे से कंधा

मिला कर चलने को तैयार थी। नारी के इस बेधड़क एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व को वाणी मिली है 'मित्रो मरजानी' की मित्रो में।

मित्रो, पाशो की प्रतिक्रिया में उपस्थित होती है। उसे देहरस को खुल कर जीने में कोई ऐतराज नहीं। एक कस्बे की पैदाईश होने के बावजूद मित्रो में वह ठसक है जो तमाम शहराती महिलाओं को ठेंगा दिखा दे। मित्रो के लिए न तो नैतिक वर्जनाएँ कोई मायने रखती हैं, ना ही सामाजिक रूढ़ियाँ। उसकी तमाम हरकतों का संचालक है उसका मन, लेकिन जहाँ जरूरी है, वहाँ वह बुद्धि का सहारा लेने से भी नहीं चूकती। मित्रो का चरित्र, 'तिन पहाड़' की भावुक जया एवं 'बादलों के घेरे' कहानी की मन्नो के चरित्र का निषेध ही है। फिर आती है रत्ती, जिसके पास एक तरफ तो लहूलुहान बचपन की स्मृतियाँ हैं, तो दूसरी तरफ स्वयं को संपूर्ण स्त्री के रूप में पाने की ख्वाहिश। रत्ती स्वयं को उबारती है, एवं एक मजबूत, कद्दावर औरत के रूप में हमारे सामने आती है। क्या मित्रो एवं रत्ती, कृष्णा सोबती की कलम से निकले असामान्य चरित्र हैं? विशेषकर मित्रो का आगमन तो हिंदी साहित्य के इतिहास में एक गंभीर अनुगूँज के रूप में दर्ज किया जा सकता है। मित्रो जैसे चरित्र को जस्टीफाई करते हुए राजेंद्र यादव कहते हैं – "...सुनते हैं कृष्णाजी ने बहुत पहले कभी इलाहाबाद की एक कथा–गोष्ठी में भारतीय नारी के त्याग–तपस्या का कीर्तन करनेवाले हिंदीवालों के बीच गुस्से से कहा था, 'आप यू.पी. वाले लोग क्या जानें पंजाब की जिंदगी क्या थी, और पंजाबी चरित्र क्या होता है? आपके यहाँ तो पंजाबी औरत आई ही नहीं। लुटे–पिटे, सकुचाए–हारे शरणार्थी आए और उन्हें देखकर ही आपने तय कर लिया कि यही शायद पंजाब है। अपनी कुण्ठाओं और फ्रस्ट्रेशन में आपने उन पर कुछ कहानियाँ लिख डालीं। मेहनत और स्वतंत्रता के बीच पली पंजाबी औरत जब सीना तानकर खड़ी होती है तो आप जैसों के तो पसीने छूट जाएं।"[18]

मित्रों के बाद, कृष्णाजी महकबानो, छुन्नाबीबी एवं आरण्या जैसे मजबूत, आत्मविश्वासी नारी पात्रों को प्रस्तुत करती हैं, जिनके लिए अपने अस्तित्व की

सुरक्षा का प्रश्न अहम होकर उभरता है। वकील साहब की आश्रिता रखैल महकबानो वकील साहब की उपेक्षा और बेरूखी को ताउम्र नहीं झेलती, बतिक खाँ साहब के संरक्षण को स्वीकार कर लेती है। समाज एवं बिरादरी के भय तले वह अपनी अस्मिता को कुर्बान नहीं करती। वह लड़ती है, तमाम जड़ रूढ़िगत परंपराओं से, पितृसत्तात्मक सामाजिक मूल्यों से, एवं स्वयं के लिए एक सुरक्षित आधार खोजने का प्रयास करती है। छुन्नाबीबी का चरित्र तो महकबानो से भी ज्यादा आकर्षक बन पड़ा है। विधवा होने के पश्चात् छुन्ना अपने तमाम गहने लेकर मायके चली आती है। लेकिन वहाँ भी घरवालों की बेरूखी देखकर आत्मनिर्भर बनने का प्रयास करती है, एवं पुनर्विवाह का साहस भी दिखाती है। समाज द्वारा निर्धारित किए गए विधवा–जीवन के मानदण्डों को वह एक सिरे से खारिज कर देती है। 'दिलोदानिश' का प्रकाशन काल है '1993' तथा 'ऐ लड़की' का 1991, यदि ध्यान दें, तो नब्बे के दशक से भारतीय साहित्य–जगत में नारीवादी लेखन का आरंभ हो चुका था। 'ऐ लड़की' की लड़की, तथा 'समय सरगम' की आरण्या, या 'दिलोदानिश' की महक, इन तीनों में कोई न कोई साम्य जरूर है। महक, जिस अस्तित्व की सुरक्षा के प्रश्न को लेकर चिंतित है, 'ऐ लड़की' की लड़की में सुरक्षा का यह प्रश्न अधिक स्पष्ट होकर उभरा है। आरण्या, तक आते–आते सोबती की कलम एक पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर, आत्मसजग एवं खुद्दार औरत की तस्वीर प्रस्तुत करती है, जिसे परंपरागत सामाजिक संस्थाओं के बाहर रह कर भी जीवन से कहीं कोई शिकायत नहीं है।

इस प्रकार, यह देखा जा सकता है कि सामाजिक परिदृश्य के बदलाव का प्रभाव कृष्णा सोबती की रचनाओं पर पड़ा है। पाशो से लेकर आरण्या तक की यात्रा में, कृष्णा सोबती ने नारी की विकसित होती हुई चेतना को दर्शाया है।

(ख) कृष्णा सोबती की रचनात्मक चिंता

"जिन जोखिम, खतरों और चुनौतियों से आज का लेखक और लेखन दोनों घिरे हैं, उनमें हर कलम को अपने को याद दिलाते चले जाना बहुत जरूरी है कि लेखक से बड़ा लेखन है और लेखन से भी बड़े वे मूल्य हैं, जिन्हें जिंदा रखने के लिए इन्सान बराबर संघर्ष करता आया है, बड़ी से बड़ी कीमत चुकाता आया है।"[19]

कृष्णा सोबती का उपरोक्त कथन उस लेखकीय धर्म को इंगित करता है, जिसका मानवीय मूल्यों से गहरा सरोकार है। सोबती की गहन अंतर्दृष्टि लेखकीय रचना धर्म को अच्छी तरह पहचानती है – "लेखक सिर्फ निज की लड़ाई नहीं लड़ता। न अपने दुख–दर्द और हर्ष विषाद का ही लेखा–जोखा प्रस्तुत करता है, ...उसे लगातार उगना होता है – हर मौसम, हर दौर में, इतिहास के फैसलों और फासलों के साथ, जिंदगी के व्यापक सरोकार के साथ।"[20]

लेखक की सृजनात्मक मानसिकता, साक्षात्कार परिस्थितियों, अंतर्दृष्टि, साधना, जीवनानुभवों और अवचेतन के व्यापार से बनती है। सृजन प्रक्रिया एक प्रच्छन्न और अवचेतन प्रक्रिया है, जिसके बारे में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सृजन प्रक्रिया सृजन प्रेरणा के एक बिंदु से शुरू होती है जो यथार्थ–दर्शन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है तथा जिसके लिए कलाकार का तटस्थ रहना आवश्यक है ताकि वह रचना में अपने–आपको लीन और विसर्जित कर सके। सोबती की रचनादृष्टि में यह तटस्थता अनिवार्य रूप से विद्यमान है, जैसा कि उन्होंने कहा है, सृजन की यह कुंजी किसी आसक्ति में नहीं, बल्कि ठंडे विराग में है। बकौल सोबती, "लिख डालने के पश्चात् मेरा रिश्ता मेरे लेखक से बिल्कुल ठंडा हो जाता है। एक–दूसरे को जी चुकने के बाद हम साझी दिशाएँ छोड़ देते हैं। एक–दूसरे के रास्ते से हट जाते हैं। कुछ ऐसी आखिरत का भाव कि बीच में जो कुछ भी था – खत्म हो चुका। शेष हो चुका।"[21]

कृष्णा सोबती ने ज्यादा नहीं लिखा है। कम लिख कर भी उनका लेखन विशिष्ट है। उनके बहुआयामी रचनाशीलता के पीछे हैं वह पैनी दृष्टि, जो एक–एक शब्द को नाप–तौल कर प्रयुक्त करती है। सोबती को लिखने की कोई हड़बड़ाहट नहीं होती, "एक जालिम–सी तटस्थता दिल–दिमाग पर कब्जा किए रहती है। .....यही वजह है कि एक बहुत बड़ा वक्त खाद बन कर रह गया। बरसों कोई रचना उगने का नाम नहीं लेती।"[22] अनुभवों को आत्मसात कर, अपने आसपास के वातावरण का सूक्ष्म विश्लेषण कर उसे रचना का रूप प्रदान करने की प्रक्रिया सोबती के यहाँ काफी लम्बी है।

कृष्णा सोबती ने अपनी बहुआयामी रचनाशीलता के द्वारा हिंदी कथा साहित्य को समृद्ध किया है और संस्कृति, संवेदना और भाषा–शिल्प की दृष्टि से हिंदी–साहित्य को एक नई व्यापकता प्रदान की है। हिंदी भाषा को जनसामान्य की भाषा के नजदीक ले जाना कृष्णा सोबती भाषा की समृद्धि के लिए जरूरी समझती हैं, "हिंदी की खूबी उसके लोक–भाषा होने में है केवल अभिजात की ओढ़ी हुई गरिमा में नहीं। अगर हिंदी किसी प्रदेश विशेष या धर्म–वर्ग की भाषा नहीं तो उसे अपने संस्कार को विस्तृत और व्यापक करना होगा।"[23]

भाषा को लोक के करीब ले जाने की सोच कृष्णा सोबती के यहाँ बराबर विद्यमान है, "भाषा का सहजसिद्ध स्वाभाविक रूप 'लोक' के सांस्कृतिक संस्कार में निहित होता है। लेखक जितनी गहराई में उसे समझता–देखता है, वह उतना ही पारदर्शी पाठ प्रस्तुत करने की सामर्थ्य रखता है।"[24]

सोबती के लिए सृजन का मतलब पांडित्य का प्रदर्शन नहीं। जो रचनाकार निज के घेरे से बाहर नहीं निकल सके, और व्यक्तिगत चिंताएँ ही जिसकी सीमा हो, वह जीवन के व्यापक सत्य से कभी साक्षात्कार नहीं कर सकता। रचना के लिए अत्यावश्यक है, "लेखकीय मन की विश्लेष्णात्मक, आत्मीयता, बेखौफी और तराश। बौद्धिक कुढ़न की चुनचुनाहट और झुंझलाहट नहीं।"[25] सोबती रचना की सफलता में शिल्प के महत्त्व को तो स्वीकार करती है, परंतु शिल्प को ही सफलता

की कसौटी मात्र नहीं मानती सृजन की प्रेरणा के सम्बन्ध में सोबती यह सोचती हैं कि, "रचना न बाहर की प्रेरणा से उपजती है न केवल मात्र रचनाकार के मानसिक दबाव और तनाव से। रचना और रचनाकार दोनों अपनी–अपनी स्वतंत्र सत्ता में एक दूसरे का अतिक्रमण करते हैं और एक हो जाते हैं। इसी के साथ लेखक पर रचना की शर्तें लागू हो जाती हैं और रचना पर लेखकीय संयम और अनुशासन की।"[26]

कृष्णा सोबती ने अपने कथासाहित्य में जहाँ एक तरफ सामाजिक मूल्यों की टूटन को चित्रित किया है, वहीं दूसरी ओर उसके समाधान का प्रयास भी किया है। एक सच्चा रचनाकार, उनके अनुसार, अपने समय का सच्चा इतिहासकार होता है, "रचनाकार ही समय की लीक को अंकित करता है और अनजाने ही उसे व्यापक संदर्भों से जोड़ता भी चला जाता है।"[27] सोबती के यहाँ संवेदना इतनी गहन है कि वह जिंदगी के ऐन बीचोंबीच गुजरती है। संघर्षशील, हारकर भी न हारने वाला ही उनके सृजन का केंद्रबिंदु है।

कृष्णा सोबती सृजनधर्मिता का उद्देश्य व्यापक सत्य की खोज को मानती हैं। उनका मानना है कि रचनाकार को जीवन के सम तथा विषम दोनों पक्षों का चित्रण बगैर किसी राग या विराग के करना चाहिए। उनके अनुसार, "लेखक को न तो स्वर्ग के नाम पर कुछ अंकित करना है, न नरक के डर से, उसे खरी नजर से जिंदगी को जीनेवालों को पढ़ना और कलम से उकेर कर सत्य को चुनते चले जाना है।"[28]

किसी भी रचनाकार के लिए हर नई रचना एक नये जन्म के समान होती है। हर बार पिछली कमियों को दूर कर नई संभावनाओं को तलाशने के लिए आती है नई रचना, "हर नई रचना मेरी कमियों का कड़ा इम्तहान ले कर मुझे लिखने के लिए नया व्याकरण देती है। नई भाषा और शैली भी। समूचे रूप में अंतर्दृष्टि का स्वामी मुझ जैसा लेखक नहीं होता – उसके साथ आ जुटती हैं रचना की अपनी संभावनाएँ। प्रत्याशित को अव्यक्त और अमूर्त को व्यक्त करने के

लिए रचना और रचनाकार बराबर के भागीदार बन जाते हैं।''[29] यही वजह है कि सोबती की रचनाओं में उनके अनुभवों और विचारों के प्रवेश की गुंजाईश अल्प मात्रा में ही मौजूद है। यथार्थ जीवन का विविधात्मक चित्रण ही सोबती की रचनाओं की प्रेरक अंतर्वस्तु है।

कृष्णा सोबती का रचनाकर्म यथार्थबोध से निःसृत है, जिसमें युगीन संवेदनाओं और सामाजिक–राजनीतिक हलचलों को महसूस किया जा सकता है। सामाजिक यथार्थ को जीवन से जोड़ने की कला सोबती के लेखन की विश्वसनीयता को बढ़ाती है। रचना में सामाजिक यथार्थ की उपस्थिति को वे अनिवार्य मानती हैं। उनके अनुसार, ''दोस्तों, जब हम यथार्थ को नकारते हैं तो पलट कर अंतर के अछूते अकेलेपन में हम एक काल्पनिक मनमाना कोमल सतरंगी संसार बनाने लगते हैं। इसे काव्यमयी भाषा में कला का सम्मोहक एकालाप कहते हैं। गहरी आत्मलीन कलम से जब हम स्पर्श और अनुभूति का एक सौंदर्य–संसार रचते हैं तो वह सहसा खुरदुरे यथार्थ से कहीं ज्यादा आत्मीय लगने लगता है। व्यक्ति के उत्पीड़न, शोषण, निर्वासन और अकेलेपन पर कोई भी संवाद अगर बाहर से कटा हुआ है तो बौद्धिक स्तर पर इन गुत्थियों को सुलझाने के नाम पर आप केवल पलायन का दर्शन फैलायेंगे।''[30] इसी संदर्भ में वे निर्मल वर्मा की रचना दृष्टि के विषय में अपना विचार प्रकट करती हैं – ''सोचा कि निर्मल से कहते जाएँ कि प्यारे दोस्त, शाम भले कन्सर्ट पर जाओ, बीथोविन सुनो, रविशंकर, अली अकबर खाँ – मगर जो तुम्हारी गली में थूथनी उठाए सुअर घूम रहे हैं, उन्हें भी तो देखो। कुछ और करो। तुम्हारी लाजवाब कलम से कोई यथार्थ तो उभरे। कोई एक यथार्थ। जिंदगी से जिंदगी तक जुड़ा हुआ।''[31]

कृष्णा सोबती अपनी रचनाओं में सामाजिक यथार्थ के निर्वाह में अपने विचारों को कमजोर नहीं पड़ने देती। जीवन और लेखन के मध्य होने वाली अंतःक्रिया को उन्होंने समझा है और यही समझ उनके लेखन को एक सशक्त और व्यापक आधार प्रदान करती है। सोबती के अनुसार, ''छोटी–बड़ी हदबंदियों

के बावजूद साहित्य ही वह व्यापक साझेदारी है, जिसमें कोई भी अनुभव व्यक्ति की निज की चिंताओं से ऊबर कर अपने को एक व्यापक संदर्भ से जोड़ता है।"[32]

कृष्णा सोबती के रचनाकर्म की बुनियादी चिंताएँ न तो व्यक्ति के अंतर्मन के साक्षात्कार तक सीमित हैं ना ही बाह्य परिवेश के स्थूल विवरणात्मक दृश्य चित्रित करने तक। सोबती की रचना का केंद्रबिंदु है भारतीय समाज तथा इसमें आ रहे बदलाव। सोबती के अनुसार, "लेखक को एक साथ हजार रंग और हजार आँख होना होता है – सुरक्षित रखते हुए उसे जो उसका आंतरिक रंग है, मिजाज है, मौसम है, जो दूर गहरे में उसके स्वभाव में रचा–बसा है। वही अपने संवेदन विशेष से रचना द्वारा छूता है, सूँघता है कि तल्खी कहाँ है, विरोधी ताकतों की कशमकश और टकराहट कहाँ है? दर्द और आक्रोश क्यों है? विद्रोह और विसंगतियाँ असली हैं या मात्र मुखौटे हैं?"[33]

कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यासों और कहानियों के लिए जिस तरह के कथानकों की सृष्टि की है, वे भारतीय समाज के विस्तृत चित्रफलक को प्रस्तुत करते हैं। स्वतंत्रतापूर्व तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक संरचना, सामाजिक संवेग और उसकी नियंत्रक शक्तियों के विविधतापूर्ण चित्र उनके कथा–साहित्य में शामिल हैं।

कृष्णा सोबती की कथा–यात्रा की शुरूआत पंजाब के जनसमाज के चित्रण से होती है, जिसमें उत्तरोत्तर अन्य समाज भी शामिल होते चले गए हैं। उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, तथा निम्न वर्ग, समाज के तीनों ही वर्ग अपनी परिवेशगत संपूर्णता के साथ सोबती के यहाँ मौजूद हैं। वस्तुतः औपनिवेशिक भारत की टूटती सामंती व्यवस्था से लेकर स्वातंत्र्योत्तर भारत की बदलती सामाजिक व्यवस्था को उसकी संपूर्ण गत्यात्मकता के साथ अपनी रचनाओं में उकेरने का प्रयास सोबती ने किया है।

कृष्णा सोबती का लेखन वैविध्यपूर्ण है, जिसमें कई तरह के मूड और शेड हैं। एक तरफ तो सोबती रूमानी भावुकतापूर्ण कहानियाँ, 'बादलों के घेरे' या 'तिन

पहाड़' की रचना करती हैं, तो दूसरी ओर नितांत यथार्थवादी स्तर पर संबंधों को व्याख्यायित करने वाली कृतियाँ, जैसे "सूरजमुखी अँधेरे के', 'यारों के यार', 'मित्रो–मरजानी', और 'जिंदगीनामा' को सामने लेकर आती हैं। देश विभाजन की त्रासदी को सोबती ने नजदीकी से देखा और महसूस किया है। सोबती "सिक्का बदल गया", एवं 'डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा', जैसी कहानियों द्वारा विभाजन के बाद की त्रासद स्थितियों को रेखांकित करती हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन शैली में आए परिवर्तन को सोबती ने उकेरने का प्रयास किया तथा इस बदलाव को लोकमानस की कसौटी पर कस कर देखा है, "परिवर्तन लगातार होते रहते हैं और अपने बदलाव के संदर्भ में लोकमानस की कसौटी पर खरे हो कर टिकते चले जाते हैं। क्षोभ हलचलें, सामाजिक–राजनैतिक टकराहटें, जुड़ने–भिड़ने की स्थितियाँ लगातार समय से संवाद स्थापित करती रहती हैं और सजगता से साहित्य में रेखांकित होती रहती हैं।"[34] सोबती की रचनाओं का केंद्रबिंदु यद्यपि पंजाब की जनसंस्कृति रही है, इसके बावजूद उनकी कृतियाँ पूरे देश के फैलाव को समाहित किये हुए हैं। उनके ऊपर 'क्षेत्रीयता' जैसे शब्द नहीं चस्पा किए जा सकते। सोबती के अनुसार, ".....हर किसी का देश उसके अंदर और बाहर फैला रहता है। यही अपनी गँध, गरिमा, गुण से अपने निवासियों में मुखरित होता रहता है, उजागर होता चला जाता है। हम नहीं भी रहते नहीं भी होते–तब भी। देश ही आपकी आत्मा में कविता, दर्शन, चिंतन, संगीत बन कर प्रवाहित होता है।"[35]

सृजन–यात्रा में भाव–बोध और विचार दृष्टि की तीव्रता जितनी पैनी और धारदार होती है, साहित्य के आयाम उतने ही सजीव और प्राणवान बन कर उभरते हैं। यह सोबती की लंबी अनुभव यात्रा का ही परिणाम है कि उन्होंने विविध कृतियों के माध्यम से बहुआयामी रचनाशीलता का परिचय दिया है। निर्वैयक्तिक तथा निरपेक्ष दृष्टिकोण को सोबती किसी भी लेखक के लिए महत्त्वपूर्ण मानती हैं। सोबती के अनुसार, "किसी भी तरह की पक्षधरता जहाँ लेखक की वयस्क टटोल को सक्रिय करती है, वहीं वह जीवन से जुड़े–घिरे लोकतत्त्वों के स्वीकार के आड़े भी आती है। .....लेखक के पास अगर देने के लिए कोई वक्तव्य है, तो वह वक्तव्य

केवल मात्र उसका नहीं, उसकी रचना से जुड़े दूसरे साझीदारों का भी है।"[36] सामाजिक संस्थाओं के प्रति एक तरह की मोहबद्धता कृष्णा सोबती के यहाँ दिखाई पड़ती है। घर–परिवार, विवाह इत्यादि जो सामाजिक संस्थाएँ अन्य नारीवादी लेखिकाओं के यहाँ विघटित होती दिखाई देती हैं, वे सोबती के यहाँ अपनी सम्पूर्णता में मौजूद हैं। सोबती इन संस्थाओं को रूढ़ मान्यताओं और जड़ परम्पराओं से परे ले जा कर उनके महत्त्व की परीक्षा करती हैं। संयुक्त परिवार तथा उनका स्थानापन्न बने एकल परिवारों तथा व्यक्ति और समाज पर उनके प्रभाव को भी सोबती की रचना–दृष्टि बखूबी विश्लेषित करती है। सोबती के शब्दों में – "संयुक्त परिवार जो हमारे सामाजिक ढाँचे की रीढ़ रही है, टूटने की चपेट में है और इनके साथ ही चमक खो चुकी है भारतीय संबंधों की सघनता और घनत्व। इन दबावों के सामने इस पुरानी प्रथा को दुबारा ताजा दम करना मुश्किल होगा। इसने जहाँ भारतीय जीवनशैली को सुरक्षा की चौखट दी थी, वहाँ व्यक्ति से उसकी फैसला करने की अपने निर्णय लेने की क्षमता छीन ली थी।"[37]

बावजूद इसके, सोबती के कथा–साहित्य में संयुक्त परिवार कई जगहों पर मौजूद हैं, अपनी तमाम बारीकियों के साथ, जो टूटती हुई परंपराओं और लोकरीतियों की प्रासंगिकता को उभारने या चर्चा का विषय बनाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। 'डार से बिछुड़ी', 'मित्रो मरजानी', 'दिलोदानिश' जैसे उपन्यास और 'दादी अम्मा' जैसी कहानियों में परम्परागत संयुक्त परिवार तथा उसमें व्यक्ति की स्थिति पर विचार किया गया है। पारिवारिक विघटन का आरंभ यद्यपि प्रेमचंद के समय से ही आरंभ हो चुका था, लेकिन उस समय के साहित्य में यह विघटन यथार्थ रूप में उभर कर नहीं आया। राजेंद्र यादव के शब्दों में, "परिवार का परंपरागत ढाँचा प्रेमचंद के समय में ही टूट गया था और परिवार की परिभाषा वह नहीं रह गई थी जो अभी तक समझी जाती थी। .....संयुक्त परिवार की ऐतिहासिक आवश्यकता समाप्त हो चुकी है, स्वयं प्रेमचंद को यह समझने में कम समय नहीं लगा। .....प्रेमचंद ने 'शांति', 'बड़े घर की बेटी', और 'शंखनाद' की जिद को

'सुजानभगत', 'सवा सेर गेहूँ', और विशेष रूप से 'गोदान' में एकदम छोड़ दिया और स्वीकार किया कि (संयुक्त) परिवार को टूटना ही है।[38]

नारी मुक्ति आंदोलन की दृष्टि से साठ का दशक, विश्व इतिहास में एक अलग ही महत्त्व रखता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् वैश्विक व्यवस्था में जबर्दस्त परिवर्तन आए। औद्योगिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास ने नैतिकता और मर्यादा के सभी प्रतिमानों में परिवर्तन किया। विवाह, तलाक, सेक्स और प्रेम के प्रतिमान बदलने लगे। बदलते हुए सामाजिक वातावरण ने स्त्री–पुरुष संबंधों में भी परिवर्तन लाया। कभी डॉ. राधाकृष्णन ने स्त्री–पुरुष संबंध के लिए कहा था, ''स्त्री–पुरुष सम्बन्ध की आधारशिला यही है कि पुरुष और स्त्री केवल एक शरीर ही नहीं, अपितु एक आत्मा हैं।''[39] लेकिन बदलते हुए जीवनमूल्यों ने सबसे अधिक जिस मानवीय सम्बंध को प्रभावित किया है, वह है स्त्री–पुरुष सम्बंध। कृष्णा सोबती ने स्त्री–पुरुष संबंधों में आ रहे इस बदलाव को बखूबी अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है।

नारीवाद के प्रभाव के परिणामस्वरूप कई महिला रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व का चित्रण, पुरुष के विरूद्ध ही नहीं, बल्कि सामाजिक और पारिवारिक ढाँचे के विरूद्ध करते हुए किया है। लेकिन घर–गृहस्थी के प्रति प्रेम और आस्था ने सोबती के पात्रों को सभी अतिवादों से क्या रखा है। सोबती के नारी पात्रों की मूल चिंता घर–गृहस्थी की सीमाओं में सम्मान के साथ सुख भोगने की, समान भागेदारी की है, न कि विद्रोह के लिए विद्रोह की। चाहे वह 'मित्रो मरजानी' की मित्रो हो, या फिर 'दिलोदानिश' की कुटुम्ब और महक, ये सभी पात्र परिवार में सुख और शांति के लिए तथा उसमें अपनी भागीदारी के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। घर–परिवार के पुराने ढाँचे को नई आवश्यकताओं के अनुसार पुनर्गठित करने का प्रयास भी सोबती के यहाँ मिलता है। सोबती के नारी पात्र स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं प्रगतिशील विचार के बावजूद भी यदि घर–विवाह इत्यादि सामाजिक संस्थाओं के प्रति यदि लगाव

रखते हैं तो इसका सम्बन्ध कहीं न कहीं कृष्णा सोबती के व्यक्तित्व के उस पक्ष से है जो घर–परिवार के प्रति चाव रखता है। सोबती के शब्दों में, "अगर कभी हमें अपनी गृहस्थी जुटानी होती तो घर में सबसे पहले लगता तंदूर। मिट्टी के बर्तनों की लगती कतारें। थालियों में गूंथती मैं आटा। चंगीरों में रखती थी – सनी रोटियाँ। और सोंधी गंधवाले सालन पकाती मैं हंडियाँ में। मेरे घर में दूध बिलोने की चाँटियाँ होतीं। पानी भरने को घड़े। बैठने को होती राँगली पीढ़ियाँ और पसरने को होती सूत की मँजियाँ।"[40]

कृष्णा सोबती ने अपने लेखन में पुरुष वर्ग को अपराधी या दोषी बता कर औरतों की दुःरावस्था का वर्णन नहीं किया है। राजेंद्र यादव के अनुसार, "उन्होंने शायद ही अपने किसी लेखन में आदमी को अपराधी या गलत बता कर औरत की स्थिति का वर्णन किया हो या उसके व्यक्तित्व और नियति के लिए पुरुष को जिम्मेदार माना हो।"[41] सोबती के स्त्री पात्र परिवार, पुरुष और मातृत्व का विरोध करते नहीं दिखते और परिवार के बीच ही अपनी सार्थकता ढूँढते प्रतीत होते हैं। राजेंद्र यादव के अनुसार, "पुरुष पात्रों के प्रति जिस तरह का दुलार–भरा सम्मान उनकी नारियाँ अपने में पाती हैं, उसे देख कर लगता सिर्फ इतना है कि मानवीय लगाव के प्रति उनके मन में गहरी, बहुत गहरी आस्था है।"[42]

कृष्णा सोबती ने मात्र एक स्त्री नहीं, बल्कि एक व्यक्ति की दृष्टि से अपनी रचनाओं को प्रस्तुत किया है। साहित्य एवं सृजन–संदर्भ में किसी प्रकार का बँटवारा सोबती को गवारा नहीं, "लेखक औरत हो या मर्द, कलात्मक संदर्भ में दोनों की आदिम खूबियाँ और खामियाँ, सामर्थ्य और सीमाएँ एक–दूसरे की विरोधी नहीं–पूरक हैं। साझेपन में ही वे उभरती हैं। .....शारीरिक गढ़न और सेक्स के नाम पर नारी लेखन और पुरुष लेखन को अलग–अलग खाँचों में बिठाने से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है व्यक्तित्व की कुल जमा पूँजी की पड़ताल जो लेखक अपनी खोज और अनुभव के बल पर अर्जित करता है।"[43]

(ग) **कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य**

TH-15176

Jawaharlal Nehru University Library

कृष्णा सोबती उन स्वातंत्र्योत्तर रचनाकारों में एक विशिष्ट स्थान रखती हैं जिनका कथा–साहित्य भारतीय समाज के जीवन के विविध भाव–स्तरों तथा वैचारिक धरातल को समाहित किए हुए हैं। सोबती सामाजिक प्रगति की पक्षपाती है तथा अपने कथा–साहित्य में उन्होंने झूठी परंपराओं, परंपरागत रूढ़ियों तथा जड़ सामाजिक मानदण्डों को तोड़ने का कार्य किया है। अनुभूत प्रामाणिक यथार्थ को अभिव्यक्त करना सोबती के कथा–साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। नई बदलती स्थितियों में मानवीय संबंधों में आ रहे बदलाव तथा जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ को उन्होंने अपनी रचनाओं का विषय बनाया है।

कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य यदि एक तरफ पंजाब की जमीन का खुलापन और मस्ती समेटे हुए हैं तो दूसरी तरफ शहरी जीवन का सलीका और व्यक्तित्व की शान। यदि परिवार और पारिवारिक संबंधों की सुरक्षा का प्रश्न उनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है तो दूसरी ओर अस्तित्व की सुरक्षा का प्रश्न भी उतना ही अहम हो उठता है। सोबती ने यदि एक तरफ सामंती समाज में स्त्री की असहाय अवस्था को रचना का विषय बनाया है तो दूसरी तरफ बेईमान और भ्रष्टाचारी समाज के मुँह पर से नकाब उठानेवाली रचनाएँ की हैं।

कृष्णा सोबती की कहानियाँ एक व्यापक जीवनदृष्टि को समाहित किए हुए हैं। उनकी कहानियाँ कई different moodes और shades की हैं, जिसकी वजह से उन्हें सामान्यीकृत या कैटोगराइज नहीं कर सकते। सोबती की आरंभिक कहानियाँ 'लामा' और 'नफीसा' बाल–मनोविज्ञान को केंद्र में रख कर लिखी गई हैं। 'लामा', 'नफीसा' और 'टीलो ही टीलो' में रचना का केंद्रबिंदु है मृत्यु तथा मृत्यु से प्रभावित होते बच्चों की मनोस्थिति। इन तीनों कहानियों में मृत्यु को भिन्न तरह से प्रस्तुत किया गया है। 'नफीसा' कहानी में नफीसा मर रही होती है, पर वह इस तथ्य से उस दिन तक अनभिज्ञ है जिस दिन तक उसकी मृत्यु नहीं हो जाती। 'लामा' कहानी में भी बच्चे मौत का परिणाम नहीं जानते और लामा के वापस आने का इंतजार करते रहते हैं। 'टीलो ही टीलो' में सोबती ने बच्चों को मानसिक तौर पर

कुछ परिपक्व दिखाया है जो कि पप्पी की मृत्यु की खबर को उसके घर करने से घबराते हैं।

कृष्णा सोबती की 1948 से लेकर 1951 तक की कहानियाँ देश–विभाजन एवं भारतीय गणतंत्र के चरित्र को ध्यान में रख कर लिखी गई हैं। ''सिक्का बदल गया'' उस देश–काल को प्रस्तुत करती है जब मानवता को गहरी चोट लगी, मानवीय मूल्यों का विघटन हुआ और वर्षों से पलते आपसी सम्बंध एक झटके में टूट गए। शेरा, जिसे शाहनी ने पाल पोस कर बड़ा किया है, वही आज उनकी हवेली लूटना चाहता है। शाहनी, जिसे अपना सब कुछ छोड़ कर, हिंदुस्तान आना पड़ता है मगर जिसके प्राण वहीं अटके हैं, जहाँ वह फिर लौटना चाहती है। राजनैतिक दृष्टि से सिक्के बदल जाने से मानवीय मूल्य भी निरर्थक हो गए। शाहनी मानवीय मूल्यों के सिक्के बदल जाने से दुखी है। सिक्का यहाँ सत्ता का प्रतीक है।

'मेरी माँ कहाँ' कहानी में विभाजन के बाद अपनी जमीन से उखड़े प्रायः हर व्यक्ति के दुख को रेखांकित किया गया है, जब एक अजीब सी उदासी और निरर्थकता का बोध सर्वत्र व्याप्त था। पारस्परिक विश्वास और सद्भावना लुप्त हो गई थी। संदेह और अनिश्चय की इस स्थिति के लिए जिम्मेदार था विभाजन से उत्पन्न भय और दहशत। यहाँ बच्ची को देख कर खान के भीतर का इन्सान जाग उठता है। क्रूरता और बर्बरता की अंतिम स्थिति तक पहुँचने के बाद एक बार इंसान के भीतर के हृदय के जाग उठने की कहानी है यह।

'खम्माघणी अन्नदाता' में भारतीय गणतंत्र की घोषणा है जहाँ अन्नदाता तो बने रहे, लेकिन शासन का अधिकार जनता के हाथों में चला गया। शासकों के मानसिक द्वंद्व को अत्यंत कुशलता के साथ चित्रित किया गया है।

'आजादी शम्मोजान की' में आजादी और सामाजिक व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य किया गया है। शम्मोजान और मुन्नीबाई जो वेश्याओं के एक वर्ग का

प्रतिनिधित्व करती हैं, के लिए देश की आजादी का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि यह आजादी उनके लिए कोई आजादी ले कर नहीं आती।

'गुलाबजल गंडेरियाँ' में भी वेश्याओं के जीवन का यथार्थ वर्णन है। धन्नो जब तक जवान थी, लोग आते–जाते रहें, लेकिन उम्र के आखिरी पड़ाव पर उसके पास कोई नहीं। पानी की एक बूँद के लिए भी वह तरस जाती है।

कृष्णा सोबती की 1951 से 1953 तक की कहानियाँ चरित्रों, उनकी व्यथा और असमंजस को प्रस्तुत करती हैं। जबकि 1953 से 1959 तक की कहानियाँ प्यार और परिवार को केंद्र में रख कर लिखी गई हैं जब व्यक्तिवाद और अस्तित्ववाद की अनुगूँज गहरे तक सुनाई दे रही थी। अंतिम दौर की कहानियों में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति की प्रधानता दिख पड़ती है।

नारी और पुरुष के संबंधों का चित्रण सामंती बोध के धरातल पर हुआ है "एक दिन" में। यहाँ कथा नायक अपनी पत्नी की अनुपस्थिति में पूर्व–पत्नी के साथ संबंध स्थापित करता है एवं इसके लिए उसे कोई पछतावा या ग्लानि नहीं है।

'न गुल था न चमन' नादिरा दस्तूर और जया जैसी शिक्षित स्त्रियों की कहानी है, जो जीवन में पूर्णतया अकेली हैं तथा जिनके अकेलेपन को दूर करने वाला कोई नहीं।

'दादी अम्मा' कहानी पारिवारिक संबंधों को एक नये धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। 'दादी अम्मा' की दादी अब आउटडेटेड हो चुकी है। बहू मेहराँ के सामने उसका प्रभुत्व अब अतीत बन चुका है। घर के काम–काज, शादी–ब्याह में अब उसकी सम्मति की कोई आवश्यकता नहीं समझी जा रही है और वह इस तरह एकाकी होती जा रही है। कुछ हद तक यह एकाकीपन प्रेमचंद कृत 'बूढ़ी काकी' की काकी सा है।

'बादलों के घेरे' कृष्णा सोबती की एक प्रसिद्ध रोमानी प्रेम कहानी है इस कहानी में एक प्रकार का ठहराव और गांभीर्य मौजूद है। रवि और मन्नो के बीच का प्रेम एक मौन स्वीकृति है। मन्नो का स्वाभिमान, मौन और गांभीर्य उसके व्यक्तित्व को एक सशक्त आधार देते हैं। मन्नो यहाँ रूमानी भावुकता और अशरीरी छायावादी सपनों के मरने की प्रतीक है। तिल–तिल कर मरती मन्नो को किसी से कोई शिकायत नहीं, ना ही जीवन से, और ना ही रवि के संभावित प्रेम से। अर्चना वर्मा के अनुसार, "ये कहानियाँ छायावादी अशरीरी सपनों के मरने की कहानियाँ नहीं हैं, अतृप्त प्यार की कहानियाँ भी नहीं हैं। मानव के मूलभूत अस्तित्व की अनिवार्य नियति से उपजनेवाली पीड़ा के साथ दो–चार होते हुए ये पात्र पुरुषत्व और स्त्रीत्व की परिभाषाओं और भूमिकाओं से परे प्राथमिक तौर पर सचेत और स्वचेत अस्तित्व हैं।"[44]

'तिनपहाड़' भी एक भावुक उपन्यास है, जहाँ अतीत की स्मृतियों से नायिका स्वयं को मुक्त नहीं कर पाती। जया के लिए श्री का प्रेम ही जीवन है, जिसे प्राप्त नहीं कर सकने की स्थिति में वह मृत्यु का वरण ही उपयुक्त समझती है। किसी अन्य विकल्प की तलाश जया को नहीं। जया में स्वाभिमान का भाव इतना प्रबल है कि रोमानी संवेदना से परिपूर्ण होते हुए भी एक बार ठुकराये जाने पर वह फिर से नया संसार नहीं रचती। राजेंद्र यादव के अनुसार, "..... यह तो शुद्ध पुरुष के प्यार की वह तलाश है जो औरत को अपने होने का बोध कराती है। यह भटकन, तलाश या भावना, इतनी अधिक अशरीरी, वायवी और निराकार है कि लगता है शरीर पाने की याचना करती आत्माएँ ही सिसक रही हैं।"[45]

'यारों के यार', उपन्यास में न तो अतीत की स्मृतियाँ हैं, ना ही मन के अंतर्द्वंद्व। यथार्थ का यहाँ ठोस ईमानदारी और निर्मम तटस्थता के साथ चित्रण हुआ है। सोबती ने यहाँ जिस दफ्तरी माहौल का सजीव अंकन किया है, वह सामान्यतः एक औरत के कार्यक्षेत्र की चीज नहीं समझी जाती थी। मध्यवर्गीय तबके के मानसिक द्वंद्व, ऑफीशियल रूटीन और क्लर्कीय मनोवृत्ति का कच्चा

खाका सोबती ने यहाँ प्रस्तुत किया है। यहाँ गालियाँ पुराने मूल्यों के अस्वीकार का प्रतीक हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् मूल्यों में तेजी से परिवर्तन हुए और मोहभंग की स्थिति उत्पन्न हुई। नैतिकता और शालीनता जैसे सामाजिक मूल्य क्रमशः दफ्तरी जिंदगी से लोप होने लगे। मूल्यों के अस्वीकार के पीछे है एक गहरी उदासी और भयंकर फ्रस्ट्रेशन। ऑफिस में प्रमोशन के लिए दाँव–पेंच लड़ाना तथा सच को झूठ और झूठ को सच बताना ही दफ्तर के वातावरण की सच्चाई है। व्यवस्था के प्रति अपने आक्रोश को सूद जैसे लोग गालियों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। साथ ही, दफ्तर की एकरसता को खत्म करने के लिए भी गालियों का प्रयोग होता है।

'डार से बिछुड़ी' एक ऐसा उपन्यास है जिसमें सामंती समाज व्यवस्था में नारी की दुरावस्था को चित्रित किया गया है। खत्रियों की पाशो जब जवान होती है तो उसे तरह तरह के सामाजिक लांछन झेलने पड़ते हैं क्योंकि उसकी माँ शेखों के यहाँ बैठ गई थी। पाशो को ले कर नानी, मामा, मामियाँ अतिरिक्त सावधान और सशंक हो जाते हैं। गाली–गलौज, कूटना–पीसना इत्यादि उसकी दिनचर्या का हिस्सा बन जाते हैं। परिवार वालों को लगता है कि जवान हो रही पारो के भी पर निकल रहे हैं। अतः उसे नियंत्रण में रखने के लिए तरह–तरह की प्रताड़नाएँ दी जाती हैं। कभी जहर दे कर तो कभी मेले में बेच कर उससे निजात पाने का प्रयास किया जाता है। इन उत्पीड़नों से बचने के लिए पाशो घर से भाग जाती है, पहले हवेली में माँ के पास फिर दीवान जी के यहाँ। वहाँ भी उसे स्थायी ठौर नहीं मिलता। वह एक पुरुष से दूसरे पुरुष तक लाई जाती है, पर उसकी कूक–फरियाद सुनने वाला कोई नहीं। दर–दर भटकती पाशो अपनी बिछुड़ी डार में तो आन मिलती है, परंतु अपना सब कुछ गँवा कर। नानी का यह कथन – ''संभल कर री, एक बार का थिरका पाँव जिंदगानी धूल में मिला देगा'',[46] पाशो की जिंदगी के लिए खरा उतरता है।

जीवन से जो कुछ भी पाशो को मिला है, उसे वह स्वीकार करती है। यद्यपि जीवन जीने के लिए उपयुक्त विकल्प पाशो के पास नहीं, फिर भी

आत्महत्या जैसे विचार उसके दिमाग में नहीं आते। अपनी दुर्दशा के लिए वह किसी को जिम्मेदार नहीं ठहराती और "सब जिए जागें", जैसे पद का प्रयोग करती है। पाशो हर जगह जिंदगी की तलाश में सामंजस्य बनाने का प्रयत्न करती है। मित्रो मरजानी, की मित्रो, पाशो के चरित्र का निषेध ही नहीं, शायद उसका जवाब भी है। राजेंद्र यादव के शब्दों में, "मित्रो हिंदी कथा–साहित्य की एकमात्र नारी है जो अपनी जरूरत को अपनी जबान में कहती है, अपनी भाषा में अपने होने की घोषणा करती है।"[47] मित्रो का रसिक स्वभाव उसकी माँ बालो की देन है, जिसके बड़े–बड़े अफसरों से संबंध थे। गोरी–चिट्टी सुंदर मित्रों को माँ के प्रेमी तहसीलदार का रंग–रूप मिला तथा प्रेम की शिक्षा काली–कलूटी बालों से। रूप के शासन का वर्चस्व, और रसिकता, मित्रो ने अपनी विधवा माँ से सीखी। सरदारीलाल जैसा गैर रसिक पति मित्रो की प्रणयाकांक्षा को तृप्त नहीं कर पाता एवं आये दिन उसे पीटा करता है। मित्रो अपनी इच्छाओं को खुलेआम व्यक्त करती है, "बहुत हुआ हफ्ते–पखवाड़े ..... और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास कि मछली–सी तड़पती हूँ।"[48]

पति से असंतुष्ट मित्रो अन्य पुरुषों के साथ की कामना करती है। इसीलिए एक बार वह मायके में अपनी माँ के भूतपूर्व प्रेमी की अंकशायिनी बनने को भी तैयार हो जाती है; लेकिन बालो के हस्तक्षेप से वापस लौट आती है। बालो की इच्छा है कि मित्रो उसी की तरह पेशा करे लेकिन मित्रों इसे अस्वीकार कर देती है। मित्रो के शब्दों में, "तू सिद्ध भैरों की चेली, अब अपनी कड़ाही में मेरी और मेरे खसम की मछली तलेगी? सो न होगा, बीबो कहे देती हूँ।"[49]

मित्रो अपने यौन असंतोष पर खुल कर बात करती है, लेकिन गृहस्थ–धर्म का उल्लंघन नहीं करती। अपनी माँ का कारुणिक जीवन देख कर मित्रो अपने पति सरदारीलाल के पास वापस लौट आती है। यह उसकी विवशता नहीं, बल्कि अस्मिता की सही परख है, "मित्रो अपने बूते पर घूरती है, लड़ती है। मसखरी करती है, टक्कर लेती है, सीनाजोरी भी और एक फुंकारती घड़ी में अपनी माँ की

संज्ञा को अलगनी पर टँगते देख स्वयं ही अपने फरफराते–उफनते कपड़ों को सहेज समेट परले सिरे से अपने साथ आ लगती है। अपने को ढूंढ लेती है।''[50] मित्रो सदियों से नारी पर लादे गये सारे संस्कारों, संबंधों और उपमाओं को ललकारती, मुँह चिढ़ाती और उन्हें झूठा सिद्ध करती हमारे सामने आ खड़ी होती है। न तो उसे आदर्श का मोह है, ना ही समाज का भय और ना ही ईश्वर का डर। मित्रो असामाजिक नहीं है। उसके अंदर की नारी माँ बनने की आकुलता समेटे हुए है। उसे जेवर, रुपये, पैसे का तनिक भी लोभ नहीं। मित्रो के व्यक्तित्व में एक प्रकार का गुणात्मक परिवर्तन होता है जब वह अपने पति के पास वापस लौट आती है।

'सूरजमुखी अंधेरे के' रतिका की कहानी है, जो अपना खोया हुआ आत्मादर लाने के लिए संघर्षरत है। रत्ती को बचपन में बलात्कार की पीड़ा से गुजरना पड़ा है – 'बलात्कार केवल कानून की दफा नहीं – मात्र रसभंग ही नहीं, छोटे बच्चों के अधकचरे खेल भी नहीं – अमंगल लहर की वह टूटी आसंग स्थिति है जिसे अपने चाहने से स्रोत तक लौटा लाना जन्म–जन्मांतरों सा ही अनिश्चित है।''[51] स्त्री के इस कटे–छँटे अतीत ने न तो उसे एक पूर्ण लड़की बनने दिया और ना ही एक संपूर्ण औरत। रतिका के जीवन में कई पुरुष आते हैं। रंजन, रोहित, ओमी, बाली और डेविड इत्यादि के साथ वह अलग–अलग धरातल पर संबंध बनाती है लेकिन इनमें से कोई भी पुरुष उसे संपूर्ण औरत नहीं बना पाता। रत्ती किसी भी पुरुष के साथ सहज नहीं हो पाती, क्योंकि, ''वह एक काला जहरीला क्षण हर बार मुझे झपट लेता है और मैं काष्ठ बन जाती हूँ।''[52] परिणामस्वरूप रत्ती एक फीकी और ठंडी औरत बन जाती है – ''वस्तुतः रत्तिका नामक इस स्त्री ने कभी किसी को नहीं पाया और न ही किसी ने रत्तिका को पाया। रत्तिका वह सड़क है जिसका कोई किनारा नहीं। वह अपनी ही सड़क का आखिरी छोर है।''[53] रत्ती न तो पुरुष की दया चाहती है, ना ही उसकी हिंसा को पकाना चाहती है, वह अपने अतीत को भुलाकर एक सामान्य जीवन बिताना चाहती है।

ऐसे ही सुनसान एक क्षण में रत्तिका के जीवन में दिवाकर का आगमन होता है, जो रत्तिका को एक संपूर्ण औरत बनाता है और जिसके द्वारा रत्तिका अपने आप को पाती है। सेक्स की कुंठित ग्रंथि खुल कर टूट जाती है और परिणामस्वरूप एक स्त्री के रूप में रत्तिका को एक नई जीवन गति प्राप्त होती है। यहाँ सेक्स की आदिम सहजता से मनुष्यता की प्राप्ति का संकेत है। दिवाकर और रत्ती के मिलन को सोबती ने अत्यंत कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। राजेंद्र यादव के अनुसार, ''.....जिस नाजुक कलम और तन्मय विभोरता से इसे कृष्णाजी ने लिखा है वह सिर्फ और सिर्फ कविता है। .....शायद पहली बार छायावादी मुहावरे को ऐसा मांसल धरातल मिला है। नारी–पुरुष के इस बेबाक मिलन, संभोग की विभिन्न स्थितियों को निश्चय ही इसमें उन्होंने पूजा जैसी गरिमा दी है। शायद ऐसी ही निष्ठा से खजुराहो और कोणार्क के मिथुन–युग्म तराशे गये होंगे..... जहाँ हर तलाश और तराश सिर्फ एक ऋचा जैसी लगे।''[54]

दिवाकर के द्वारा रत्ती अपने आप को पाती है, परंतु उसके साथ सारी उम्र की प्रतिबद्धता वह नहीं करती क्योंकि वह जुड़े हुए को तोड़ना नहीं चाहती और विभाजन नहीं चाहती। रत्तिका के एकाकी जीवन जीने की वजह यह है कि व्यक्ति जब अकेला होता है तो उसमें संघर्ष की अद्‌भुत क्षमता आ जाती है। रत्ती के लिए भी यही सच है, ''हर कदम, कभी अपने से, अपने अतीत से, मुक्ति पा लेने की छटपटाहट, कभी दरारों की अनझिपी आँख तले बार–बार वह अकेली लड़की संघर्ष करती है, फिर लड़ती है।''[55] रत्ती की कथा अकेली लड़की की संघर्ष कथा है। रत्ती की अस्मिता उस हिम्मत में है जिसमें उसकी स्थिति उच्छृंखलता में न बदल कर अपने को मुक्त करने की निरंतर चेष्टा है। उसका सारा संघर्ष अपने आत्मादर को वापस पाने के लिए है। संबंधों की निकटता या दूरी के स्वीकार अस्वीकार को विवशता से ही ये प्रसंग उपजे हैं। रत्ती का समूचा अंतरंग व्यवहार सायास है। सहज नहीं। 'जिंदगीनामा' (1979) कृष्णा सोबती की औपन्यासिक कला का चरम प्रस्थान प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है जिसके लिए उन्हें 1980 का

'साहित्य अकादमी' पुरस्कार व 1981 का पंजाब सरकार का 'साहित्य शिरोमणि' पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है।

जिंदगीनामा में पंजाबी लोक जीवन और लोकसंस्कृति के रंग बखूबी उभर कर आए हैं। उपन्यास का कालखंड 19वीं शताब्दी के प्रारंभ से खुलता है तथा प्रथम विश्वयुद्ध तक का सफर इसमें दर्ज है। विभाजन पूर्व के पंजाब के सांस्कृतिक वातावरण को सजीव रूप से प्रस्तुत करना 'जिंदगीनामा' का केंद्रीय उद्देश्य है जिसमें उन्हें सफलता भी मिली है। गुजराल के डेरा जट्ट गाँव के सांस्कृतिक इतिहास को प्रस्तुत करने के पीछे सोबती का नजरिया यह है कि – "इतिहास एक नहीं दो होते हैं। ....एक इतिहास वह जो हुकुमत के खाते में दर्ज कर सुरक्षित कर लिया जाता है, दूसरा वह जो लोकमानस की भागीरथी के साथ–साथ बहता है। जनसाधारण की आत्मा में जिंदा रहता है।"[56]

डेरा जट्ट गाँव में प्रेम जीवन का अभिन्न अंग है और प्रेमियों पर नैतिकता और संयम का कोई बंधन नहीं है। विधवा ब्राह्मणी लक्खमी, सैयदजादे के प्रेमपाश में बँधी है जिसे शाहनी या गाँववालों की ताड़ना और लोकलाज की दुहाई भी डिगा नहीं पाती। फतेह–शेरा, तारेशाह–बरकती और राबयाँ तथा शाहजी का प्रेम भी सामाजिक बंधनों से परे है।

गाँव में यदि एक तरफ सांप्रदायिक सौहार्द्र है तो दूसरी तरफ वर्ग चेतना और उससे उत्पन्न वर्ग–संघर्ष के भी चित्र देखने को मिलते हैं। गाँव में चल रहे आर्थिक शोषण का जिक्र शाह परिवार के माध्यम से हुआ है। बढ़ते कर्ज के प्रति कृषकों के असंतोष का भी जगह–जगह पर चित्रण हुआ है – "पुद्दीमोहन सुअर की नस्लवाला यह कर्जा चींटी की चाल से हाथी बनता है।"[57]

इस उपन्यास में कोई नायक नहीं, दूसरे शब्दों में यदि कोई नायक है तो वह है डेरा जट्ट गाँव। यहाँ इस उपन्यास की तुलना फणीश्वर नाथ रेणु की 'मैला आँचल' से की जा सकती है, जहाँ नायक है मेरीगंज गाँव। निर्मला जैन के शब्दों में, "दरअसल इस उपन्यास का केंद्रीय चरित्र ही जिंदगी है। इतिहास,

लोककथाएँ, किंवदंतियाँ, किस्से, लोक–गीत, दस्तावेज – सब इसमें केंद्रीय चरित्र भरते हैं। यह विराट चरित्र एक बहुत बड़े फलक पर अपने पूरे स्थानीय रंग के साथ गतिमान है।''[58]

उपन्यास का उद्देश्य सिर्फ लोकसंस्कृति का चित्रण नहीं शोषक अंग्रेजी हुकुमत के प्रति भारतीयों के विद्रोह और इन्कलाबियों और क्रांतिकारियों के प्रति ग्रामवासियों की सहानुभूति और विद्रोह को एक निश्चित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखने का प्रयास है।

उपन्यास का अंत शाजी द्वारा गुरू गोविंद सिंह के इन वचनों से होता है – ''जब और रास्ते कारगर न हो सके तो जुल्म के खिलाफ तलवार उठा लेना जायज है।''[59] यह उपन्यास व्यक्ति और समूह के परस्पर संबंध, सहयोग और संघर्ष को व्यक्त करता है।

'ऐ लड़की' (1991) असाध्य रोग से मरणासन्न प्रबल इच्छाशक्ति वाली माँ तथा दिन–रात उसकी सेवा करती अविवाहित, आत्मनिर्भर पुत्री के बीच के संवाद के रूप में लिखित उपन्यास है। जीवन को पूरी तरह जी चुकनेवाली अम्मू और जीवन जी रही लड़की ही कथा के केंद्रीय पात्र हैं। माँ यहाँ बेहद अनुभवी और खुद्दार औरत है जिसे बीमारी और बुढ़ापा, दोनों ही मिलकर नहीं तोड़ पाते। बेहद आशावाद और बूंद–बूंद जीवन में उसका विश्वास है। माँ ने बच्चे जने हैं, परिवार चलाया है जबकि लड़की ने अविवाहित रहने का निर्णय लिया। मृत्यु शय्या पर पड़ी अम्मू मृत्यु से भयाक्रांत तो नहीं है किंतु जीवन को और जी लेने, जीवनोत्सव मनाने की इच्छा अभी उसमें शेष है। रंग, गंध, तथा स्पर्श के लिए उसकी इंद्रियाँ अभी भी पूरी तरह चौकन्नी हैं। विभिन्न स्वादों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया वह बखूबी व्यक्त करती है। किताबी ज्ञान को वह नकारती नहीं लेकिन वरीयता जिंदगी के अनुभवों से उपजे ज्ञान को देती है, ''लड़की, पढ़ने और मनन करने से बुद्धि तेज जरूर होती है, पर जीवन जी कर ही उसमें अर्थ उत्पन्न होता है।''[60] सृजन को सबसे बड़ा फल मानने वाली माँ यदि बेटी की व्यक्तिगत आजादी देख कर संतुष्ट

है तो दूसरी तरफ बेटी का यह अकेलापन उसे कचोटता भी है, जिसे वह कभी–कभी व्यंग्य में व्यक्त करती है, "इतना बता दो कि खुदमुखत्यारी चलाओगी किस पर? तेरी पंक्ति में कोई नहीं, न किसी की माँ, न दादी, न नानी, लड़की तुम हो वनस्पति–कुश–घास–तिनका।"[61] यह माँ की परंपरागत सोच का परिणाम है जो समाज में परिवारहीन स्त्री के एकाकी अस्तित्व को कोई महत्व नहीं देती। परिवार बसाने को अम्मू जीवन की सार्थकता मानती है, "अपनी समरूपा उत्पन्न करना माँ के लिए बड़ा महत्त्वकारी है। बेटी के पैदा होते ही माँ सदाजीवी हो जाती है। वह कभी नहीं मरती। हो उठती है वह निरन्तरा, आज है कल भी रहेगी माँ से बेटी तक। बेटी से उसकी बेटी, उसकी बेटी से भी अगली बेटी। अगली से भी अगली। वही सृष्टि का स्रोत है।"[62]

स्त्री नियति का अहसास अम्मू के भीतर गहराई तक मौजूद है। जिस समाज में लड़कियों और लड़कों में प्रारंभ से ही भेद किया जाता हो वहाँ नारी को अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए क्या कुछ झेलना पड़ता है, यह माँ की दृष्टि से छुपा हुआ नहीं है। जिंदगी भर परिवार से बंध कर रहने वाली माँ खुद के लिए कुछ भी नहीं कर पाई, "लड़की, परिवारवाली औरत को अपने में क्या–क्या हुनर जगाने पड़ते हैं और क्या–क्या अंकुश लगाने होते हैं, यह तुम्हें नहीं मालूम। तुम तो अपने में आजाद हो। तुम पर किसी की रोक–टोक नहीं।"[63] गृहस्थी की गाड़ी चलाने में अपना स्वत्व तिरोहित कर देने वाली माँ अपनी खुद की कोई भी इच्छा पूरी न कर पाई, "चाहती थी पहाड़ियों की चोटियों पर चढ़ूँ। शिखरों पर पहुँचूं।"[64] विवाह को माँ स्त्री के लिए आवश्यक तो मानती है, परंतु अनिवार्य नहीं। उसका यह मानना है कि स्त्री नियति में बदलाव तभी आएगा, "उसका वक्त तब सुधरेगा जब वह अपनी जीविका आप कमाने लगेगी।"[65] इसी क्रम में वह नर्स सूसन को समझाती है कि शादी के बाद किसी के हाथ का झुनझुना नहीं बनना।

अमू में स्त्री–स्वातंत्र्य की संपूर्ण चेतना है। दिन–रात गृहस्थी की गाड़ी चलाने वाली स्त्री के पास अंततः कुछ नहीं बचता, इस तथ्य को जान कर ही वह लड़की से कहती है, ''लड़की अपने आप में होना परम है, श्रेष्ठ है।''[66]

'ऐ लड़की' का कथ्य आज के संदर्भ में जा रही स्त्री की चुनौतियों को व्याख्यायित करता है, ''भारतीय स्त्री की अस्मिता और व्यक्तित्व की खोज करने वाले लोग इस कहानी में मूर्तिमान एक ऐसी नारी को पा सकते हैं जो अपने जीवन के अंतिम दिनों में स्त्री जीवन का शास्त्र नैरेट कर देती है।''[67]

अम्मू स्त्री–पुरुष की समानता की पक्षधर है तथा अपने पिता द्वारा अंतिम समय में केवल बेटे को आवाज देते देखकर उसके हृदय में वितृष्णा होती है। लेकिन पारंपरिक समाज ने अम्मू की सोच को जकड़ रखा है, ''लड़की, कुल की सरदारी बेटियों को नहीं जाती। सगुण शास्त्र से तुम्हारा भाई ही पगड़ी बाँधेगा।''[68] पुत्र और पुत्री को समान निगाह से देखना अम्मू की बौद्धिक दृष्टि का परिणाम है जबकि पुत्र मोह की अभिव्यक्ति उसकी मानसिकता है जिसका निर्माण सामाजिक परिवेश ने किया है।

अम्मू ने एक भरपूर जीवन जिया है, इसलिए जीवन के अंत का उसे खेद नहीं, साथ ही मृत्यु की अनिवार्यता को भी वह समझती है। अम्मू को मृत्यु से कोई भय नहीं है, ''देहात्म का निस्तारा तो किसी न किसी बहाने होना ही है।''[69] अम्मू में मृत्यु को ले कर कोई विषाद या भय नहीं, न विलाप है, बल्कि एक सहज स्वीकार है। अम्मू अपने बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक की यात्रा स्मृति दर्पण में करती है जिसके बीच–बीच में परिवार, स्त्री–नियति, स्त्री–स्वातंत्र्य तथा नर–नारी के संबंधों की पड़ताल भी व्यवहारिक धरातल पर होती रहती है।

यह उपन्यास जीवन को सम्पूर्णता से जीने का संदेश प्रस्तुत करता है। जीवन चाहे अकेले जिया गया हो, या फिर किसी के संग, यहाँ उसकी पूर्णता पूरी तरह जी लेने जाने में है, जो गिलास या सिगरेट की अंतिम बूंद की तरह है। मृत्यु को लेकर कोई विलाप या नैराश्य का भाव इस उपन्यास में नहीं है, बल्कि

इसी लोक को सत्य मानकर यहाँ की नेमतों का उपभोग और भरपूर जीवन जी लेने का भाव आद्यंत व्याप्त है।

कृष्णा सोबती का उपन्यास 'दिलोदानिश' दिल अर्थात् प्यार एवं दानिश अर्थात् परिवार के बीच की कशमकश, मध्ययुगीन सामंती मानसिकता से प्रभावित जीवन मूल्यों एवं सामाजिक परिवेश को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करता है। कहानी वकील कृपानारायण, उनकी पत्नी कुटुम्बप्यारी और रखैल महकबानो के त्रिकोणीय सम्बन्ध पर आधारित है। कृपानारायण अपनी पत्नी कुटुम्ब के साथ घरेलू और सामाजिक मर्यादाओं के कारण जुड़े हुए हैं। उनके प्रेम को परितुष्टि महकबानो के साथ संबंध में ही मिलती है। प्रेम का आवेग ढीला पड़ते ही अधेड़ वकील साहब महक पर नियंत्रण रखने में असफल हो जाते हैं। सामाजिक अस्मिता के लिए छटपटाता महक का व्यक्तित्व विद्रोही एवं आक्रोशमय हो जाता है। अनसद खाँ का मूक संरक्षण पा कर महक अपने अस्तित्व के लिए जाग्रत हो उठती है और अपनी माँ के जेवर वकील साहब से वापस लेने में सफल हो जाती है।

आरंभ में वकील साहब और महकबानो के बीच का प्रेम रागात्मकता लिये है। महक की माँ वकील साहब की मुवक्किल थी, जिसका केस लड़ते हुए वकील साहब ने पहले उसके गहनों को अपने कब्जे में किया तथा बाद में बेटी को अपनी रखैल बना लिया। सामंतवादी संयुक्त परिवार की उपज कृपानारायण जैसे लोगों के लिए ब्याहता पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री से संबंध जोड़ना मामूली सी बात है। वकील साहब महक के साथ अपने संबंधों को औचित्यपूर्ण ठहराते हैं – "सारा खेल खाने–पीने–सोने और घर चलाने का ही तो नहीं। उनके लिए तो कुछ पाबंदियाँ अपने साँचे में ढाल देती हैं और कुछ बिना साँचे के भी चल निकलती हैं।"[70] वकील साहब विवाहेतर संबंधों को अपना अधिकार समझते हैं, "मर्द हैं हम। मेहनत करते कमाते हैं। कुनबे को पालते पोसते हैं। तो क्या थोड़ी बहुत दिलजोई–दिवलगी पर भी हमारा कोई अख्तियार नहीं।"[71]

महकबानो एक समर्पिता की तरह सभी ज्यादतियाँ बर्दाश्त किए रहती है, कुटुम्बप्यारी और उसके बच्चों की फटकार, घर की बदहाली, अपने बच्चें की शिक्षा–दीक्षा और उनके भविष्य के प्रति वकील साहब का बेमानी रवैया, वकील साहब का बदलता रवैया, एवं बदरू के जन्मदिन पर उसे मिले कंगन का भी कुटुम्बप्यारी द्वारा वापस माँग लिये जाना। लेकिन महक के सब्र का पैमाना छलक उठता है जब उसके बच्चों को भी उससे छीन लिया जाता है। महक जेवरों को वापस पाने और बच्चों की सामाजिक स्वीकृति के लिए संघर्ष करती है। जिस बिरादरी के नियम कानूनों ने उसके बच्चे उससे छीन लिए थे, उसी बिरादरी के सामने महक मासूमा की माँ और समधियों की समधिन होने का हक हासिल कर ही दम लेती है। उसका यह नया रूप, जो कि अपनी माँ के जेवरात पहनने पर उतर आया है, वकील साहब अचम्भित रह जाते हैं। आज तक अपनी रखैल के बारे में उनके ख्यालात कुछ इस तरह के थे, ''आखिर रखैल को जिल्लत से कब तक बचाइएगा? रखैल को तब तक थोड़ा बहुत देते रहेंगे जब तक उस पर हमारी कुछ पकड़ बाकी है वरना कह देंगे 'इस औरत के लिए हमारे दिल की पुरानी चिड़िया तो कब की मर चुकी, यदि आँखें तरेर कभी कहेगी कि 'हम किसी के जरखरीद गुलाम नहीं हैं तो सच में उसकी 'जाँघों को रौंद' हवेली में लौट आएँगे और दुनिया कहेगी – वह तो थी ही ऐसी औरत, वैसी औरत, न जाने कैसी औरत।''[72]

कुटुम्बप्यारी, वकील साहब और महकबानो के प्रेम संबंधों को ले कर गहरा ऐतराज प्रकट करती है। लेकिन बउआ जी उसे समझाती हैं, ''हमसे पूछो मर्द को गुमराह करने वाली फकत हुस्न और जवानी नहीं, उसकी कमाई है जो इसे खुद मुख्तारी देती है। सोचो घर में बैठी–बैठी औरत क्या करेगी?''[73] बऊआजी आर्थिक ही नहीं, उन सांस्कृतिक कारणों की व्याख्या भी करती हैं जो स्त्री को परावलंबित बनाती है। उनके अनुसार, ''हमसे पूछो तो घर की बहू जिंदगी भर या मर्द की सुनेगी या बेटों की। धर्मशास्त्र भी तो यही कहते हैं।[74] लेकिन विद्रोह, इस उपन्यास के सभी पात्र करते हैं। कुटुम्बप्यारी चुपके–चुपके भैरो बाबा की

अंकशायिनी बन कर, छुन्ना भुवन से विवाह कर के तथा महक खाँ साहब का संरक्षण प्राप्त करके। 'दिलोदानिश' में पुरुषों की सामंती मानसिकता और स्त्रियों की पराधीनता खुल कर सामने आये हैं। निर्मला जैन के अनुसार, सोबती का दिलोदानिश पितृसत्ताक समाज की सामंती रवायतों में स्त्री की सामाजिक हैसियत का खुलासा है। एक पत्नी और दूसरी रखैल।''[75]

'समय सरगम' (2000) जीवन की सहज स्वीकृति का आख्यान है। उपन्यास की नायिका आरण्या के चेहरे पर की झुर्रियाँ सताई हुई रेखाएँ नहीं हैं, बल्कि समय के साथ उगी पकी हैं। अपने वक्त को आरण्या ने मनचाहे ढंग से जिया है। उम्र के अंतिम ढलान पर आ कर भी उसमें गहरी जिजीविषा और जीवन के स्वीकार का भाव भरपूर मात्रा में बचा हुआ है। जीवन की तीन स्थितियों, बचपन, यौवन और वृद्धावस्था को उनकी संपूर्णता में उकेरने का प्रयास इस उपन्यास में मिलता है। उम्र की अंतिम ढलान पर पहुँच कर भी आरण्या को मृत्यु का कोई डर नहीं। आरण्या के लिए जीवन कोई बोझ नहीं, ''.....इस दुनिया का श्रृंगार, धूप–छाँह, हवा–पानी, चाँद–सूरज सब अपने में स्थित हैं और लिखित की पंक्ति में भी। देखने को क्या नहीं। आरण्या ने हाथ बढ़ाकर खिड़की खोली–बहती रहो। धूप–सनी हवाओं, जब तक जीती हूँ मुझ तक पहुँचती रहो! मैं अपने निज के समय को गुंजान रखना चाहती हूँ। जो भी प्रतिफलित है, सिरजित है, अक्षरों की क्यारी में उसी को अंकित करना चाहती हूँ।''[76] आरण्या मृत्यु के डर को अपने वर्तमान पर हावी नहीं होने देती। वह जीवन द्वारा नहीं जी गई, बल्कि अपने जीवन को उसने स्वयं जिया है, यह भाव उसे गहरा संतोष देता है।

यह उपन्यास आरण्या, ईशान एवं कामिनी जैसे कुछ वृद्धों को केंद्र में रख कर लिखा गया है, जो या तो सामाजिक संस्थाओं द्वारा नकार दिये गए हैं या फिर स्वयं उन्होंने इन संस्थाओं की अनुपयुक्तता को देखते हुए स्वयं की अलग दुनिया निर्मित की है। यदि आरण्या एवं ईशान परिवार से दूर रह कर भी स्वस्थ एवं सुरक्षित हैं, तो दूसरी तरफ लाला प्रभुदयाल, दमपंती एवं कामिनी जैसे लोग

परिवार के बीच रह कर दुखी एवं असुरक्षित हैं। उपन्यास जीवन को उसकी संपूर्णता में सहेजने का आख्यान देता है।

कृष्णा सोबती के कथा साहित्य में भारतीय समाज के विस्तृत चित्रफलक को प्रस्तुत किया गया है।

सन्दर्भ सूची

1. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 399
2. वही, पृ. 406
3. वही, पृ. 206
4. वही, पृ. 400
5. वही, पृ. 400
6. वही, पृ. 401
7. वही, पृ. 397
8. वही, पृ. 403
9. मधुरेश, हिंदी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ. 102
10. अज्ञेय, शेखर : एक जीवनी, मयूर पेपरबैक्स, दिल्ली, संस्करण–2003, पृ.-viii, (भूमिका)
11. विजयमोहन सिंह, शेखर एक जीवनी (आलेख), कसौटी, अंक 15 (सं.) नंदकिशोर नवल, दिल्ली, पृ. 133
12. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 400
13. वही, पृ. 401
14. वही, पृ. 400
15. वही, पृ. 401
16. कृष्णा सोबती, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2005, पृ. 25
17. राजेंद्र यादव, औरों के बहाने, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1980, पृ. 39

18. राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 130
19. कृष्णा सोबती, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 66
20. वही, पृ. 66–67
21. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 399
22. वही, पृ. 399
23. वही, पृ. 411
24. कृष्णा सोबती, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 7
25. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 397
26. वही, पृ. 396
27. वही, पृ. 395
28. वही, पृ. 399
29. कृष्णा सोबती, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2005, पृ. 4
30. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 397
31. वही, पृ. 224
32. वही, पृ. 394
33. वही, पृ. 398
34. वही, पृ. 402
35. वही, पृ. 402
36. कृष्णा सोबती, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2005, पृ. 69
37. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 403
38. राजेंद्र यादव, एक दुनिया समानांतर, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 1974, पृ. 30
39. डॉ. राधाकृष्णन, धर्म और समाज, राजपाल एण्ड संज प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण–1963, पृ. 184
40. कृष्णा सोबती, हम–हशमत (1), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 255
41. राजेंद्र यादव, औरों के बहाने, राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980, पृ. 35
42. वही, पृ. 45
43. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 412
44. अर्चना वर्मा, अस्तित्व का चौथा आयाम, आलोचना, पृ. 42, अप्रैल–जून 1980

45. राजेंद्र यादव, व्यक्तित्व की खोज : कृष्णा सोबती, औरों के बहाने, पृ. 41, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
46. कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, पृ. 6, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1956
47. राजेंद्र यादव, व्यक्तित्व की खोज : कृष्णा सोबती, औरों के बहाने, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 41
48. कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 21
49. वही, पृ. 98
50. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, 1993, पृ. 388
51. कृष्णा सोबती, सूरजमुखी अंधेरे के, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 391
52. कृष्णा सोबती, सूरजमुखी अंधेरे के, राजकमल प्रकाशन, पृ. 24
53. परमानंद श्रीवास्तव, उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1976, पृ. 149
54. राजेंद्र यादव, व्यक्तित्व की खोज : कृष्णा सोबती, औरों के बहाने, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 44
55. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 391
56. वही, पृ. 377
57. कृष्णा सोबती, जिंदगीनामा, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2007, पृ. 23
58. निर्मला जैन, कथा प्रसंग : यथाप्रसंग, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण–2000, पृ. 92
59. कृष्णा सोबती, जिंदगीनामा, राजकमल पेपरबैक्स, 2007, पृ. 56
60. कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, 1991, पृ. 59
61. वही, पृ. 74
62. वही, पृ. 40
63. वही, पृ. 78
64. वही, पृ. 76
65. वही, पृ. 78
66. वही, पृ. 91
67. मार्कण्डेय सिंह का पत्र – रवींद्र कालिया को, वर्तमान साहित्य, मई 1991, महाविशेषांक–2
68. कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृ. 57
69. वही, पृ. 100
70. कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 84

71. अरविंद जैन, औरत : अस्तित्व और अस्मिता, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 89
72. कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 98
73. वही, पृ. 98
74. निर्मला जैन, कथाप्रसंग : यथाप्रसंग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 130
75. कृष्णा सोबती, समय सरगम, राजकमल प्रकाशन, प्र.सं. 2000, पृ. 56
76. वही, पृ. 56

दूसरा अध्याय

कृष्णा सोबती के कथा-साहित्य में अभिव्यक्त समाज

(क) व्यक्ति और समाज

(ख) सामाजिक संस्थाओं का बदलता स्वरूप

(ग) जीवन के अंतर्विरोध

(क) व्यक्ति और समाज

साहित्य तथा उसके निर्माण की प्रक्रिया सामाजिक विकास की प्रक्रिया से कहीं गहरे तक अनुप्राणित होती है। सर्जनात्मक साहित्य के निर्माण में समाज की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। कोई भी रचना सही मायने में तब ही सार्थक कही जाएगी, जब उसकी अंतर्वस्तु, संरचना, शिल्प और भाषा समाज को संपूर्णता में व्यक्त करें।

व्यक्ति समाज की एक प्राथमिक इकाई होता है, इस नाते साहित्य में उसकी प्रभावपूर्ण उपस्थिति समाज में हो रहे गतिशील परिवर्तनों को सूचित करने में सहायक सिद्ध होती है। किसी रचनाकार के लिए व्यक्ति इसलिए महत्त्वपूर्ण होता हैं क्योंकि व्यक्तियों की इकाईयों में से ही रचनाकार को अपने पात्रों का चुनाव करना पड़ता है। किसी भी उपन्यास या कहानी की सर्जना से पूर्व पात्रों के रूप में व्यक्ति ही लेखक की दृष्टि या कल्पना में होता है जिसे ध्यान में रख कर वह अपनी कथा विकसित करता है। बिना पात्रों के कोई भी रचना आस्तित्व में नहीं आ सकती। किसी रचनाकार के लिए समाज इसलिए भी महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि बिना सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखे वह एक सफल रचना का निर्माण नहीं कर सकता। व्यक्ति जिस समाज में रहता है, उसका प्रभाव जाने–अन्जाने व्यक्ति पर पड़ता ही रहता है। अतः उसकी पृष्ठभूमि को जानना रचनाकार के लिए अनिवार्य होता है, क्योंकि पृष्ठभूमि व्यक्ति के आचरण को काफी हद तक प्रभावित करती है।

किसी भी रचनाकार के लिए पृथक व्यक्ति या पृथक समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। व्यक्ति अपनी भूमिका से समाज को प्रभावित करता है और समाज के भिन्न–भिन्न वर्ग व्यक्तियों को अपने अन्दर और कभी अंतवर्गीय परिप्रेक्ष्य में प्रभावित करते है। अत रचनाकार व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की ओर सजग रहते हुए उन दोनों के पारस्परिक विनिमय के समन्वित रूप को ही देखता है। इससे एक तरफ तो वह समाज को चित्रित करने का मौका पा जाता

है तो दूसरी और व्यक्ति के प्रकृतिगत आयाम को उद्घाटित करता है। व्यक्ति और समाज का संश्लिष्ट रूप ही रचनाकार के लिए वह सामग्री प्रस्तुत करता है, जिससे रचना निर्मित होती है।

मानवीय व्यक्तित्व अपनी सार्थकता समाज में ही पाता है। मानवीय व्यक्तित्व के ऊपर उसके परिवेश का महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। समाज, राजनीति, धर्म एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ मनुष्य के व्यक्तित्व को निर्णायक रूप से प्रभावित करती हैं। मानवीय व्यक्तित्व की अपनी विशिष्टता होती है, परंतु वह समाज से जुड़कर रहने में ही अपनी सार्थकता को पाता है। मनुष्य के व्यक्तित्व को क्रमिक विकास, जन्म के पश्चात ही शुरू हो जाता है और मृत्युपर्यन्त होता रहता है। मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण का प्रथम चरण, परिवार से आरंम्भ होता है, जो कि एक प्रमुख सामाजिक संस्था है। परिवार, मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली प्रथम सीढ़ी है। पारिवारिक परिस्थितियाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व को संतुलित या असंतुलित बनाने में निर्णायक सिद्ध होती हैं। यदि पारिवारिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हों, तो व्यक्ति कई तरह की कुण्ठाओं एवं मानसिक ग्रंथियों का शिकार हो जाता है।

व्यक्ति समाज का एक अंश होता है, परन्तु सामाजिक व्यवस्थाओं को वह ज्यों–का–त्यों नहीं स्वीकार करता। सामाजिक रूढ़ियों एवं जड़ परम्पराओं के प्रति उसके मन का विरोध, विद्रोह के रूप में व्यक्त होता है। समाज और संस्कृति एक दूसरे से जुड़े होते हैं, किन्तु हर आने वाली पीढ़ी, पिछली पीढ़ी की परम्पराओं को ज्यों–का–त्यों ग्रहण नहीं करती, वरन उनमें कुछ संशोधन एवं परिमार्जन करती है। यही परिवर्तन समाज के क्रमिक विकास में सहायक होता है।

मानवीय संवेदनाओं का स्फुरण साहित्य के माध्यम से होता है। रचनाकार को अपनी रचना की प्रेरणा, उसके आस–पास घटित होने वाली घटनाओं से मिलती है। मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्रांकन ही साहित्य का लक्ष्य है। परन्तु रचनाकार केवल मानव के भोगे हुए यथार्थ को समाज के समक्ष प्रस्तुत

करके ही मुक्त नहीं हो जाता, वरन परिस्थितियों से संघर्ष करने की शक्ति भी प्रदान करता है। साहित्य द्वारा समाज को मार्ग–दर्शन भी दिया जाता है,–"साहित्य यदि दर्पण के तौर पर सामाजिक अवस्थाओं को अपने बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव से धारण करने वाली वस्तु थी तो अब वह कुछ ऐसा तत्व है जो समाज को प्रतिबिंबित तो करे पर चाटुता से अधिक उसे चोट दे। और इस भांति समाज को आगे बढ़ाने का भी काम करे। साहित्य अब प्रेरक भी है। वह झलकाता ही नहीं, अब चलाता भी है।"[1]

समाज में व्यक्ति की अपनी मान्यताएँ हैं तथा समाज की भी अपनी परम्पराएँ होती हैं। कई बार व्यक्ति की मान्यताएँ तथा समाज की परम्पराएँ एक दूसरे के विपरीत जा खड़ी होती हैं। इसलिए रचनाकार को व्यक्ति तथा समाज, दोनों ही के दुष्टिकोणों को समझना चाहिए।

व्यक्ति और समाज का अंतर्संबंध आधुनिक कथा–साहित्य का एक प्रमुख विषय रहा है। समय–समय पर विभिन्न रचनाकारों ने इम अंतर्संबंध को विश्लेषित किया है। भारत वर्ष में औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के साथ ही बदलाव के चिन्ह दृष्टिगत होने लगते हैं। औद्योगीकरण की प्रगति, प्रबल नगरीकरण तथा मध्यवर्ग के अभ्युदय ने कथा–साहित्य की प्रवृति को भी परिवर्तित किया। वह मात्र मनोरंजन प्रदान करने के अपने प्राथमिक ध्येय से आगे बढ़ कर शिक्षा तथा सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम भी बना।

हिन्दी कथा–साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द का आविर्भाव एक युगान्तकारी घटना मानी जाती है। प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यास एवं कहानियाँ या तो विशुद्ध मनोरंजन एवं पाठकों की कौतूहल–वृत्ति का शमन करने के लिए तिलस्मी या जासूसी किस्म के थे, या फिर अधकचरे ऐतिहासिक और सामाजिक रोमांस। प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा–साहित्य को एक नया आयाम दिया।".....उन्होंने उपन्यास और गल्प कही जाने वाली किस्सा कहानी जैसी बदनाम तथा भले घरों से बहिष्कृत विधा को जिन्दगी के जागृत यथार्थ तथा समाज की अहम समस्याओं से

जोड़कर एक सम्मानित हैसियत प्रदान की, उसे मनुष्य के ही चरित्र का नहीं, समाज तथा व्यवस्था के चरित्र का चित्र तथा आईना बनाया।" [2] हिन्दी कथा–साहित्य में यथार्थ की एक नई परंम्परा की शुरूआत कर प्रेमचन्द ने साहित्य का जनतंत्रीकरण किया। भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों तथा भारतीय जीवन के बहुरंगी पक्षों का जितना सजीव चित्रण प्रेमचन्द के यहाँ मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रेमचन्द एक ऐसे रचनाकार रहे हैं, जिनका रचनात्मक विकास लगातार होता रहा है। अपने आरंभिक दौर में, प्रेमचन्द आदर्शवादी दृष्टिकोण को रचना के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। प्रेमचन्द की शुरूआती दौर की रचनाओं में आदर्श की प्रतिष्ठा, मुख्य विषय होती थी। कला की दृष्टि से चरित्र सबसे प्रधान होता था, फिर थी घटना तथा कथा के अंत में किसी आदर्श की प्रतिष्ठा की जाती थी। इस प्रकार रचना में समाज प्रमुख होकर उभरता था, जबकि व्यक्ति गौण या कम प्रभावी होता था। प्रेमचन्द की रचनाओं में उभर कर आनेवाली इस आदर्शवादी प्रवृति के पीछे प्रमुख वजह थी राष्ट्रीय–स्वाधीनता आंदोलन। देश को स्वतंत्र कराने के लिए साम्राज्यवादी ताकतों की जरूरत थी। आदर्शवादी चरित्रों की सर्जना, प्रेमचन्द अपने युग के राजनीतिक–सामाजिक संदर्भो (सुधारवादी आंदोलन एवं राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम) को ध्यान में रखकर कर रहे थे। 'प्रेमाश्रम' (1922) में किसानों की समस्या का हल वे जमींदार के हृदय–परिवर्तन द्वारा दिखाते हैं

प्रेमचन्द का संपूर्ण लेखन कर्म भारतीय जनता के स्वाधीनता–आंदोलन को समर्पित है। स्वाधीनता का अर्थ उनके लिए सिर्फ औपनिवेशिक साम्राज्यवाद से मुक्ति नहीं थी, बल्कि भारतीय जनता की अस्मिता की मुक्ति का प्रश्न था। अपनी रचनात्मक यात्रा के अंतिम दौर तक पहुँचते–पहुँचते प्रेमचन्द ने यह महसूस कर लिया था कि स्वतंत्रता के पश्चात भी देश की सामाजिक–राजनीतिक स्थिति में सुधार तब तक नहीं होगा जब तब देश के शासक वर्ग एवं पूंजीपति वर्ग का गठजोड़ किसानों–मजदूरों एवं पिछड़े वर्गों का शोषण बंद नहीं कर देता। अपने जीवन के अंतिम दौर में प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हो गए थे। यही वजह है

कि 'गोदान' (1936) में किसानों की समस्या का वे कोई समाधान नहीं प्रस्तुत करते हैं।

प्रेमचंदोत्तर युग के कथा–साहित्य में दो समानांतर धाराओं का प्रवर्तन देखा जा सकता है। इनमें से एक धारा है। मनोक्श्लेषणवादी रचनाकारों की, जिसके अंतर्गत अज्ञेय, जैनेंद्र एवं इलाचंद्र जोशी आते हैं; तथा दूसरी धारा है प्रगतिशाली या यथार्थवादी रचनाकारों की, जिसके अंतर्गत यशपाल, नागार्जुन एवं रांगेय राघव इत्यादि आते हैं। मनोविश्लेष्णवादी धारा में व्यक्ति का मानसिक यथार्थ ही कथा का मुख्य तत्व बन जाता है। रचना में समाज गौण हो जाता है और व्यक्ति प्रमुख बन जाता है। इस धारा के रचनाकारों पर फ्रायड, एडलर तथा युंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का गहरा प्रभाव पड़ा। इस धारा के रचनाकार जैनेंद्र मानते हैं कि,– "बहिर्जगत का भ्रमण करके चुका देना कठिन है। उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं।.....वस्तुतः बहिर्जगत एक भुलावा है। बहिर्जगत के नाम पर यदि कुछ रचनाएँ हुई है; तो उनमें भी कलाकार बहिर्जगत के उपलक्ष्य से अपने को ही खोजता या व्यक्त करता है, वह दूसरा कुछ कर नहीं सकता। अंतर यही है कि अपने लिए मैं उस अनिवार्यता को सहज स्वीकार कर लेता हूँ।"[3] अंतःप्रेरणाओं और मनोवृत्तियों के उद्‌घाटन को प्रमुखता देने के कारण मनोवैज्ञानिकता अज्ञेय, जैनेन्द्र एवं इलाचंद्र जोशी की रचनाओं का एक प्रमुख गुण बन कर आयी है।

प्रगतिवादी या मार्क्सवादी रचनाधारा के अंतर्गत मार्क्सवादी जीवन–दर्शन या दृष्टिकोण को लेकर लिखी गई रचनाएं आती है। सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति, पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह तथा वर्ग–संघर्ष का चित्रण इस धारा की विशेषताएँ हैं। साथ ही, रूढ़िवादी मूल्यों पर चोट करना भी इसकी एक प्रमुख विशेषता हैं।

1950 के आस–पास 'नई कहानी' आन्दोलन का दौर शुरू हुआ, जिसने कहानी की एक नई धारा को जन्म दिया। यह जीवन के प्रामाणिक अनुभवों को प्रस्तुत करने का दावा पेश करती थी। इस धारा के अंतर्गत मोहन राकेश, मन्नू

भण्डारी, राजेंद्र यादव एवं कृष्णा सोबती आते हैं। कृष्णा सोबती नई कहानी के अंतिम दौर से एक रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित हुई। कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य अपने समय और समाज से पूर्णतः संपृक्त है। सोबती ने अपनी रचनाओं के लिए जो कथानक लिए हैं वे भारतीय समाज के एक विस्तृत चित्रफलक को प्रस्तुत करते हैं।

कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य की यात्रा शुरू होती है पंजाब के समाज से, जिसमें उत्तरोतर अन्य समाज भी शामिल होते चले गए हैं। सोबती के यहाँ शहरी और ग्रामीण दोनों ही तरह के समाज मौजूद हैं तथ संयुक्त और एकल परिवार भी।

कृष्णा सोबती का प्रथम उपन्यास "डार से बिछुड़ी" (1958) स्वतंत्रतापूर्व के भारत की टूटती सामंतवादी सामाजिक व्यवस्था ओर नव–साम्राज्यवाद की अनुगूँज को एक साथ प्रस्तुत करता है। पाशो के माध्यम से सोबती ने सिर्फ तत्कालीन समाज में शोषित एवं पददलित नारी की ही कहानी नहीं कही है बल्कि समाज में मौजूद वर्गगत असमानताएँ, तथा विभिन्न वर्गों की उपस्थिति, जैसे मध्यवर्ग, सामन्तवर्ग, पूंजीपति वर्ग ओर साम्राज्यवादी शासकों की उपस्थिति को उनकी परिवेशगत सम्पूर्णता के साथ उकेरा है। डार से बिछुड़ कर पाशो, यानि कि व्यक्ति, अपनी पहचान, नाम, और मर्यादा, सब कुछ खो बैठती है। इस उपन्यास में व्यक्ति गौण है, जबकि समाज प्रमुख बन कर उभरा है। पाशो अपनी नियति को चुपचाप स्वीकार करती चली जाती है, विद्रोह का प्रयत्न नहीं करती, क्योंकि एक बार का किया गया विद्रोह ही उसे जीवनपर्यन्त पददलित होने के लिए बाध्य करता है।

डरी–सहमी पाशो के प्रतिकार के रूप में सामने आती है "मित्रो मरजानी" की दबंग मित्रो जिसे समाज की कोई परवाह नहीं। यहां सोबती ने कस्बाई समाज को उसकी संपूर्ण विशेषताओं के साथ उकेरा है। मित्रो को अपनी जरूरतें, अपने मुख से व्यक्त करने में कहीं कोई संकोच नहीं, "अब तुम्हीं बताओं, जिठानी, तुम

जैसा सत–बल कहाँ से पाऊँ–लाऊँ ? देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता। .....बहुत हुआ हफ्ते–पखवारे.....और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास कि मछली– सी तड़पती हूँ।"[4] मित्रो का विद्रोह, व्यक्ति का अपनी आस्मिता की सुरक्षा के लिए किया गया विद्रोह है, जिसे समाज की कोई परवाह नहीं। इसके बावजूद, उपन्यास के अंत में मित्रो की वापसी यह भी संकेत करती है कि व्यक्ति समाज से पूरी तरह कटा नहीं है, बल्कि उसकी सार्थकता, समाज की एक इकाई बने रहने में ही है। स्वयं सोबती के शब्दों में, "जीवन का व्यापक सत्य किसी भी एक व्यक्ति में निहित नहीं। एक जब दूसरे से और दूसरा जब समूह से जुड़ता है, तभी अपने से परे और आगे देखने की स्थिति में होता है। तभी वह उन सीमाओं को भी लाँघता है, जो समय और समाज की धारा से कटे हुए व्यक्ति पर खुद–ब–खुद लागू हो जाती हैं।"[5]

व्यक्ति के प्रति सम्मान तथा व्यक्तिवाद की स्वीकृति, सोबती के कथा–साहित्य का केंद्र–बिन्दु रहा है। अस्तित्व और अस्मिता के संघर्ष को सोबती ने अपनी रचनाओं में सशक्त रूप से अभिव्यक्त किया है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि व्यक्ति के प्रति यह सम्मान, समाज को विस्थापित करने की शर्त पर नहीं आया है। "सूरजमुखी अंधेरे के" की रत्तिका की लड़ाई जितनी ही बाहर चलती है, उनती ही अंदर भी। प्रस्तुत उपन्यास यह दर्शाता है कि मनुष्य का टूटना और मानवीय संबंधों का बिखरना हमारे समाज की सबसे बड़ी सच्चाई है। जिस व्यवस्था में हम जी रहे हैं, न सिर्फ वह असामाजिक मनुष्य पैदा करती है, बल्कि खुद मनुष्य विरोधी बनती जा रही है। प्रस्तुत उपन्यास का मुख्य पात्र रत्तिका है, जिसे अगर हटा दें, तो उपन्यास में कुछ भी नहीं बच जाता। अतः यहाँ व्यक्ति प्रभुख हो उभरता है, जबकि समाज केवल बाह्य चित्रण के लिए आता है।

'जिंदगीनामा' जिसे सोबती की औपन्यासिक कलात्मकता का चरम बिन्दु कहा जा सकता है, में दो तरह के समाज के वर्ग सामने आए हैं– एक संघर्षशील श्रमिक या खेतिहर वर्ग तथा दूसरा है आभिजात्य वर्ग, जिसका प्रतिनिधित्व शाहजी

करते हैं। उस समय के आभिजात्य वर्ग का जो भी संरचनात्मक स्वरूप उभर कर उपन्यास में आया है, वह संस्थाओं के परंपरागत ढ़ाँचे से बिल्कुल भिन्न है। यहाँ सिद्धान्त और व्यवहार का फर्क देखने को मिलता है।

'यारों के यार' में मध्यवर्गीय समाज के एक विशेष तबके के मानसिक द्वंद्व एवं ऑफीशियल रूटीन को उभारा गया है। निम्नमध्यवर्गीय समाज को उसकी तमाम सामर्थ्य, असामर्थ्य के साथ सोबती ने इस उपन्यास में उभारा है। आधुनिक सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार अमानवीयता को जन्म देती है तथा व्यक्ति अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए किस प्रकार अंतहीन लड़ता है, यह उपरोक्त कथा का प्रस्थान बिन्दु है।

"ऐ लड़की" तथा "समय सरगम" जैसे उपन्यासों का परिवेश शहरी समाज को समाहित किए हुए है। जहाँ "ऐ लड़की" बदलते सामाजिक मूल्यों और सामाजिक संस्थाओं के परिवर्तित रूप को प्रतिस्थापित करता है, वहीं "समय सरगम" नकारात्मक मूल्यों के निषेध और विवाह, परिवार जैसी सामाजिक संस्थाओं के प्रतिस्थापन के विषय में सोचने के लिए विवश कर देता है।

व्यक्ति और समाज के समायोजन और विघटन को सोबती की कलम ने अत्यंत कुशाग्रता से रेखांकित किया है। व्यक्ति की आस्मिता को अपनी रचनाओं में प्रतिष्ठा देने का जो आग्रह हमें सोबती के यहाँ मिलता है उसक काफी श्रेय उस रचनात्मक दौर को दिया जा सकता है, सोबती जिसकी सहभागी रही हैं।

कृष्णा सोबती ने जब लिखना शुरू किया था, वह द्वितीय विश्वयुद्ध के आस–पास का समय था। विश्वयुद्ध की समाप्ति और आधुनिकीकरण की स्थापना ने विचारों, मूल्यों और व्यवस्था में नई क्रांति उत्पन्न कर दी थी। वैचारिक स्वातंत्र्य, बुद्धिवाद तथा मानवतावाद पर जोर देने वाला यह युग व्यक्तिप्रधान समाज तथा रचना का हिमायती था। सोबती के कथा–साहित्य पर भी यह प्रभाव स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। अपनी रचनाओं में उन्होंने अस्तित्व और अस्मिता के प्रश्न को संपूर्णता में उठाया है। व्यक्ति के निजत्व को सोबती के यहाँ प्रतिष्ठा

मिलती है–"मैं सोचता हूँ, मैं हूँ, आज अस्तित्ववाद की यह ध्वनि हमारे प्रबुद्ध लोक–मानस में व्याप्त सबसे तीखी और तेज आहट है। जहाँ समाज के प्रभुत्व में व्यक्ति की साख समाज का अंग होने में भी, वहाँ आज मानव की चेतना निज की ऐकांतिकता को संजोने में है। इसी के साथ जुड़ी है वह मौन अभिव्यक्ति भी, जिसे साहित्य के संदर्भ में हम व्यक्ति की प्रतिष्ठा का नाम देते हैं।"[6]

कृष्णा सोबती के यहाँ व्यक्ति की प्रतिष्ठा का आग्रह, समाज की शर्त पर नहीं आता। व्यक्ति और समाज के मध्य समायोजन बनाए रखने का प्रयास उनकी रचनाओं में मिलता है। अपनी रचनाओं को लिखने से पूर्व उनके सामने न सिर्फ समाज, वरन् व्यक्ति का कैनवस भी स्पष्ट है। व्यक्ति और समाज, दोनों को ही महत्त्व दिया गया है। कहीं मध्यवर्गीय एवं उच्चवर्गीय समाज से संबंधित विषमताएँ हैं तो कहीं व्यक्ति के अंतर्द्वंद्वों का चित्रण है। व्यक्ति और समाज की टकराहट को भी सोबती ने अपनी रचनाओं में स्वर दिया है। शहरी तथा ग्रामीण परिवेश, संयुक्त तथा एकल परिवार, सभी सोबती की रचना–परिधि के अंदर सिमटे हुए हैं। कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त व्यक्ति और समाज, बहुरंगी तथा बहुआयामी हैं।

(ख) सामाजिक संस्थाओं का बदलता स्वरूप

सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक संरचना की व्यवस्थित क्रमबद्धता को स्थिर रखने के लिए अनिवार्य समझी जाती हैं। संस्थाओं का लोकाचारों एवं लोकरीतियों की भाँति विकास हो सकता है अथवा इनका कानूनों की भाँति निर्माण भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, एकपत्नीत्व एवं बहुपत्नीत्व का विकास लोगों द्वारा अनुभव की गई आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप हुआ। बैंकों का उस समय विकास हुआ, जब रूपये उधार लेने या देने की आवश्यकता महसूस हुई।

संस्थाओं के विकास में एक महत्वपूर्ण विशेषता राज्य की शक्ति का विस्तार है। अब राज्य कानूनों एवं नियमों द्वारा अधिक सत्ता का प्रयोग करता है। कभी–कभी लोकाचारों और जनरीतियों को कानूनों में समाविष्ट कर दिया जाता

है। उदाहरणार्थ, एकपत्नीत्व कभी–कभी नये कानूनों के निर्माण में सहायक बनता है, उदाहरण के लिए, हिन्दू कोड बिल। आजकल परिवार के ऊपर राज्य का अनेक तरीकों से नियंत्रण है। परिवार के अनेक परम्परागत कार्यों को राज्य ने ले लिया है। राज्य ने विवाह, तलाक, गोद लेना तथा उत्तराधिकार–सम्बन्धी अनेक कानून पारित कर रखे है। इसी प्रकार अर्थ, शिक्षा एवं धर्म पर भी राज्य का नियंत्रण बढ़ा है।

संस्था का कभी अंत नहीं होता। पुराने संस्थागत आदर्श–नियमों के स्थान पर नवीन आदर्श–नियमों की स्थापना हो सकती है, परन्तु संस्था चलती रहती है। आधुनिक परिवार ने परंपरागत पितृसत्तात्मक परिवार को विस्थापित कर दिया है, परन्तु परिवार की सत्ता विद्यमान है। सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप को राजनीतिक सामाजिक परिदृश्य एवं आर्थिक कारक प्रभावित करते रहे हैं। विवाह, परिवार, समुदाय इत्यादि सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक युग में परिवर्तित होते रहे हैं।

परिवार सभी सामाजिक समूहों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और व्यापक समूह है जिसके अभाव में मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाजशास्त्र के जनक ऑगस्त काँत ने परिवार को समाज की एक आधारभूत इकाई कहा है।

आधुनिक युग में बदलते सामाजिक–सांस्कृतिक परिदृश्य, तीव्र औद्योगीकरण तथा प्रबल नगरीकरण ने विवाह, परिवार एवं समुदाय जैसी संस्थाओं के समक्ष कुछ ऐसी समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं कि इनके आस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह उपस्थित हो गए हैं।

सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप में आ रहे इस बदलाव को कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अत्यंत सजीवता के साथ व्यक्त किया गया है। "डार से बिछुड़ी" की पाशो का विभिन्न पुरूषों द्वारा किया जाने वाला उपभोग टूटते–बिखरते सामाजिक संयोजन को व्यक्त करता है। "मित्रो मरजानी" में विवाहेतर संबंधों की चाह की अभिव्यक्ति, विवाह जैसी सामाजिक संस्था की कमजोरियों को दर्शाती है।

मित्रो के लिए विवाह इच्छाओं के निषेध का नाम नहीं, बल्कि इच्छापूर्ति का ही एक अन्य नाम है, चाहे वे इच्छाएँ समाज द्वारा स्वीकृत हों या फिर अस्वीकृत। उदाहरण के लिए, "मित्रो ने सिरहाने पर सिर रखा और आँखें मींच अपने को समझाया मित्रो रानी! चिंता–फिकर तेरे बैरियों को! जिस घड़नेवाले ने तुझे घड़ दुनिया का सुख लूटने को भेजा है, वही जहान का वाली तेरी फिकर भी करेगा।"[7]

'दिलोदानिश' उपन्यास में विवाहेतर संबंध खुलकर सामने आते हैं। कुटुम्बप्यारी यहाँ परंपरागत परिवार का प्रतिनिधित्व करती है, जबकि महकबानों विवाहेतर सम्बंधों का प्रतिनिधित्व करती है। जिन संबंधों को समाज अब तक छिपा रहा था, अब वे खुल कर सामने आते हैं। महकबानो और वकील कृपानारायण के संबंधों के विषय में न सिर्फ परिवार के लोग जानते हैं, बल्कि परिवार से बाहर के लोग भी। वकील साहब, अपनी पत्नी कुटुम्ब के साथ परिवारिक और सामाजिक मर्यादाओं की वजह से जुड़े हुए हैं। उनके व्यक्तिगत प्रेम का आवेग तो महक के साथ संबंध में ही परिलक्षित होता है। विवाह नामक संस्था के अस्तित्व पर ही प्रश्न–चिन्ह यहाँ लगना शुरू हो जाता है। वकील साहब के जीवन में महक की मौजूदगी को बऊआजी की भी दबी–छुपी स्वीकृति है। महक और कुटुम्ब का अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए किया जाने वाला संघर्ष वस्तुतः संस्थागत मूल्यों और संस्था से इतर मूल्यों का संघर्ष है। वकील साहब की सामाजिक मर्यादा का निर्वाह करने के लिए यदि पत्नी जरूरी है तो दिलो–दिमाग की ताज़गी के लिए रखैल की मौजूदगी भी अनिवार्य है।

वकील साहब के मन में इस विवाहेतर संबंध को ले कर कहीं कोई अपराध–बोध नहीं। उनके लिए तो ये कुछ वैसी पाबंदियाँ हैं जो बिना साँचे के ढ़ल पड़ी है। इस तरह से अपनी हरकतों को जायज ठहराने के लिए वे हर संभव दार्शनिक तर्क प्रस्तुत करते हैं। दूसरी तरफ कुटुम्बप्यारी भी अपना प्रतिशोध लेती है भैरव बाबा की अंकशायिनी और उनकी संभावित संतान को गर्भ में धारित कर।

वकील साहब अपनी पत्नी की इस हरकत को देख कर भी अनदेखा करते हैं लोक लाज की वजह से।

यहाँ पति–पत्नी के मध्य लैंगिक अविश्वसनीयता खुल कर सामने आती है, जो कि विवाह नामक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था के पतन के प्रमुख कारणों में से एक है। लेकिन यही वकील साहब महकबानों की खान साहब से नजदीकी बर्दाश्त नहीं कर पाते बावजूद इसके कि महक उनकी ब्याहता नहीं, तथा उस पर कानूनन उनका हक नहीं बनता। व्यक्ति की अस्मिता तथा संस्थागत मूल्यों के मध्य का संघर्ष प्रस्तुत उपन्यास में प्रमुख रूप से उभर कर आया है।

"जिंदगीनामा" में भी सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप में आ रहे परिवर्तन को उनकी सूक्ष्मता में रूपायित किया गया है। फतेह और शेरा के तथा गणपत और महरी के संबंध मान्यता प्राप्त नहीं; बावजूद इसके वे अपने संबंधों पर अडिग रहते हैं, तथा फतेह और शेरा तो क्रमशः अपने संबंधों पर सामाजिक स्वीकृति की मुहर लगवाने में कामयाब भी हो जाते हैं। बड़े शाहजी और राबयाँ का संबंध भी पारंपरिक संस्थागत मूल्यों से इतर है, लेकिन जिसका खुलकर विरोध किसी के द्वारा नहीं किया जाता। शाहजी द्वारा राबयाँ को नथ पहनाने का आग्रह एवं जमीन के एक बड़े हिस्से को उसके पिता अलिये के नाम कर देना वस्तुतः विवाहेतर संबंधों को सामाजिक मर्यादा पहनाने का एक प्रयत्न है, जिसका विरोध शाहनी, चाह कर भी प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर पाती है। शाहनी से विवाह के बावजूद भी शाहजी एक समानान्तर संबंध स्थापित करने का प्रयास करते हैं, राबयाँ के साथ।

'ऐ लड़की' तक आते–आते, कृष्णा सोबती विवाह नामक संस्था की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिन्ह लगाती हैं। बेटी द्वारा अविवाहित रहने के निर्णय की माँ, कथा के आरंम्भ में आलोचना करती है, परन्तु अपनी जीवन–यात्रा का अवलोकन करने के पश्चात् वह उसके इस निर्णय को स्वीकृति प्रदान करती है।

"समय सरगम" परम्परागत सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप को चुनौती देता है। आरण्या और ईशान, दो वृद्ध हैं, जो परम्परागत परिवार के दायरे से बाहर,

परिवार के एक नये स्वरूप को ढूंढ़ लेते हैं। आरण्या के चेहरे की झुर्रियाँ सताई हुई रेखाएँ नहीं हैं। अपने वक्त को उसने अपने ढ़ंग से खुद जीया है। अभी भी उसमें गहरी जिजीवषा और जीवन के स्वीकार का भाव भरपूर मात्रा में बचा हुआ है। सर्तकता और सावधानी के साथ वह इस बचे हुए जीवन को जी रही है। वह खुश है कि जी रही है क्योंकि उसके साथ के तो कभी के जा चुके हैं। चीजों की गंध और स्वाद के लिए उसकी इंद्रियाँ अभी पूरी तरह चौकन्नी हैं। मेज पर पड़े फल रंग–रूप–गंध से उसे अपनी ओर खींचते हैं, ".....मजा ले फलों की तरावट का! अभी सब कुछ कल का सा ही है। अपनी धुरी पर टिका है। हिल भी जाए तो भी क्या! वक्त है। अंतिम पड़ाव वाली भूमिका कभी–भी पास खड़ी हो सकती है, होगी। उसे होना है। सबकी होती है।"[8] मृत्यु की वास्तविकता को जान कर भी वह उस पर कैसे भी अमूर्त और छद्म चिंतन से बचती है। जो होना है, उसका डर उसके वर्तमान को नहीं छूता। इसकी छूट ही वह उसे नहीं देती।

आरण्या जीवन को टुकड़ों में नहीं वरन समग्रता में जीती है। जो बीत चुका है, उसे याद कर निराशा होने के विरूद्ध वह अपने को कड़ी चेतावनी देती है। अपने अंदर झाँकने पर जब कभी उसे हताशा और घुटन जैसा कुछ अनुभव होता है, वह कमरे की बंद खिड़की खोलकर बाहर झाँकने लगती है "....देखने को क्या नहीं.....बहती रहो। धूप सनी हवाओं जब तक जीती हूँ, मुझ तक पहुँचती रहो। मैं अपने निज के समय को गुंजान रखना चाहती हूँ। जो भी प्रतिफलित है सिरजित है, अक्षरों की क्यारी में उसी को अंकित करना चाहती हूँ।"[9]

आरण्या से मिल कर ईशान को यह लगता है कि अभी सब कुछ रीत सा नहीं गया है। भावनात्मक रूप से ईशान और आरण्या काफी निकट आने लगते है।

आरण्या के संपर्क में ईशान के साथ कामिनी, दमयंती, और प्रभुदयाल जैसे लोग आते हैं, जो भिन्न स्थितियों के बावजूद उम्र के उसी दौर से गुजर रहे हैं। पुराने परिवार टूट चुके हैं जो छोटी–बड़ी तल्खियों के बीच आदमी को शरण एवं

सुरक्षा देते थे। आज के एकल परिवारों ने वृद्धावस्था को और भयावह बना दिया है। जिन वृद्धों के पास कोई सहारा नहीं, वह ओल्ड एज होम में गुजारा कर रहे हैं।

ओल्ड एज होम परिवार जैसी संस्था के एक नये स्थानापन्न के रूप में उभर कर सामने आए हैं। चारों तरफ से खारिज वृद्धों को शरण मिलती है ओल्ड एज होम में। भारत में इनका आविर्भाव पश्चिमी समाज की तर्ज पर ही हुआ है।

एक तरफ आरण्या और ईशान हैं जो परिवार के परंपरागत स्वरूप को चुनौती देते हुए एक नया परिवार बनाते हैं, दूसरी तरफ हैं ओल्ड एज होम के सदस्य, जो परिवार के स्वरूप को इस संस्था में तलाशने का प्रयास करते हैं। परंपरागत संस्थाओं से छीज कर और टूट कर भी एक नया परिवार बना लेते हैं।

परिवार मानव जीवन की आधारशिला है। दिन भर की भागम दौड़ से लौट कर मनुष्य जब शाम को घर पहुँचता है तो उसे शांति–सुख की प्रतीति होती है। परिवार में व्यक्तियों के पारस्परिक माधुर्यपूर्ण व्यवहार परिवारिक सम्बंधों को सुदृढ़ एवं सौहार्द्रपूर्ण बनाते हैं। आज देश में प्राचीन काल से चली आ रही संयुक्त परिवार की परम्परा की नींव हिलती हुई दिखाई दे रही है। प्राचीन समय में, जब तक भूमि ही आय का और उत्पादन का एकमात्र जरिया थी, संयुक्त परिवार एक स्वाभाविक संस्था थी, किन्तु जब आजीविका के अन्य साधन भी विकसित हो गए तो संयुक्त परिवार टूटने को बाध्य हुआ। संयुक्त परिवार का विघटन वस्तुतः सामंतवादी समाज व्यवस्था के टूटने का द्योतक है। अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार–प्रसार, नारी का स्वतंत्र एवं आत्मनिर्भर होता हुआ व्यक्तित्व एवं व्यक्ति के आत्मकेंद्रित होने की प्रवृत्ति ने संयुक्त परिवार के विघटन को प्रोत्साहित किया एवं एकल परिवार अस्तित्व में आये। कृष्णा सोबती ने संयुक्त परिवार के विघटन को अवश्यंभावी माना है। उनके शब्दों में, "संयुक्त परिवार, जो हमारे सामाजिक ढ़ाँचे की रीढ़ रही है, टूटने की चपेट में है। बड़े परिवार छोटी इकाईयों में विभाजित हो चुके हैं और इनके साथ ही चमक खो चुकी है भारतीय संबंधों की सघनता और

घनत्व। इन दबावों के सामने इस पुरानी प्रथा को दुबारा ताजा–दम करना मुश्किल ही होगा। इसने जहाँ भारतीय जीवनशैली को सुरक्षा की चौखट दी थी, वहाँ व्यक्ति से उसकी फैसला करने की– अपने निर्णय लेने की क्षमता छीन ली थी।"[10] संयुक्त परिवार में व्यक्तित्व के विकास में होने वाले अवरोधों को राजेन्द्र यादव ने भी जाना और पहचाना है। यादव के अनुसार, "इस संयुक्त परिवार की परम्परा को तोड़ना ही होगा। अब आपके लिए ही कहूँ कि अगर आप खुद जिन्दा रहना चाहते हैं, या चाहते हैं कि आपकी पत्नी भी जिन्दा रहे, तो सिवा इसके कोई रास्ता नहीं कि अलग रहिये। जैसे भी हो अलग रहिये।"[11]

अपनी रचनाओं में कृष्णा सोबती सिर्फ संयुक्त परिवार के विघटन को ही प्रस्तुत नहीं करतीं, बल्कि एकल परिवारों की टूटन को भी अभिव्यक्त करती हैं। व्यक्ति–स्वातंत्र्य का सोबती की रचनाओं में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाशो से ले कर आरण्या तक, जैसे उनके पात्र व्यक्ति स्वातंत्रय का प्रतिनिधित्व करते रहे हैं। सोबती की रचना दृष्टि जीवन में एकाकीपन के महत्त्व को समझती है, "अपने को किसी के साथ क्योंकि कभी बाँटा नहीं है, इसलिए लौट–पलटकर अपना बिन्दु मैं खुद ही बनी रहती हूँ।"[12] अकेलापन मनुष्य को जो विवेकदृष्टि देता है, सोबती के यहाँ उसकी कद्र है, "मैं किसी को नहीं पुकारती जो मुझे आवाज देगा, मैं उसे जवाब दूँगी।"[13] अकेलेपन और स्वतन्त्र जीवन चेतना की सोबती पक्षधर रहीं हैं, जो कि उनकी रचनाओं में बार–बार उभर कर आया है। 'ऐ लड़की' की अम्मू लड़की की स्वतंत्रता की कायल है, "तुम तो अपने में आजाद हो। तुम पर किसी की रोक–टोक नहीं। जो चाहों, कर लो।"[14]

अकेलेपन और स्वतन्त्र जीवन चेतना की पक्षधर होने पर भी सोबती अपनी रचनाओं में समाज विरोधी या परम्परा विरोधी बन कर नहीं आई हैं। जीवन में व्याप्त एकाकीपन के लिए उनका कहना है, "वे नन्हें नन्हें मासूम क्षण जो हर सुबह हर सूरज की तरह हर घर में जिन्दा होते हैं, वे यहां नहीं हैं। यहाँ तो एक मैं ही हूँ। मैं ही! मैं, एक अहसास।"[15] कृष्णा सोबती की रचना दृष्टि सामाजिक संस्थाओं

के स्वरूप में आ रहे परिवर्तनों के सामाजिक–आर्थिक कारणों को बखूबी विश्लेषित करती है।

(ग) जीवन के अंतर्विरोध

साहित्य तथा समाज एक दूसरे के पूरक हैं। किसी भी देश के सामाजिक जीवन के भाव जगत एवं बौद्धिक जगत का वर्णन साहित्य द्वारा मिलता है। सामाजिक अंतःसंबंध, मानवीय व्यवहार एवं जीवनमूल्यों का प्रतिबिंबन साहित्य में होता है। साहित्य में सामाजिक जीवन के यथार्थ को ग्रहण करने और नया भावबोध प्रदान करने की क्षमता होती है। साहित्य यदि एक तरफ सामाजिक जीवन की विभिन्न स्थितियों का यथार्थ चित्रण करने में समर्थ होता है, तो दूसरी तरफ भावी समाज की संरचना का संकेत भी प्रस्तुत करता है। किसी भी देश की सामाजिक स्थिति का सही ज्ञान उस देश के साहित्य से मिलता है। अंग्रेज उपन्यासकार मार्गरेट हार्कनैस के नाम अपने एक पत्र में एंगेल्स ने बालजाक के विषय में कहा है, "बालजाक ने, जिसे मैं आगे–पीछे के तमाम जोलाओं से यथार्थवाद का कहीं बड़ा उस्ताद मानता हूँ, अपने कॉमेडी हयुमेन में हमें फ्रांसीसी समाज का अत्यंत अद्‌भुत यथार्थवादी इतिहास दिया है.....वह फ्रांसीसी समाज का पूरा इतिहास गूंथ देते हैं, जिससे आर्थिक विवरण तक की दृष्टि से – मिसाल के लिए, जैसे क्रांति के बाद वास्तविक तथा व्यक्तिगत सम्पति की पुनर्व्यवस्था– मैं जितनी अधिक जानकारी प्राप्त की है, उतनी अधिक जानकारी उस काल के तमाम पेशेवर इतिहास लेखकों, अर्थशास्त्रियों तथा अंकशास्त्रियों को एक जगह जमा करने से भी नहीं मिलती।"[16] अतः एक सफल रचनाकार के लिए आवश्यक शर्त है कि वह युगीन स्थितियों को यथार्थ रूप से अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करे। धर्मवीर भारती ने भी रचनाकार के दायित्व के विषय में कहा है, "अपने इतिहास से, अपने समय से, अपने परिवेश से, अपनी परिस्थितियों से अपनी सम्पृक्ति को ईमानदारी से समझना, समस्त जीवनी शक्ति से यथार्थ को झेलना, अपने पूर्ण उद्‌बुद्ध विवेक से ग्राह्य और अग्राह्य को जाँचना, पूर्ण साहस से जो कठोर सत्य

मिले उसे स्वीकारना और जीवन से सम्पृक्ति हमें जो भी कठिन भूमिका या दायित्व सौंपती है उसका पूरी निष्ठा से निर्वाह करना, यही राह लेखक की सदा से रही है।"[17]

लेखकीय धर्म का निर्वाह सोबती के यहाँ है या नहीं तथा अपनी रचनाओं में जीवन का जो स्वरूप वह प्रस्तुत कर रहीं हैं, वे किस हद तक प्रामाणिक हैं, इस पर हम विचार करेंगे। जीवन कैसा है, और कैसा होना चाहिए, यह शुरू से ही विवादास्पद प्रश्न रहा है। सुधारवादी या आदर्शवादी रचनाकार जीवन कैसा होना चाहिए पर जोर देते हैं, जबकि यथार्थवादी रचनाकार जीवन कैसा है का प्रस्तुतिकरण करते हैं। कृष्णा सोबती यथार्थ के इस आग्रह को रचना के लिए आवश्यक मानती हैं। यही वजह है कि वे यथार्थ को ध्यान में रख कर ही अपने पात्रों और उनके जीवन को प्रस्तुत करने का प्रयास करती हैं।

कृष्णा सोबती के पात्रों का जीवन अंतर्विरोधों से भरा हुआ दिखता है। उनकी रचनाओं के पात्र जीवन को दो स्तरों पर जीते हुए दिखाई देते हैं– एक उनका व्यक्तिगत जीवन तथा दूसरा उनका सामाजिक जीवन। इस सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में सामंजस्य न बैठा पाना ही उनके अंतर्विरोधों को उभारता है। मित्रो अपनी शारीरिक अतृप्ति की बातें तो खुलकर परिवारवालों के सामने कह उठती है परंतु जब परपुरूष से शारीरिक संबंध बनाने का अवसर आता है, तब वह पीछे हट जाती है। अपनी माँ की दुर्दशा उससे छिपी नहीं रहती, "एकाएक जाने क्या हुआ कि भय के मारे मित्रो का कलेजा दहल गया। अँधेरे में मुँह बाए सूने किवाड़ों को देखा तो आँखों में कोई बिजुरिया कौंध गई। मसान–सा सूना भाँय–भाँय करता घर भूतों के डेरे–सा दिखा और कलपती माँ कोई भूखी–प्यासी डाकिन–सी!"[18] मित्रो का वापस लौट आना पारिवारिक मूल्यों के प्रति उसकी निष्ठा को ही दर्शाता है। मित्रो के चरित्र के इस अंतर्विरोध की वजह उसका सामाजिक परिवेश एवं परिस्थितियाँ हैं। मित्रो के स्वभाव की रसिकता उसकी माँ बालों की देन है, जो स्वयं एक रमणी है, तथा जिसने पति को छोड़ कर न जाने

कितने मर्दों को अपने इशारों पर नचाया है। विवाह जैसी संस्था को उसने जाना नहीं। अपने परिवेश का असर मित्रो के व्यक्तित्व अैर विचारों पर पड़ता है। समस्या तब उठ खड़ी होती है, जब उसका विवाह एक संयुक्त परिवार में होता है, जहाँ पारिवारिक निष्ठा एक आवश्यक मूल्य है। मित्रो अपनी जिठानी सुहागवन्ती तथा सास दोनों का ही सम्मान करती है। यही नहीं, जब घर की छोटी बहू सास या जिठानी के साथ दुर्व्यवहार करती है, तो मित्रो सास और जिठानी का पक्ष लेती है। फूलवन्ती जब सुहाग से अपने कपड़ों के जोड़ें वापस माँगती है, तो मित्रो उसे रोकती है, "मँझली ने कपड़े जिठानी की झोली में डाल दिए– तुम्हें सौंह गुरूओं की जिठानी, जो तुम फूलाँ को लौटाओ! इस नामुरादन से तो किसी कँगले को दे डालना।"[19] यही नहीं, जरूरत पड़ने पर मित्रो अपने गहने भी सरदारी को दे डालती है, घर पर आई आर्थिक विपन्नता को टालने के लिए। अतः गौर से देखने पर जो बात सामने उभर कर आती है, वह यह है कि मित्रो का चरित्र अंतर्द्वंद्वों से भरपूर है। यदि वह परिवार की मान–मर्यादा को बचाने के लिए प्रयत्न करती है, तो दूसरी तरफ अपनी शारीरिक जरूरतों का खुलासा करने में भी नहीं हिचकिचाती। जब उसकी इच्छाएँ और परिवार या समाज की मर्यादाएँ टकराती हैं, तब वह अपनी इच्छाओं की बलि दे देती है और सामाजिक मूल्यों को प्रमुखता देती है।

चारित्रिक अंतविरोध 'डार से बिछुड़ी' की पाशो के यहाँ भी उभर कर आता है। अपने मामा–मामियों द्वारा प्रताड़ित किए जाने पर वह परिवार से भाग खड़ी होती है, एवं शेखों के यहाँ बैठी अपनी माँ के पास चली जाती है। लेकिन अंत में उसका सारा प्रयास अपनी बिछुड़ी डार या अपने परिवार से ही आन मिलने का है। जब पाशो अपनी वैयक्तिक इच्छाओं की पूर्ति परिवार में नहीं होते देखती है, तब वह उसको नकार देती है, लेकिन जब एक बार का थिरका उसका पाँव जिन्दगानी धूल में मिला देता है, तब वह परिवार की शरण और सुरक्षा पाने के लिए व्यग्र हो उठती है।

सामाजिक मर्यादाओं का पालन एवं नकार, "दिलोदानिश" के चरित्रों में भी मिलता है। वकील कृपानारायण के परिवार में बीवी कुटुम्बप्यारी है, बच्चे हैं, तो दूसरी तरफ रखैल महकबानों और उसके बच्चे भी है। कुटुम्ब से अगर वह सामाजिक मर्यादा की वजह से जुड़े हुए हैं, तो महक से प्रेम के आवेग की वजह से। महक के साथ उनका सम्बन्ध सामाजिक मर्यादा का निषेध है, जिसके लिए वे जायज तर्क ढूढ़ लेते हैं, "जिस्म को राहत चाहिए होती है। पर दिलों दिमाग भी कुछ माँगते हैं। सारा खेल खाने–पीने–सोने और घर चलाने का ही तो नहीं। अगर है ही तो उसकी अदायगी भी क्या हमीं को करनी होगी! क्या सिलसिला है! कुछ पाबान्दियाँ अपने साँचे में ढ़ाल देती हैं और कुछ बिना सोचे भी चल निकलती हैं।"[20] लेकिन साथ–साथ ख़ानदान की मान–मर्यादा और रीति–रिवाजों को निभाना भी जरूरी समझते हैं। बकौल वकीलसाहब, ".....बड़े मुकद्दमों की कमाई बीवी के हाथ और छोटे–मोटे की खुशनुमाई घर के बाहर। आख़िर जमें हैं गृहस्थी में। बिरादरी में दबदबा है। साख है। उसके लागू किए गए कायदे–कानून से भी कैसे बाहर जाएँगे! मर्यादा है। बाकी साहिब इश्क–मुहब्बत, सो पानदान की तरह साथ लगे ही हैं।"[21] इसलिए वह महक के फराशखाने में रात तो बिता सकते हैं, लेकिन अपने घर में महक के आने की कल्पना नहीं कर सकते, "कृपानारायण ने यकायक आँखें खोल दीं और घरघराते–घबराए गले से कहा– जानम, आप यहाँ कैसे! किस दरवाजे से अन्दर आना हुआ! किसी ने देखा तो नहीं आपको!"[22] अपने बच्चों की शादी के अवसर पर भी कृपानारयण महक को हवेली से दूर रखना चाहते हैं। जब शारीरिक ऊर्जा का स्त्रोत धीरे–धीरे सूखने लगता है तब वे महक बानों के साथ अपने संबंधों को धीरे–धीरे समाप्त करने का प्रयास करने लगते है। लेकिन जब महकबानो खाँ साहिब का दामन थाम लेती है, तो वकील साहब को यह नागवर गुजरता है।

कुटुम्बप्यारी, छुन्ना एवं महकबानो भी प्रारंम्भ में तो वकील साहब और बिरादरी के कायदे–कानूनों को मानती हैं, परन्तु धीरे–धीरे अपने प्रतिरोध को स्वर देने लगती हैं। कुटुम्बप्यारी, वकील साहब के महक के साथ संबंध को ले कर

यदा–कदा आपत्ति प्रकट किया करती है, परन्तु साथ ही नाते–रिश्तेदारी एवं तमाम रस्मों–रिवाजों को भी निभाती है। बदरू और मासूमा के जन्म पर कुटुम्बप्यारी जल कर राख हो जाती है। वह वकील साहब से बच्चों को ठिकाने लगाने की बात भी करती है, "हम आपकी जगह होते तो सैर–सपाटे के बहाने दोनों बच्चों को भूली भटियारन के तालाब में गुम करवा देते।"[23] बदरू के जन्म पर बउआजी द्वारा महक को दिये गये कंगन को भी वह वापस माँग लेती है, लेकिन जब मासूमा की शादी होती है, तो वह उसके लिए कपड़े–गहने बनवाने में कोई कोताही नहीं करती। कुटुम्ब, अपना प्रतिकार दबे–छुपे लेती है, भैरों बाबा की अंकशायिनी बन कर। यही नहीं, भैरों बाबा उसकी संभावित संतान के पिता हैं, यह जान कर भी वह कोई असंगत व्यवहार नहीं करती। किसी प्रकार का कोई पछतावा उसके अंदर से नहीं उभरता। वह अपने किए को मन ही मन जायज ठहराने लगती है, "एक ही आदमी जाने शतरंज की कितनी चाले चला करता है। पूरी गृहस्थी को अलग–अलग गोटों से खेलता है। किसी को रिझाता है, पटाता है, सताता है। ज़ेर–साया में तो हम पड़ें है। इनके लिए तो कसोरा हैं। पिया, जी भर गया तो दूसरा उठा लिया। और? हम भी क्या यही कर रहे हैं ? यह क्या खटखटाने लगा? हमें क्या झकझोरने लगा है? इधर बढ़ते हुए बाबा।"[24]

महकबानों भी आरम्भ में वकील साहब की तमाम ज्यादतियाँ बर्दाश्त करती रहती है, ख़ानदान की मान–मर्यादा के नाम पर। वह मानती है कि, "दुनिया में दो ही नेमते हैं, साहिब, बेटा और बेटी। आपने हमें दोनों दिए।"[25] लेकिन बेटे–बेटी के भविष्य, स्वयं की सुरक्षा और जेवरों का मामला वकील साहब और महक के संबंधों को एक निर्णायक मोड़ पर छोड़ देता है। महकबानों एक समर्पिता रखैल का चोगा छोड़ कर एक कद्दावर, खुद्दावर स्त्री का रूप धारण कर लेती है। वकील साहब से अपने जेवरात वापस ले कर रहती है। अब महक आत्मविश्वास से भरपूर हो कह उठती है, "आज से पहले तो हम औरत भी नहीं थे। ओढ़नी थे, अंगिया थे, सलवार थे।.....जूती अपनी थी और पाँव किसी को सौंप रखे थे।"[26] महक में आये इस बदलाव पर वकील साहब विश्वास नहीं कर पाते, "यह वह औरत तो नहीं, जिसे

कुछ देर पहले हम उस घर में छोड़ आए थे।"[27] एक पराश्रिता से एक स्वावलंबी औरत तक का सफर महक के व्यक्तित्व को परिष्कृत करता है।

वकील साहब की विधवा बहन दुन्ना भी शनै–शनैः सामाजिक रीतियों के विरूद्ध अपने प्रतिकार को व्यक्त करती है। ससुराल से वह सारे गहने लेकर मायके लौट आती है। जब उससे गहनों का ब्यौरा पूछा जाता है, तो वह चाभी छूट जाने का बहाना बनाती है। कुछ समय बाद यही दुन्ना भुवन से आर्यसमाजी ढ़ंग से विवाह कर लेती है जो कि तमाम बिरादरी और समाज के लिए एक आश्चर्यजनक घटना है। इससे पूर्व दुन्ना जो भी प्रतिरोध सामाजिक मर्यादा के विरूद्ध करती थी, वे इतने प्रगट रूप से व्यक्त नहीं होते थे, बल्कि काफी हद तक दबे–छुपे रहते थे। उसका विधवाओं के लिए निर्धारित सफेद धोती नहीं पहनने की जिद भी एक इसी प्रकार का उदाहरण है। एक तरफ घरवालों के दबाव में आकर वह भजन–पूजा में ध्यान लगाने का प्रयास करती है तो दूसरी ओर ताश के पत्तों और संगीत के माध्यम से दिल बहलाती है। कृष्णा सोबती के चरित्र स्थापित व्यवस्था का विरोध तो करते हैं, लेकिन बहुत खुल कर या विद्रोहात्मक रूप में नहीं। जिन्दगी से जुड़े रहना इनके लिए आंतरिक अनिवार्यता है। जिन्दगी एक ऐसी ठोस वास्तविकता है जिससे निरन्तर जूझते रहना और उसमें से रास्ता निकालना इनका उद्देश्य बन जाता है।

'ऐ लड़की' में अम्मू का चरित्र 'विरूद्धों का सामंजस्य' है। कभी परंपरा का नकार और आधुनिक जीवन मूल्यों का स्वीकार है तो कभी परंपरागत मूल्यों का स्वीकार और आधुनिक जीवन दृष्टि पर प्रश्नचिन्ह। अम्मू एक तरफ वृद्ध और व्याधिग्रस्त शरीर से मुक्ति भी पाना चाहती है तो दूसरी ओर जीवन के प्रति लगाव भी उसमें है। मृत्यु के अंतिम क्षणों में भी अम्मू जीवन के प्रति लगाव को नहीं छोड़ पाती। वह अदम्य जिजीवषा और मृत्यु की आशंका के मध्य संघर्ष कर रही है, "मेरी देहरी की साँकल तो खुल चुकी है। दरवाजे पर खटखट हुई नहीं कि मैं बाहर। मगर सुन लड़की मैं मजबूती से अड़ी हुई हूँ।"[28] जीवन के अंतिम समय में भी वह स्वादिष्ट भोजन की कामना करती है। कहानी दो विपरीत स्थितियों का मिलाप है।

एक तरफ मरणासन्न अम्मू है तो दूसरी तरफ लड़की है, जिसका पूरा जीवन शेष है। अम्मू ने गृहस्थ जीवन जिया है, एक भरा–पूरा परिवार पाया है, परन्तु मृत्यु शैय्या पर वह स्वयं को अकेला महसूस करती है, "सुनो, बेटा–बेटियाँ, नाती, नातिन, पुत्र, पौत्र, मेरा सब परिवार सजा हुआ है। फिर भी अकेली हूँ।[29] सारा जीवन परिवार को चलाने में अम्मू ने अपना निजत्व तिरोहित कर दिया, "इस परिवार को मैंने घड़ी मुताबिक चलाया पर अपना निज का कोई काम न सँवारा।"[30] इसलिए वह अकेलापन को विवेक दृष्टि का जन्मदाता मानसी है, "लड़की, अपने आप में आप होना परम है, श्रेष्ठ है।"[31] एक तरफ तो वह लड़की के एकाकी जीवन की अभिशंसा करती है, लेकिन दूसरे ही क्षण उसे इसके लिए फटकारती भी है, "इतना बता दो कि खुदमुख्यत्यारी चलाओगी किस पर? तेरी पंक्ति में कोई नहीं, न किसी की माँ, न दादी, न नानी, लड़की तुम हो वनस्पति–कुश–घास–तिनका।"[32] इसी प्रकार, जिस पुत्र–प्रेम के लिए अम्मू अपने पिता की आलोचना करती है, जीवन के अंतिम क्षणों में वही पुत्र–प्रेम उसकी बातों से व्यक्त होता है। वस्तुतः अम्मू की सोच उसके सामाजिक परिवेश से प्रभावित रही है। अतः उसके यहाँ परंपरागत और नवीन जीवन मूल्यों के मध्य की टकराहट देखने को मिलती है।

मनुष्य और जीवन यथार्थ को उसकी सामाजिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में रख कर जाँचने–परखने का आग्रह सोबती के यहाँ बराबर रहा है। जीवन के बदलते मान–मूल्यों ने सोबती को जो रचनादृष्टि प्रदान की है, वह मनुष्य के, तथा जीवन के अंतर्विरोधों को अच्छी तरह निरीक्षित कर के प्रस्तुत करता है। 'समय सरगम' में ईशान भारतीय डाकसेवा से निवृत्त एक ऑफिसर हैं, जो कि अंधविश्वास और जादू–टोने जैसी चीजों को पूरी तरह खारिज नहीं कर पाते। उनके जन्मदिन पर आरण्या द्वारा लाये गए केक को जब नौकर बहादुर 'दूषित' कह कर फेंक देता है, तो ईशान उसका दृढ़ विरोध नहीं कर पाते। आरण्या इस अंधविश्वास को खारिज कर देती है, लेकिन ईशान खुद को आश्वस्त नहीं कर पाते। इसीलिए कह उठते हैं, "कुछ कह नहीं सकता, आरण्या! बच्चा था तो मेरे पास आया था।.....पहाड़ के लोग शमन की बात कहते हैं। नहीं जानता कि यह

अंधविश्वास है कि किन्हीं आदिम वृत्तियों का भय–संकेत।"[33] ईशान, जो कि प्रथम श्रेणी के अफसर रह चुके हैं, एवं उच्च शिक्षित हैं, अनपढ़ बहादुर की हरकतों को तर्कसंगत ठहराने की कोशिश करते हैं, जो कि उनके चरित्र के अंतर्विरोध को दर्शाता है।

बीते हुए वक्त को न भूल पाने और पकड़े रहने की जिद तथा आने वाले क्षण का सामना न करने की प्रवृति 'तिन पहाड़' की जया के चरित्र में दिखाई देती है। श्री का प्रेम, उसके लिए गुजरा हुआ वक्त नहीं बन पाता, उसके वर्तमान एवं भविष्य को प्रमाणित करता है, दूसरी तरफ तपन से जुड़ने का प्रयास कर के भी जया खुद को पूर्णतः उससे जोड़ नहीं पाती। श्री के लिए उसके मन में आक्रोश है, लेकिन वही श्री जब सामने आता है, जिसने उसे अस्वीकार कर दिया था, तो जया खुद को संयत नहीं रख पाती। इसी तरह श्री जो कि जया को छोड़ किसी अन्य का वरण कर लेता है, जब उसे तपन के साथ देखता है, तो खुद की भावनाओं पर नियंत्रण नहीं रख पाता। जया के चरित्र की साम्यता कुछ हद तक 'परिन्दे' की लतिका से देखी जा सकती है। फर्क सिर्फ इतना है कि जहाँ लतिका जीवन को जीते चली जाती है, वहीं जया आत्महत्या का मार्ग अपनाती है। जया और श्री, दोनों ही अपने–अपने अंतर्विरोधों को जीते हुए दिखते हैं।

चारित्रिक अंतर्विरोध का एक अन्य उदाहरण 'एक दिन' कहानी के धर्मपाल के यहाँ दिखता है। अपनी पत्नी शीला को बिना किसी ठोस वजह के छोड़कर वह दूसरा विवाह कर लेता है। लेकिन जब दूसरी पत्नी कुछ दिनों के लिए घर से बाहर चली जाती है, तो वह शीला के पास आता है, उससे संबंध बनाता है। ऐसा करते वक्त किसी प्रकार की हिचकिचाहट उसके व्यक्तित्व में नहीं दिखती।

कृष्णा सोबती की रचनाओं में उपस्थित चरित्र जीवन से काफी गहराई तक जुड़े हुए हैं। जीवन की सभी परिस्थितियों का स्वीकार उनके यहाँ नहीं। जीवन से सामंजस्य बिठाने का उनका प्रयास जब असफल हो जाता है, तब मन का आक्रोश, विद्रोह बन कर फूट पड़ता है।

संदर्भ सूची

[1] जैनेंद्र कुमार, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1953, पृ. 25

[2] शिवकुमार मिश्र, प्रेमचन्द : विरासत का सवाल, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 1993, पृ. 18

[3] गंगाधर झा, आधुनिक मनोविज्ञान और हिन्दी साहित्य, पृ. 162

[4] कृष्णा सोबती, मित्रों मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2005, पृ. 20

[5] कृष्णा सोबती, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005, पृ. 72

[6] कृष्णा सोबती, 'सोबती एक सोहबत' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,, 1989, पृ. 23

[7] कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2005, पृ. 21

[8] कृष्णा सोबती, 'समय सरगम' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005, पृ. 8

[9] कृष्णा सोबती, मित्रों मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय 'संस्करण, 2000, पृ. 56

[10] कृष्णा सोबती, 'सोबती एक सोहबत' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,, 1989, पृ. 403

[11] राजेन्द्र यादव, सारा आकाश, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 1971, पृ. 176

[12] कृष्णा सोबती, 'हम हशमत' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,, 1977, पृ. 266

[13] कृष्णा सोबती, 'ऐ लड़की' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,, 1991, पृ. 65

[14] कृष्णा सोबती, 'हम हशमत' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,, 1977, पृ. 70

[15] वही, पृ. 254

[16] राल्फ फॉक्स, उपन्यास और लोकजीवन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, , तृतीय संस्करण, 1980, पृ. 66–67

[17] सुनंत कौर, समकालीन हिन्दी कहानी स्त्री : पुरूष संबंध, अभिव्यंजना प्र०, 1991, पृ. 15

[18] कृष्णा सोबती, 'मित्रों मरजानी' राजकमल प्रकाशन, 2005, पृ. 98

[19] वही, पृ. 32

[20] कृष्णा सोबती, 'दिलो दानिश' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,, 2007, पृ. 13

[21] वही, पृ. 45

[22] वही, पृ. 131

[23] वही, पृ. 43

[24] वही, पृ. 147

[25] वही, पृ. 14

[26] वही, पृ. 208

[27] वही, पृ. 208

[28] कृष्णा सोबती, 'ऐ लड़की' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृ. 118

[29] वही, पृ. 16

[30] वही, पृ. 19

[31] वही, पृ. 91

[32] वही, पृ. 74

[33] कृष्णा सोबती, 'समय सरगम' राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2000, पृ. 88

तीसरा अध्याय

कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त जीवन–मूल्य और आधुनिक दृष्टिकोण

(क) समाज और जीवन

(ख) परंपरागत और आधुनिक जीवन–मूल्यों का द्वंद्व

(ग) छटपटाहट, पीड़ा और ऊब

(घ) जीवन की सहज स्वीकृति

(क) समाज और जीवन

समाज से इतर व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं होती और व्यक्ति के बगैर समाज का भी कोई अस्तित्व नहीं होता। मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी कहा जाना, व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्थापित करता है। एक ही समाज में रहने वाले लोग भिन्न स्तरीय होने के कारण अनेक वर्गों में विभक्त हो गए हैं। विभिन्न श्रेणियों के कारण हर वर्ग के लोगों का एक पृथक विशिष्ट समुदाय बन गया है। प्रत्येक समुदाय के लोगों की अपनी–अपनी विशिष्टता है, जिसके आधार पर उनका वर्ग–निर्धारण होता है।

वर्ग भेद की यह भावना आदिकाल से हमारे समाज में चली आ रही है। बहुसंख्यक समाज में लोगों की विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं, इसलिए ऊँच–नीच का वर्गभेद समाज में निरंतर चलता आ रहा है। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक समाज में दो वर्ग प्रधान रूप से दिखाई पड़ते हैं, एक उत्पादन पर स्वामित्व रखने वाला बुर्जुआ वर्ग तथा उत्पादन करने वाला सर्वहारा वर्ग। आज का समाज तीन वर्गों में विभाजित है– उच्च वर्ग, मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग।

कृष्णा सोबती के कथा साहित्य में समाज के इन तीनों ही वर्गों एवं उनके जीवन का यथार्थ चित्रण करने का प्रयास मिलता है।

क. उच्च वर्ग : कृष्णा सोबती ने अपनी रचनाओं में उच्च वर्ग की जीवन शैली, रहन–सहन, आचार–विचार तथा मानसिकता को अत्यंत प्रामाणिक बना कर प्रस्तुत किया है। इस वर्ग में बड़े जमींदार, ताल्लुकेदार, पूँजीपति, नेता और बड़े वकील, जज तथा अफ़सर इत्यादि आते हैं। इस दृष्टि से, 'डार से बिछुड़ी' के शेखजी, दिवानजी और वीरजी, 'सूरजमुखी अंधेरे के' का जयनाथ, 'दिलोदानिश' के वकील कृपानारायण तथा 'समय सरगम' के प्रभुदयाल, कामिनी और दमयंती भी इस उच्च वर्ग का

प्रतिनिधित्व करते हैं। 'यारों के यार' के हजारासिंह प्यारा सिंह, अवस्थी एवं 'जिंदगीनामा' के शाहजी भी उच्च वर्ग के प्रतिनिधि हैं।

उच्चवर्ग के पात्रों में दो विशिष्टताओं की तरफ संकेत मिलता है। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो अपनी कुलीनता, वंश–परंपरा तथा आभिजात्य का निर्वाह जीवन–पर्यंत करते हैं, जबकि दूसरी तरफ कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने आर्थिक लाभ के लालच में अपनी आत्मा गिरवी रख दी है। 'डार से बिछुड़ी' में पाशो का भाई, उसे अपने कुल गौरव की याद दिलाते हुए कहता है, "बहना, शेखों का लड़का हूँ तो क्या, माँ तो खत्राणी है।"[1] दूसरी तरफ बरकत दिवान जैसे लोग भी हैं, जिन्हें अपने घर की बहू–बेटियों को बेचने में भी कोई लाज नहीं।

उच्च वर्ग में व्याप्त भोग–विलास के वातावरण को कृष्णा सोबती ने वकील कृपानारायण, और सरदार हजारासिंह प्यारासिंह एवं अवस्थी जैसे पात्रों के माध्यम से व्यक्त किया है। इस वर्ग में पिता के समक्ष पुत्र का मदिरापान अशिष्टता का द्योतक नहीं, "बाबाजी सुरंग की ऊँचाइयों से पास आन उतरे। जब पहली बार गिलसिया हाथ में दी तो बोले थे– कृपा तुम्हें प्रसादी दी जा रही है। एक ही घूँट में पीनी होगी।"[2] अनैतिक सम्बन्ध तथा विवाहेतर सम्बन्धों के लिए भी इस वर्ग में पूरी जगह है। किसी प्रकार का कोई पछतावा नहीं, वकील कृपानारायण (दिलोदानिश) अपने विवाहेतर सम्बन्ध को भी जायज ठहराने के तर्क गढ़ लाते हैं, "जिस्म को राहत चाहिए होती है। पर दिलो–दिमाग भी कुछ माँगते हैं।...कुछ पाबन्दियाँ अपने साँचे में ढाल देती हैं और कुछ बिना साँचे के भी चल निकलती हैं।"[3] दूसरी तरफ उनकी पत्नी कुटुम्बप्यारी भी भैरों बाबा से संबंध बनाती है, बगैर किसी पछतावे के, "क्या हर्ज है, ऐसी बेवफाई पर। यह भी तो फ़राशखाने में उड़ेल आते हैं अपने को।"[4]

उच्च वर्ग में कुछ ऐसे चरित्र भी हैं जिनमें वर्गगत अहं के होते हुए भी कुलीनता, वंश मर्यादा और सच्चरित्रता मौजूद है। 'डार से बिछुड़ी' में शेखजी,

दिवानजी और वीरजी जैसे पात्रों में मानवीय दया, ममता और क्षमा के भाव कूट–कूट कर भरे हैं जो इनके चरित्र को उदात्तता प्रदान करते हैं। 'जिंदगीनामा' के शाहजी गरीब किसानों की न केवल पूरी देखभाल करते हैं, बल्कि कईयों की गिरवी जमीन को भी वापस कर देते हैं। काशीशाह, गरीब किसानों का मुफ्त इलाज किया करता है, तथा किसानों की जमीन बंधक बनाये जाने के शाहजी के फैसले का भी प्रतिरोध करती है। काशीशाह की मनोवृत्ति शाहजी के ठीक विपरीत है जो मानते हैं कि शाहों का मूत्र जलता है।

ख. मध्य वर्ग : कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में मध्यवर्ग अपनी शक्ति और सीमा के साथ मौजूद है। आजादी के पश्चात् देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण समाज पर भी उसका अभिन्न प्रभाव पड़ा। मध्यवर्ग भी इस प्रभाव से अछूता न रहा। आर्थिक कठिनाईयों से प्रभावित संयुक्त परिवारों की परम्परा में दरार उत्पन्न हो गई और सम्बन्धों में अलगाव उत्पन्न हो गया। समाज में प्राचीन मूल्यों और परम्पराओं का विघटन होने लगा और नवीन मान्यताओं की स्थापना का दौर आरम्भ हुआ। सामाजिक और आर्थिक संघर्ष की स्थिति ने सबसे ज्यादा जिस वर्ग को प्रभावित किया, वह मध्य वर्ग था। प्रो. हुमायूँ कबीर के अनुसार, "आधुनिक भारतवर्ष में मध्यवर्गों का असन्तुलित विकास सम्भवतः सबसे प्रमुख घटना है।"[5]

विकास काल से लेकर आज तक मध्यवर्ग का जीवन और व्यक्तित्व सर्वाधिक उथल–पुथल से युक्त एवं संघर्ष से भरा हुआ है। भारतीय समाज के इस वर्ग को सबसे अधिक मानसिक तनाव घेरे रहता है। मध्य वर्ग एक तरफ तो अतीत की परम्पराओं को उखाड़ फेंकने का साहस नहीं कर पाता, जबकि पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव के कारण उसमें समाज की सड़ी–गली रूढ़ियों से छुटकारा पाने की अदम्य कामना भी छिपी हुई हैं।

समाज के प्रचलित नैतिक प्रतिमानों का विरोध सोबती के अधिकांश पात्र करते दिख पड़ते हैं। 'मित्रों मरजानी' की मित्रो एक ऐसा ही चरित्र है, "यह न तो रवीन्द्र की ओस जैसी नारी है, न शरत या जैनेंद्र की विद्रोहिणी गुत्थी। इसे आदर्श का कोई मोह नहीं है, न समाज का भय, न ईश्वर का। इसके लिए किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं है। यह मात्र मांस–मज्जा से बनी नारी है जिसमें स्नेह भी है, ममता भी, माँ बनने की हौंस भी और एक अविरल बहती वासना–सरिता भी।"[6] मित्रो, मध्यवर्गीय नैतिकता के उस प्रतिमान का उल्लंघन करती है, जिसके तहत कोई स्त्री अपनी शारीरिक जरूरतों का खुलासा नहीं कर पाती। मित्रो सरेआम अपनी जरूरतों को कहती है। मध्यवर्गीय नैतिकता के प्रतिमानों का अस्वीकार रत्ती के यहाँ भी है। एक पुरूष से दूसरे पुरूष तक की दूरी लाँधनेवाली रत्ती अपने वजूद को वापस पाने के लिए विवाहित दिवाकर से संबंध बनाती है, जिसका उसे कोई पछतावा नहीं। लेकिन इस संबंध को वह आगे नहीं बढ़ाती, क्योंकि वह जुड़े हुए को तोड़ना नहीं चाहती।

किसी भी समाज का सम्पूर्ण विकास उसके आर्थिक ढाँचे पर निर्भर करता है। परिवार, समाज, राजनीति, धर्म, साहित्य और कला के विकास में अर्थ की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आते ही सारे सामाजिक स्तरों में परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं। आज के समाज में उच्चवर्ग भौतिक स्तर की समस्याओं का हल पूँजी के आधार पर ढूँढ लेता है। निम्न वर्ग प्रायः महत्त्वाकांक्षाविहीन होता है। सबसे अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है मध्यवर्ग को। एक तरफ तो अर्थाभाव के कारण यह वर्ग अपनी भौतिक स्तर की इच्छाओं की पूर्ति करने में असमर्थ होता है, दूसरी तरफ महत्त्वाकांक्षाओं को दबा भी नहीं पाता। परिणामतः सबसे अधिक घुटन, तनाव एवं निराशा, इसी वर्ग में दिख पड़ती है। 'यारों के यार' उपन्यास के हेडक्लर्क भवानी बाबू, अपने बेटे की मौत की खबर सुनकर भी हृदय पर पत्थर रख ऑफिस का काम निबटाते हैं, एवं तब घर जाते हैं। अपनी नौकरी बचाने की फिक्र उन्हें बेटे की मौत

का मातम भी नहीं मनाने देती। अगले दिन ही बड़े बाबू दफ्तर हाजिर हो जाते हैं,– "बड़े बाबू ने सिर उठा अजीब लुटी–लुटी हारी नज़र से सूरी की ओर देखा और देखते ही आँसू टपकने लगे। जितनी बार रूमाल से आँखें पोंछते, बेटे के लहूलुहान सिर पर किसी मनहूस फाईल का पन्ना चिपका दिखता।"[7]

हमारे देश में असमान शिक्षा प्रणाली की वजह से शिक्षा के अनेक संस्तर उत्पन्न हो गए हैं। आधुनिक शिक्षा प्रणाली वर्गगत भेद को बढ़ावा दे रही है। एक तरफ तो महँगे पब्लिक स्कूल होते हैं, जहाँ मोटी–तगड़ी फीस के बदले शिक्षा की गुणवत्ता का आश्वसन दिया जाता है, दूसरी तरफ ऐसे प्राइमरी स्कूल भी हैं, जहाँ बिल्डिंग के अभाव में पेड़ तले ही स्कूल चलाया जा रहा है, एवं संसाधनों के अभाव में शिक्षा का स्तर भी अत्यंत निम्न है। 'यारों के यार' में क्लर्क सूरी शिक्षा प्रणाली की इस असमानता पर व्यंग्य करता है,– "यार, लानत तो हम सब पर है जो क्लर्क की कुर्सी पर ही पेंशन पा जाएँगे। इस उम्र में हमारा–तुम्हारा छुटकारा तो होने से रहा, हाँ अपने–अपने लड़कों को अच्छे स्कूल–कॉलेजों में पढ़ाओं, सालो, नहीं तो इन्हीं अफसरों के लौण्डे तुम्हारे बच्चों के गालों में भी नाखून देंगे। और किस्मत के मारे वे भी इन्हीं कुर्सियों पर बूढ़ें हो जाएँगे।"[8]

ग. **निम्न वर्ग** : कृष्णा सोबती के उपन्यासों एवं कहानियों में निम्न वर्ग का समावेश प्रायः कम ही हुआ है। उनके यहाँ निम्नवर्ग ज्यादातर या तो कृषक समुदाय से आये हैं, या फिर पारिवारिक सेवक के रूप में। पारिवारिक सेवकों का स्वामिभक्ति, कर्त्तव्यपरायणता एवं निष्ठा की वजह से परिवार में विशिष्ट स्थान बना हुआ है। इनमें 'ज़िंदगीनामा' की माँबीबी एवं राबयाँ, 'डार से बिछुड़ी' की माँ जिंदा समय सरगम का बहादुर एवं 'एक दिन' कहानी की चाची महरी प्रमुख है। इन पारिवारिक सेवकों को भी परिवार के सदस्यों से आदर एवं सम्मान मिलता है, जितना परिवार के किसी निजी सदस्य को मिलता है। 'एक दिन' कहानी की शीला को चाची महरी ने

पाल–पोस कर बड़ा किया है तो 'जिन्दगीनामा' में लाली शाह की देखभाल राबयाँ करती है। लाली भी राबयाँ को बहन के समान समझता है। दूसरी तरफ ऐसे सेवक भी हैं, जो मौका मिलते ही विश्वासघात करने की सोचते हैं। 'सिक्का बदल गया' का शेरा एक ऐसा ही पात्र है, जिसे शाहनी ने पाल–पोस कर बड़ा किया, परंतु जो देश–विभाजन के वक्त शाहनी की संपत्ति को लूटने की योजना बनाता है। दूसरी तरफ दाऊद खाँ भी है, जो शाहनी की हिफाजत का प्रयास करता है।

भूमिहीन कृषक या मजदूर भी सोबती के कथा–साहित्य में कुछेक जगहों पर आए हैं। एक तरफ फरमानअली जैसे किसान हैं, जो अपनी जमीन शाहों के यहाँ गिरवी रख चुका है तो दूसरी तरफ है उसका बेटा मेहरअली, जो अपनी जमीन छुड़वा कर ही दम लेता है। फरमानअली की सोच परंपरागत किसान की सोच है, जबकि मेहरअली नई पीढ़ी का होने की वजह से नई सोच रखता है। वह भूमि के बँटवारे पर भी प्रश्न उठाता है, "जी, जिवियों की मेहनत–मजूरी जट्ट किसान के जिम्मे और घुड़चढ़ी–निगरानी शाहों के। घोड़े पर चढ़ इधर–उधर खेतों पर नज़र मारी, मशीरी की और हर फसल के दाने अपने कोठों में भर लिए। पसीना बहाया तो काम्मियों ने।[9]" मेहरअली का पिता भी उसका समर्थन नहीं करता क्योंकि शाहों की प्रस्थिति (Status) को नजर उठा कर देखने की वह सोच भी नहीं सकता। फरमानअली उसे समझाते हुए कहता है, "पुत्तरा वित्त में रह। काँटोवाले झाड़ी–बूटी में बेर उगाने चला है क्या? ओ भेलया, शाहों की मल्कीयतें लाल बहियों में और हमारी अपनी वजूदों में। शाह जितना हाथ फैलाये सो उसका। जट्ट जितना पसीना बहाए सो उसका।"[10]

निम्नवर्ग में एक समूह वेश्याओं का भी है, जिनकी दशा अत्यंत शोचनीय है। 'गुलाबजल गंडेरियाँ' कहानी की धन्नो हो या फिर 'आजादी शम्मोजान की' की शम्मोजान, ये वेश्याओं के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति अत्यंत खराब है, तथा जो दाने–दाने के लिए मुहताज हैं। मौत की प्रतीक्षा करती

धन्नों पल–पल, तिल–तिल कर मरती हैं। पानी की एक–एक बूँद को तरसती धन्नों की तृष्णा नहीं मरती, "बाबूराम, तुम्हारे बाप ने एक दिन....एक दिन के लिए ही कहो, मुझे सबकुछ मान लिया था। तुम उसके बेटे हो। मुझे ठंढक पहुँचाओ! ढंढक।"[11]

कृष्णा सोबती की कथा–दृष्टि विभिन्न प्रकार के वर्गों तथा उनके जीवन को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करती है। 'डार से बिछुड़ी' जो कि द्वितीय आंग्ल–सिक्ख युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी गई है, में उस सामंतवादी समाज–व्यवस्था का वर्णन है, जहाँ स्त्रियों की स्थिति दासों से भी बदतर है। युद्ध की विभीषिका यदि सबसे ज्यादा प्रतिकूल रूप से किसी को प्रभावित करती है, तो वह है स्त्रियाँ। पाशो को जिस वीरजी के यहाँ शरण मिलती है, वह युद्ध में मारे जाते हैं। पाशो एक बार फिर से निराश्रित हो जाती है, "किन्हीं मजबूत हाथों ने बड़ी माँ को धक्का दे, कन्धों से पकड़ मुझे अपनी ओर खींच लिया।

"सरदार मलिक की रखैल है साहब, बारूद को आग इसी ने दी।

....अपनी ओर ध्यान गया तो देखा ओढ़नी नीचे लटकती है और आगे कपड़ा नहीं। जोर से झटका दे अपने को छुड़ा कर बोली–

"अरे बेदर्दियों, कपड़ा तो ओढ़ लेने दो...."

किसी ने ओढ़नी उठा के मेरे मुँह पर दे मारी और निर्लज्जता से हँस–हँस कर बोला–

"बड़े घर की खटिया, अब तू क्या–क्या न ओढ़ेगी"[12]

नारी–शोषण की यह प्रवृत्ति उस युग की सामंती मानसिकता का परिचायक है। फिरंगियों से लड़ने वाले भारतीय भी नारी–शोषण में चूकते नहीं, "मंझले ने एक ग्रास मुँह में रखा, फिर चौड़ी हथेली पर टिकी थाली नीचे रख दी। दो कदम उठा पास आये और मुझे कंधों से झकझोर चिल्लाये–

"अरी मेरा नासकरनी, मैं ऐसे नहीं मरता, तुझे मारकर ही मरूँगा!

और पीठ पर धौल पड़ने लगी।"[13]

युद्ध की विभीषिका का जीता–जागता वर्णन भी मौजूद है इस उपन्यास में, "चौक में से निकलती माँ–बहनों की टोलियाँ खुली छातियाँ पीटतीं चोह की ओर जाती थीं। .... बड़ी सयानियाँ रह–रह कर बैन करतीं, "तुझ पर कहर रे– हमारे हरे–भरे बाग उजाड़ दिए। हाय फिरंगी..हाय।"

"...रह–रह पास कहीं गोले छूटते थे, धमाके होते थे। ...जिससे लगी खड़ी थी वह पकी देह ठंढी हो नीचे जा पड़ी। पलटकर देखा– कटी बाँहें, खुले सिर, लहूलुहान छातियाँ।"[14]

द्वितीय आंग्ल–सिक्ख युद्ध का वर्णन 'कलगी' कहानी में भी मिलता है। यहाँ सरदार जोधासिंह के सर की कलगी पंजाब के सम्मान का प्रतीक है, जो इस युद्ध में पददलित हो गया है।

कृष्णा सोबती की रचनादृष्टि व्यक्ति और समाज का चित्रण नये परिवेश और नये भावबोध के साथ करती है। सोबती का मानना है कि, "जीवन का व्यापक सत्य किसी भी एक व्यक्ति में केंद्रित नहीं। एक से दूसरा और दूसरे से जब तीसरा जुड़ता है तभी व्यक्ति अपने से उबर कर परे और आगे देखने की सामर्थ्य अर्जित करता है। तभी वह उन सीमाओं को भी लाँघता है जो समय और समाज की धारा से कटे हुए व्यक्ति पर खुद–ब–खुद लागू हो जाती है।"[15] सोबती की रचनाओं में युगबोध और समय संपृक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। अपनी रचनाओं में उन्होंने भारतीय समाज के एक व्यापक फलक को प्रस्तुत किया है, जहाँ सामंतवादी सामाजिक व्यवस्था से लेकर महानगरीय परिवेश शामिल हैं। कस्बाई परिवेश और मनोवृत्ति को बखूबी व्यक्त किया है 'मित्रो मरजानी' में। पंजाब के कस्बे का परिवेश इस उपन्यास में बखूबी उभर कर आया है।

समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार का खुलासा किया है कृष्णा सोबती ने, 'यारों के यार' उपन्यास में। दफ्तरी जीवन की कड़वी सच्चाइयाँ और जनजीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार यहाँ अपनी पूरी तल्खी के साथ उभरे हैं। दफ्तर में क्लर्कों की फिकरेबाजियों से खुलने लगती हैं रिश्वत, भाई–भतीजेदारी और तरक्की के भेद। आज के युग में सच तो जैसे अतीत की वस्तु हो गया है। क्लर्क सूरी कहता है,– "बड़ा दूध का धुला बनता है, साले जैसे मालूम न हो कि नंगई और धोखाधड़ी इस जमाने में गुनाह नहीं– हर आदमी का निबाह है, निबाह....।"[16]

एक दौर था, जब आदमी अपनी काबिलियत और परिश्रम के द्वारा पद और सम्मान प्राप्त करता था, लेकिन आज तरक्की के लिए कई शार्टकट ईजाद कर लिए गए हैं। सूरी कहता है– "तरक्की आजकल काबलियत से नहीं, मुँहचुमाई और पाँवाघिसाई से मिलती है। ....आज के काला बाजार में सिर्फ काली–कारस्तानियों से ही तरक्की मिलती है और उन्हीं से ख्वाबों के महल हकीकत बनते हैं। चाहता है लूटना मजे इस जिन्दगी में तो ब्रादर मेरे, मोहरे रख और मोहरे उठा। रिश्वत दे और रिश्वत ले।"[17]

आज समाज में न तो किसी आदर्श का मोह व्याप्त है ना ही ईश्वर का भय। उपभोक्तावादी संस्कृति ने 'अर्थ' को प्रमुख जीवन मूल्य बना दिया है। तरक्की पाने के लिए आज भ्रष्टाचार धोखाधड़ी, रिश्वतखोरी इत्यादि सामान्य बातें हो गई हैं। बख्शी कहता है– "जो लक्ष्मी के जोर से इस कलयुगी देवी को रिझाएँगे, भेंट चढ़ाएँगे, वही खुशकिस्मत मुरादें भी पाएँगे...।"[18]

दफ्तरी जीवन में भ्रष्टाचार इस कदर घुल चुका है कि उससे छुटकारा पाना मुश्किल हो गया। मनुष्य का 'चरित्र' कहीं खो गया है। सरदार हजारसिंह प्यारा सिंह का दफ्तर भी भ्रष्टाचार का अड्डा है। बड़े सरदार साहब द्वारा साईंदास से पूरी

तफसील सुनी जाती है। स्टेनो तमाशा के बियर–धुले बाल भी दारजी द्वारा सहलाए जाते हैं एवं उसके बारीक लेसदास ब्लाउज की सम्यक विवेचना भी होती है।

भ्रष्टाचार के ही एक पहलू के रूप में इस्तेमाल किया जाता है औरत को। औरत को तरक्की की सीढ़ी बनाने वाले मर्दों की कमी नहीं। सरदार हजारा सिंह प्यारासिंह ठेके, टेण्डर, लाइसेंस आदि देने के लिए पिकनिक, सांस्कृतिक कार्यक्रमों एवं पार्टियों का आयोजन करते हैं। यहाँ खान–पान के साथ औरतों एवं लड़कियों का भी इंतजाम रहता है। मेहमानों को लिफाफों में नकदी दी जाती है। औरतों को इस भ्रष्टाचार का हिस्सा बनाने वाले दाँव–पेच का खुलासा होता है शर्मा और सूरी की बातचीत में,– "औरतों के कोऑपरेटिव से क्या मतलब है तुम्हारा दोस्त? "वाह भोले बादशाह, रहते किस दुनिया में हो! हर नाकनक्शे और कद–बुत की शेयर–होल्डर जनानी का कार्ड तैयार रखता है सेठ और टेलीफोन के जरिये इजारबंद सर्विस चलाता है।"[19]

जातिवाद भी आधुनिक युग की प्रमुख समस्याओं में से एक है। पूरा देश इसके विषमगामी परिणामों से झुलस रहा है। 'समय सरगम' में आरण्या देश में बढ़ते जातिवाद की तरफ ध्यान आकर्षित करती है,– "पूरा देश उलझा हुआ है, जातीय स्मृति की खलबली में। मैं द्विज हूँ, मैं अब्राह्मण हूँ। मैं क्षत्रिय हूँ, मैं राजपूत, मैं अराजपूत, मैं जाट–गूजर, मैं कमजोरवर्गी, मैं दलित, मैं अनुसूचित।"[20]

आज एक तरफ तो नारी चेतना क्रमशः विकसित हो रही है, दूसरी तरफ परंपरागत मानसिकता बेटे और बेटी के भेद को बरकरार रखे हुए है। पितृसत्तात्मक मूल्यों का तेजी से क्षरण नहीं हो पा रहा है। आरण्या इस सत्य को उद्‌घाटित करते हुए कहती है,– "पुरानी व्यवस्था अब भी कायम है नये बदलावों के साथ। लड़के और लड़की में भेद। परिवार में पुत्री और पुत्र का अबोला द्वंद्व जारी है। गर्भ में ही पुत्रियों

की हत्या और पुत्रों के संरक्षण साधना। भाई–बहनों में झगड़े चलते रहते हैं। कानून बन चुके हैं, मगर इन्हें लागू कौन करेगा!"[21]

कृष्णा सोबती ने तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों, बदलते मनुष्य, बदलते जीवन मूल्य एवं मानवीय संबंधों में आ रहे बदलाव को यथार्थपरक दृष्टि से देखा है, तथा जीवन के विश्लेषण में स्वयं को सभी तरह की भ्रांतियों, भावनाओं एवं आदर्शों से मुक्त रखा है। जीवन की छोटी–बड़ी घटनाओं, वस्तुओं, दृश्य एवं स्थितियों को सोबती काफी सूक्ष्मता से पकड़ती हैं, और इन सबके आधार पर सार्थक एवं मानवीय मूल्यों की तलाश करती हैं।

(ख) परंपरागत और आधुनिक जीवन–मूल्यों का द्वंद्व

मूल्य एक अनेकार्थी शब्द है, जो संस्कृत की 'मूल' धातु से 'यत' प्रत्यय लगाने से बना है। अर्थशास्त्र में यह बाजार दर के अर्थ में विनिमय के एक आवश्यक प्रतिमान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मूल्य अंग्रेजी के वैल्यू शब्द का पर्याय है तथा नीतिशास्त्रीय दृष्टि से इसका सम्बन्ध वस्तु से न होकर जीवन से है। प्रत्येक मूल्य जीवन के किसी विशेष क्षेत्र या पहलू से सम्बन्धित है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार मूल्य वे लक्ष्य या उद्देश्य हैं जो व्यक्ति अथवा समाज के व्यवहार को निर्देशित करते हैं। अतः मूल्य की सर्वमान्य परिभाषा के अनुसार, मानव व्यवहार को नियंत्रित एवं परिचालित करने वाली धारणाएँ ही मूल्य कहलाती हैं। इनका संबंध मनुष्य के जीवन के पारिवारिक, सामूहिक, नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक पक्षों से होता है।

मूल्य प्रमुखतः तीन प्रकार के होते हैं–

1. **वैयक्तिक मूल्य** : इनका निर्माण वैयक्तिक चेतना से होता है। वैयक्तिक निष्ठा व तर्क इनके सबसे बड़े आधार है। ये दो प्रकार के होते हैं–

(i) भौतिक – अर्थ, स्वभाव, काम, अहंकार।

(ii) भावात्मक – स्वाभिमान, प्रेम।

2. सामाजिक मूल्य : मनुष्य के वैयक्तिक मूल्य जब सामाजिक परिवेश के सम्पर्क में आ कर संक्रमित होते हैं तब इनका निर्माण होता है। उदाहरण के लिए वैयक्तिक धरातल पर पैदा होने वाला प्रेम जब अन्यों के सम्पर्क में आता है तो बहुमुखी स्वरूप धारण कर लेता है। परिवार के प्रति उत्पन्न प्रेम, जाति प्रेम, देश प्रेम आदि इसी प्रकार के मूल्य हैं।

3. सार्वभौम मूल्य : ये मूल्य देश काल से परे हर समाज में पाए जाते हैं। दया, करूणा, सेवा इत्यादि इसके अंतर्गत आते हैं।

प्रत्येक रचनाकार का एक जीवन–दर्शन होता है जिनके अनुकूल जीवन–मूल्यों का चित्रण वह अपनी रचना में करता है। प्रत्येक रचनाकार का जीवन के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण होता है जिनके अनुकूल मूल्यों को वह साहित्य के माध्यम से स्थापित करता है। साहित्य जहाँ एक तरफ तत्कालीन युग और समाज के मूल्यों को ग्रहण करता है, वहीं दूसरी तरफ नवीन मूल्यों की सृष्टि के माध्यम से समाज को दिशा प्रदान करता है। नवीन सामाजिक मूल्यों के निर्माण में सांस्कृतिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक आंदोलनों का महत्वपूर्ण योग होता है।

समाज विशेष के किसी विशेष काल में स्वीकृत मूल्य निधि और मूल्य निषेध, दोनों रूपों में साहित्य में प्रतिबिंबित होते हैं। सामाजिक मूल्य न तो शाश्वत होते हैं, ना ही निरपेक्ष। सामाजिक मूल्यों में आने वाले बदलाव को साहित्य द्वारा प्रतिबिंबित किया जाता है। एक सच्चा रचनाकार वही माना जा सकता है जो समन्वयात्मक प्रवृत्ति के द्वारा यथार्थ मूल्यों को चित्रित कर के भी मानवतावादी मूल्यों को उभारने में समर्थ हो सके। जीवन के यथार्थ चित्रण को ही प्रतिबद्धता के रूप में स्वीकृति भी एक सफल रचनाकार होने की आवश्यक शर्त है।

साहित्य चूंकि समाज का प्रतिबिंब दिखाता है, अतः समाज जैसा होगा, वैसा ही साहित्य में उभर कर आयेगा। कोई साहित्य प्रगतिशील मूल्यों को तभी चित्रित करेगा, जब वे समाज में मौजूद होंगे। एक ही देशकाल में रहने के बावजूद समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन–मूल्य एक नहीं होते। वर्गों का मूल आधार आर्थिक असमानता है अतः वर्गों की आर्थिक स्थिति से ही उनके जीवन–मूल्य नियंत्रित और परिचालित होते हैं। सामाजिक मूल्यों का सर्वाधिक सर्तकता से पालन करने का प्रयास समाज का मध्य वर्ग ही करता है। उच्च वर्ग सामाजिक मूल्यों की कोई खास परवाह नहीं करता। निम्न वर्ग भी अपनी आर्थिक स्थिति की वजह से नैतिक मूल्यों का पालन नहीं कर पाता। समाज में व्यक्ति के आचरण को सामाजिक मूल्यों के अलावा अन्य सदस्यों के साथ उसके संबंध भी प्रभावित करते हैं। एक ही सामाजिक मूल्य विभिन्न स्थितियों में विभिन्न अर्थ रखता है। रचनाकार अपनी रचनाओं में सामाजिक मूल्यों का भी परीक्षण करता है। साथ ही वह मूल्यों की मीमांसा कर, उनका संशोधित रूप प्रस्तुत करके समाज को नये सामाजिक मूल्यों के निर्माण की प्रेरणा भी देता है। अतः साहित्य को उसकी संपूर्णता में समझने के लिए तद्युगीन समय और समाज के सामाजिक मूल्यों की पहचान आवश्यक है। साहित्यिक संदर्भ में जीवन मूल्यों की जानकारी को आवश्यक मानते हुए डॉ. धर्मवीर भारती ने कहा है, "मानवीय मूल्यों के संदर्भ में यदि हम साहित्य को नहीं समझते तो अक्सर हम ऐसी झूठी प्रतिमान योजना को प्रश्रय देने लगते हैं कि समस्त साहित्यिक अभियान गलत दिशाओं में मुड़ जाता है।"[22]

साहित्य चूकि युग विशेष का प्रतिनिधि होता है तथा युग विशेष के विचारों का निर्माता, अतः मानव मूल्यों के संदर्भ में साहित्य का महत्व बढ़ जाता है। जीवन मूल्य तथा रचना प्रक्रिया के मध्य के संबंध को स्पष्ट करते हुए डॉ. जगदीश गुप्त ने कहा है, "किसी मूल्य का संश्लेषण तब तक सृजन–प्रक्रिया में संभव नहीं है जब तक वह अनुभूति की स्पंदित भावभूमि पर अवतरित नहीं होता। जिन मानवीय मूल्यों के आधार

पर वह मूल्य सामान्य जीवन में सिद्ध माना गया है, उन या उनके समानांतर परिकल्पित वैसी ही अनुभूतियों की सजीव सृष्टि का सूत्रपात हुए बिना रचना में मूल्यबोध का समावेश असंभव है। साहित्य में वे मानव मूल्य ही प्रतिबिंबित एवं समाविष्ट हो पाते हैं जिनको साहित्यकार ने अपने अंतःकरण में धारण कर लिया है और जो उनके संवेदनशील व्यक्तित्व के अविभाज्य अंग बन चुके हैं। ऐसे मानव मूल्य साहित्य और कला में संश्लिष्ट होकर व्यक्त होते हैं। वे आरोपित प्रतीत नहीं होते। इन्हें साहित्य के माध्यम से उपलब्ध मानव मूल्य कहा जा सकता है।"[23]

कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में समाज की जड़ मान्यताओं, रूढ़ियों, परम्पराओं तथा घिसे–पिटे मूल्यों को चुनौती देते हुए नारी की नई चेतना को आधुनिकता की दृष्टि से रूपायित कर व्यक्ति–स्वातंत्र्य के आधार पर जीवन के नवीन मूल्यों को आस्थावादी दृष्टिकोण से प्रतिष्ठित किया गया है। इन नवीन जीवन मूल्यों में यौन–स्वच्छंदता, विद्रोह, साहस, अस्तित्व–संघर्ष और चयन–स्वतंत्रता प्रमुख हैं।

अस्तित्व चेतना/व्यक्ति स्वातंत्र्य कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में उपस्थित सर्वाधिक महत्वपूर्ण जीवन मूल्य के रूप में उभर कर आया है। 'डार से बिछुड़ी' की पाशो का अपने घर की दहलीज लाँघना, वस्तुतः अपनी स्वतंत्रता के लिए किया गया प्रयास है। प्रेम एवं सुरक्षा की चाह रखने वाली पाशो को हर कदम पर शारीरिक एवं मानसिक शोषण का शिकार होना पड़ता है, इसके बावजूद पाशो अपने जीवन से कभी हार नहीं मानती। जीवन के प्रति उसका आग्रह वस्तुतः व्यक्ति स्वातंत्र्य की ही खोज है।

अस्तित्व चेतना/व्यक्ति–स्वातंत्र्य का एक और उदाहरण 'मित्रो मरजानी' की मित्रो है, जिसे अपनी शारीरिक जरूरतों का खुलासा करने में कोई झिझक या संकोच नहीं। राजेन्द्र यादव के अनुसार, "मुझे मित्रो हिन्दी की अकेली ऐसी कथा–नारी लगती है जो सदियों से नारी पर लादे गये संस्कारों–सम्बन्धों, सुन्दर–सुन्दर उपमाओं को

ललकारती, मुँह चिढ़ाती और उन्हें झुठलाती हुई अपनी मूलभूत जरूरत और जबान के साथ हमारे सामने आ खड़ी हुई हो, छिन्नमस्ता काली की तरह और मानो हम उसके तेज को बर्दाश्त नहीं कर पाते..."[24] सारे परम्परागत मूल्यों और रूढ़ियों को धता बताने वाली मित्रो में अदम्य जिजीवषा है एवं प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने की कूवत भी।

'सूरजमुखी अंधेरे के' की रत्तिका का भी सम्पूर्ण प्रयास अपने आप को यातनाओं और छटपटाहटों की उस कैद से मुक्त कराने का है, जिसने उसके व्यक्तित्व को खंडित कर दिया है। समाज में अस्पृश्यों सा व्यवहार पाती रत्ती ऐसी ठंढ़ी जकड़न में जकड़ गई है कि ऊष्मा की कोई भी तरंग उस तक पहुँच नहीं पाती। दिवाकर का प्रेम रत्ती के अंदर जमी हुई बर्फ की शिला को पिघला देता है। इस प्रकार रत्ती मुक्त होती है और अपनी स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त कर लेती है।

'दिलोदानिश' में महक, कुटुम्ब और छुन्ना ये तीनों ही अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्षरत दिखाये गये है। जेवरों का मामला वकील साहब और महक के संबंधों को बुरी तरह प्रभावित करता है, तथा बच्चों को महक से अलग कर दिए जाने पर महक अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करती है। एक रखैल से लेकर एक स्वतंत्र व्यक्तित्व का सफर तय करने में महक देरी नहीं करती, "महक ने दुपट्टा ले ऊपर गर्म चद्दर ओढ़ी। कुंडी लगा ताला चढ़ाया और पैड़ियों से उतरते सोचा– भला हमने भी इस कमरे से निकलने में इतनी देर क्यों कर दी।"[25] कुटुम्बप्यारी भी गाहे–बगाहे वकील साहब से अपनी जिरह जारी रखती है एवं भैरों बाबा की अंकशायिनी बनकर मूक प्रतिशोध लेती है। छुन्ना द्वारा भुवन से आर्यसमाजी विवाह भी उसकी अस्तित्व चेतना का ही परिचायक है। विधवा–जीवन को भी छुन्ना ने ठसक के साथ बिताया है। इसीलिए वह यह सवाल अपनी ससुरलवालों से करती है कि विधवा बहुओं के साथ जो नाइंसाफियाँ होती रही हैं, क्या वे आगे भी होती रहेंगी? 'ऐ

लड़की' में अम्मू नारी–परतंत्रता के व्यवहारिक कारणों की पड़ताल करती है तथा व्यक्ति–स्वातंत्र्य की वकालत करती है। स्त्री–स्वातंत्र्य की संपूर्ण चेतना से सरोबार अम्मू अस्तित्व–रक्षा को समझती है, "लड़की, अपने आप में आप होना परम है, श्रेष्ठ है।"[26] अकेलापन जिस व्यक्तिगत आजादी को पा लेने और जी लेने की छूट देता है, उससे वंचित रहना अम्मू के लिए क्षोभ का कारण बन जाता है।

परम्परागत जीवन मूल्यों पर प्रश्न–सूचक चिह्न लगाने की प्रवृत्ति यद्यपि मनोवैज्ञानिक कथा–साहित्य के युग से ही शुरू हो चुकी थी, परन्तु ऐसा इन रचनाकारों के एक विशिष्ट जीवन–दर्शन की वजह से था जिसके समर्थन के लिए वे परम्परागत मूल्यों का विरोध करते थे। कृष्णा सोबती यहाँ एक भिन्न धरातल पर दिखाई पड़ती हैं क्योंकि सोबती सामाजिक परिदृश्य के यथार्थ प्रस्तुतीकरण के लिए रूढ परम्परागत मूल्यों का विरोध करती हैं।

यौन–सम्बन्धों में नवीन जीवन–दृष्टि भी सोबती के यहाँ दिखाई पड़ती है। आधुनिकता के प्रमुख लक्षणों में से एक है यौन–स्वच्छंदता, जिसको सोबती के पात्र स्वीकार करते नजर आते हैं। 'मित्रो मरजानी' की मित्रो, पति सरदारी लाल की अक्षमता की वजह से अन्य पुरूषों से संबंध बनाने का प्रयास करती है, "मित्रो रानी! चिन्ता–फिकर तेरे बैरियों को! जिस घड़नेवाले ने तुझे घड़ दुनिया का सुख लूटने को भेजा है, वही जहान का वाली तेरी फिकर भी करेगा।"[27]

'डार से बिछुड़ी' की पाशो भी बार–बार शोषित होने पर भी अपने जीवन का अंत करने की नहीं सोचती। पाशो यौन–शुचिता के उस मूल्य से आक्रांत नहीं, जिसमें नारी के शरीर की पवित्रता उसके अस्तित्व पर हावी हो जाती है। कुछ ऐसा ही होता 'सूरजमुखी अंधेरे के, की रत्तिका के साथ, जो दिवाकर का साथ पाते ही अपने साथ बीती दुर्घटना को भूल कर जीवन को नये सिरे से जीने का प्रयास करती है। यौन–शुचिता जैसे परंपरागत मूल्य का नकार 'दिलोदानिरा' में छुन्ना के यहाँ मिलता

है, जब वह वैधव्य का जीवन बिताने से इंकार कर भुवन से आर्यसमाजी ढंग से विवाह कर लेती है। यौन–संबंधों में एक वर्जनाहीन दृष्टि सोबती की रचनाओं की विशेषता है। 'जिन्दगीनामा' में चाची महरी और गणपतशाह एवं विधवा लक्खमी और सैयदजाड़े का प्रेम–प्रसंग भी कुछ ऐसा ही है। चाची महरी विधवा थी परंतु गणपतशाह के प्रेम में पड़ उसके साथ चली आई। कचहरी–अदालत, जात, बिरादरी किसी की भी उसने परवाह न की। विधवा, ब्राह्मणी लक्खमी सैयदजाड़े के प्रेम से बंधी हुई है, जिसे ऊँच–नीच का भी कोई भय नहीं। शाहनी उसे समझाने का प्रयत्न करती है, परन्तु उस पर कोई असर नहीं पड़ता, "मैं तत्ती क्या करूँ शाहनी! सैयदज़ायड़ा जाने किस जादू के ज़ोर से मुझ पर हक़ जमाए हुए है। बहुतेरा संजम रखा पर वह मेरे तन–मन से नहीं उतरता। उतरता ही नहीं।"[28]

यौन–स्वच्छंदता का क्षणिक प्रवाह कभी–कभी पूरे जीवन को पश्चाताप की भट्टी में धकेल देता है। 'कुछ नहीं, कोई नहीं' कहानी की शिवा आनंद के साथ चली आती है, परन्तु ताउम्र पछताती रहती है। उसके पास कोई रिश्ता नहीं बच जाता, "रूप, अब किसे आज जानना है मैं कहाँ हूँ–मैं क्या हूँ? मैं किसी की कुछ नहीं, कोई नहीं....।"[29] यौन स्वच्छंदता जब उच्छृंखलता बन जाती है तो जीवन कितना अर्थहीन हो जाता है, यह पता चलता है, 'न गुल था, न चमन था' की नादिरा दस्तूर के जीवन से। नादिरा के जीवन में अनेक पुरूष आते–जाते रहते हैं, पर उसके जीवन का सूनापन कोई नहीं भर पाता, "जया को लगा जैसे अब अंधेरे मे वह जाली की चोली, वह शोख रंग का आवरण अलग पड़ा रह जाएगा। और अंधेरे में नादिरा दस्तूर की देह शैया पर सिर धुनेगी और रात के लम्बे प्रहरों को गिनेगी..."[30]

कृष्णा सोबती ने एक तरफ पारिवारिक निष्ठा जैसे परंपरागत मूल्य को अपने कथा–साहित्य में जगह दी है, तो दूसरी तरफ संयुक्त परिवार में बदलते पारिवारिक संबंधों को भी जगह दी है। 'डार से बिछुड़ी' की पाशो का सारा संघर्ष अपनी बिछुड़ी

डार या परिवार में वापस मिल जाने का है। पारिवारिकता का आग्रह 'मित्रो मरजानी' की मित्रो के यहाँ भी है। घर पर आये आर्थिक संकट को दूर करने के लिए मित्रो अपने तमाम गहने सरदारी के आगे कर देती है। यही नहीं, मायके में परपुरूष से सम्बन्ध बनाने को जाती मित्रो का वापस लौट आना भी पारिवारिकता का ही तकाजा है, क्योंकि उसे अपनी माँ बालो का हाल याद आ जाता है जिसके पास परिवार के नाम पर कोई नहीं।

कृष्णा सोबती की रचना–दृष्टि टूटते हुए पारिवारिक सम्बंधों एवं संयुक्त परिवार के विघटन को भी उभारती है। युगीन परिवर्तन के साथ ही सामाजिक संदर्भों तथा सम्बन्धों में भी परिवर्तन आता है और जो जीवन मूल्य किसी समय विशेष में सार्थक माने जाते थे, वही धीरे–धीरे अपना अर्थ खो बैठते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त परिवार के अंतर्गत सास–बहू के परम्परागत सम्बन्धों में भी परिवर्तन आया है। 'दादी अम्मा' कहानी की बहू मेहराँ के बच्चे जब बड़े हो जाते हैं, तो वह अपनी सास से नहीं डरती। बुढ़ापे के साथ ही दादी अम्मा के अब तक चले आ रहे रौब–दाब में कभी आ जाती है, "दादी–अम्मा कड़वे मन से अपनी चारपाई पर जा पड़ी। बुढ़ापे की उम्र भी कैसी होती है। जीते–जी मन से संग टूट जाता है। कोई पूछता नहीं, जानता नहीं।"[31] वृद्धावस्था पर लिखी गई कुछ ऐसी ही कहानियों में से प्रमुख है, भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' एवं ऊषा प्रियंवदा की 'वापसी'। कृष्णा सोबती की 'समय सरगम' में भी संयुक्त परिवार के स्वरूप में आ रहे परिवर्तन और इसका स्थानापन्न बने एकल परिवारों पर चर्चा की गई हे। लाला प्रभुदयाल, कामिनी और दमयंती जैसे बुजुर्ग अपने परिवार वालों द्वारा इस हद तक प्रताड़ित किए जाते हैं कि मौत की दहलीज पर पहुँच जाते हैं। परिवार में व्यक्ति को मिलने वाली सुरक्षा पर ही प्रश्न–चिह्न लग जाता है। संयुक्त परिवार की टूटन को ले कर आरण्या कहती है, "ईशान, मुझे संयुक्त परिवार का अनुभव नहीं। दूर–पास से जो इसकी आवाजें सुनीं, वह सुखकर नहीं थीं। इतना जानती हूँ कि परिवार की सुव्यवस्थित अस्मिता और

गरिमा का मूल्य भी उन्हें चुकाना होता है जिनका खाता दुबला हो। परिवार की सांझी श्री पैसे के व्यापारिक प्रबंधन में निहित है। उसकी आंतरिक शक्ति क्षीण हो चुकी है। घनी छाँह की जगह घिसी हुई पुरानी चिंदियाँ फरफरा रही हैं। जानती हूँ ईशान, आपको यह बात ठीक नहीं लग रही, पर मैं अपनी कीमत पर इसकी पड़ताल कर रही हूँ और 'सत्य' के नाम–रूप में संचारित छोटे–बड़े झूठ और झूठों से बनाये गये स्वर्णिम सत्यों की ठोक–पीट ही इस सात्विक संस्कार की प्रेरणा है।"[32]

कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में युगव्यापी मूल्यहीनता की प्रवृत्ति भी उभर कर आती है। मूल्यहीनता की प्रवृत्ति न तो रिश्तों को मानती है, ना सामाजिक मर्यादाओं को ही। 'डार से बिछुड़ी' की पाशो को शोषित करने में नजदीकी रिश्तेदार भी पीछे नहीं, "हुआ...हुआ" बरकत दीवान भारी गले हँसे। "तेरा तो नाम–चाम सब मेरा है ही पगली!" और हाथ बढ़ा मेरा पल्ला खींच लिया। दुपट्टा छोड़ हाथ पकड़ लिया, हाथ छोड़ मुझे अपनी ओर खींच लिया, तो भी न काँपी, न चिल्लाई; ऐसी पड़ी रही कि पानी की मार से गली–गलाई काठ होऊँ।"[33] मूल्यहीनता की इस बढ़ती प्रवृत्ति का चित्रण 'समय सरगम' में भी दिखता है, जहाँ लाला प्रभुदयाल, कामिनी और दमयंती के परिवार वाले ही उनकी मृत्यु के लिए उत्तरदायी बन जाते हैं।

सरकारी दफ्तरों और कार्यालयों में बढ़ता भ्रष्टाचार भी समाज में बढ़ती मूल्यहीनता को दर्शाता है। 'यारों के यार' में कुछ ऐसा ही चित्रण है, जहाँ टेंडर मंजूर करवाने के लिए नोटों की गड्डियों के अलावा सुरा–सुंदरी का भी बंदोबस्त किया जाता है। सरदार हजारासिंह प्यारासिंह, अवस्थी एवं सिन्हा जैसे लोगों के लिए नैतिक मूल्यों का कोई अर्थ नहीं है। समाज के ठेकेदारों एवं शासकीय तंत्र द्वारा निर्मित किए जा रहे भ्रष्टाचार की इस स्थिति में नैतिकता, ईमानदारी जैसे सार्वभौम मूल्यों की कोई कीमत नहीं रह जाती। दफ्तर की दिनचर्या में पिसते क्लर्क तबके के लोगों में विद्रोह एवं न्याय के नवीन मूल्यों की पक्षधरता के साहस का अभाव है। यही वजह है कि

सूरी कहता है, "सच तो यह है हिसाबबाबू कि हममें से हर एक चूतिया है और हर एक उल्लू का पट्ठा। यूँ तो हमसे भी बड़े उल्लू के पट्ठे मौजूद हैं जो हरामज़ादगी में उन गुरुघंटालों के भी बाप हैं जो फोकट की चुसकियाँ खिलाकर ख़लकत के महबूब बने फिरते हैं।"[34]

प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था में व्यक्ति की समाज में स्थिति का निर्धारण उसकी आर्थिक स्थिति से होता है। जैनेंद्र के अनुसार, "जीवन मूल्य तेजी से आर्थिक हो रहे हैं। उस वेग में जान पड़ता है कि परिवार और सम्मिलित परिवार का रूप छोटे हो जाने को बाध्य है। मालूम होता है कि यदि आर्थिक सभ्यता का ही दौर–दौरा रहा तो परिणाम घटित हुए बिना नहीं रहेगा।"[35]

आधुनिक जीवन मूल्यों में से एक प्रमुख मूल्य है ईश्वर से संबंधित परम्परागत विचारधारा का नकार। आधुनिक जीवन दृष्टि ईश्वर को अलौकिक नहीं मानती, उसकी सत्ता को स्वीकृति देती हुई भी वह उसे इहलोक से संबद्ध करके देखती है। 'मित्रो मरजानी' में धनवंती, गुरूदास एवं सुहागवंती ईश्वर के प्रति विश्वास रखते हैं जो कि एक परम्परागत मूल्य है। गुरुदास घर–गृहस्थी की माया में फँसी धनवंती से कहते हैं, "छोटी–सी बात मेरी पल्ले बाँध ले साथिन। जो थोड़ा बहुत दान पुण्य, धर्म–कर्म इस चलते भंडारे से निकल जाय, सो ही सुफल।"[36] दूसरी तरफ मित्रो की दृष्टि से व्यवहारिकता के धरातल पर ईश्वर के प्रति अनास्थावादी है। मित्रो को न तो पाप–पुण्य की चिन्ता है, ना ही धर्म–कर्म का भय, क्योंकि ईश्वर की सत्ता उसके लिए अप्रामाणिक है। इसीलिए वह धनवंती से कह उठती है, "अम्मा, जिस दाते का नाम लेती हो, उसे आँख से किसने देखा है? असल पैगम्बर तो तुम्हारे बेटे ठहरे, जब चाहे पौदे रोप दे!"[37]

आधुनिक जीवन दृष्टि परंपरागत जाति एवं वर्ण–व्यवस्था का ही विकृत रूप है। जाति एवं धर्म के नाम पर फैलाये गये प्रतिबंध जहाँ समाज को छोटे–छोटे वर्गों

में बाँटते हैं और पारस्परिक कटुता, मतभेद और घृणा को प्रश्रय देते हैं, वहीं संकुचित मूल्यों को भी उभारते हैं। भारतीय समाज पर, विशेषतः ग्रामीण जीवन पर धार्मिक मान्यताओं की मजबूत पकड़ एक तरफ है, तो दूसरी तरफ परंपरागत रूढ़ मूल्य को चुनौती देने वाले स्वर भी हैं। 'जिन्दगीनामा' में लखमी और सैयदजाड़े का प्रेम प्रसंग कुछ ऐसा ही है। विधवा ब्राह्मणी लखमी, सैयदजाड़े के प्रेम में पड़कर गर्भवती हो जाती है। लोक–लाज की वजह से उसे गर्भ से छुटकारा पाना पड़ता है, परन्तु उसे कोई पछतावा नहीं, "....लखमी बाल खींच–खींच अपना सर पटकने लगी – जानती हूँ। लाख समझाती हूँ पर दिल नहीं मानता। शाहनी, देह से वह जिंद अलग हो गई– पाप चढ़ा सो विरथा और मैं तत्ती वहीं–की–वहीं। इस हल्ले से मैं नहीं बचती शाहनी! मैं मर जाऊँगी।"[38] दूसरी तरफ शाहनी है, जो धर्म की परंपरागत व्यवस्था में दृढ़ विश्वास रखती है, "हाय–हाय, कलजुग परत गया। विधर्मी के संग–अंग भेंट तेरी मति भ्रष्ट हो गई। मल्ला, जरा सोच के देख क्या उसके चौके में खाए–चुगलायेगी? अरी, तू जन्म की ब्राह्मणी मलेच्छ को मुँह मारने दिया!"[39] 'डार से बिछुड़ी' में पाशो की माँ जब शेखों के घर जा बैठती है, तब उसके परिवारवाले उसके विरुद्ध हो जाते हैं लेकिन पाशो अपनी माँ को मूक समर्थन देती है। घरवाले यहाँ पारंपरिक मूल्य को समर्थन दे रहे हैं, जबकि पाशो आधुनिक जीवन मूल्य को।

आर्थिक संरचना में बदलाव सामाजिक अंतःसंबंधों को कहीं गहरे तक प्रभावित करता है। सामंतवादी युग में घर का वयोवृद्ध व्यक्ति ही मुखिया होता था, जिसकी आज्ञा का पालन अवश्यंभावी था। लेकिन पूँजीवादी समाज में महत्त्व कमानेवाले का हो गया, जिसके विचारों पर पुरानी पीढ़ी के लोग रोक नहीं लगा सकते। 'जिन्दगीनामा' में शोषकवर्ग की युवा पीढ़ी में पिछली पीढ़ी की अमानवीयता को नकारने का साहस स्वस्थ्य और मानवीय मूल्यों की दिशा में विचार संक्रमण की गवाही देता है। छोटा शाह शोषण को अनुचित मानता है, "बेचारे गरीब जट्ट किसान को इतना दोहना कहाँ तक उचित है भ्राजी।"[40]

निम्नवर्गीय एवं निम्नमध्यवर्गीय परिवारों में मूल्यों और विचारों के स्तर पर पीढ़ी अंतराल विस्तृत और निर्विवाद है। शिक्षा, नई विचार सरणियाँ आदि कई बातों से यह अंतराल निर्मित हुआ है। 'जिन्दगीनामा' में फरमान अली अपनी गरीबी के लिए भाग्य को जिम्मेदार मानता है, लेकिन उसका बेटा मेहर अली इसके लिए जमींदारों को उत्तरदायी मानता है। उसके अनुसार, "दूध–मलाई धनाढ्, शाहों की और छाछ–लस्सी हमारी! लानत हमारी मेहनतों पर!"[41] मेहरअली अपनी जमीन को शाहों के चुंगल में से छुड़ाने में सफल हो जाता है।

कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त पीढ़ी–अंतराल वस्तुतः दो तरह के मूल्यों की टकराहट को व्यक्त करता है। कहीं यह टकराहट सकारात्मक और नकारात्मक मूल्यों के बीच है तो कहीं सामंती मूल्यों से निष्पन्न मानवीय मूल्यों की टक्कर हो रही है। 'ऐ लड़की' की अम्मू परंपरागत और आधुनिक मूल्यों के मध्य की टकराहट को व्यक्त करती है। अम्मू इस पारंपरिक मूल्य से परिचित है कि पुत्र से ही वंश चलता है। इसीलिए कहती हैं, "लड़की, कुल की सरदारी बेटियों को नहीं जाती। सगुण शास्त्र से तुम्हारा भाई ही पगड़ी बाँधेगा।"[42] जिस पुत्र प्रेम के लिए वह पिता की आलोचना कर चुकी हैं, तथा जो पुत्र अंतिम समय में अम्मू के पास नहीं, उसे ही बार–बार वे याद करती हैं, "जल्दी से मेरे बेटे को बुलाओ... मेरे पास आओ बेटा...मुझे विदा करो।"[43] दूसरी तरफ लड़के और लड़कियों में भेद किये जाने वाले सामाजिक प्रतिमानों के प्रति आक्रोश भी है। अम्मू उस व्यवस्था को नकारती है, जिसमें लड़की से कहा जाए, "भाई पढ़ रहा है, जाओ दूध ले आओ, भाई सो रहा है, जाओ कम्बल ओढ़ा दो, भाई खा चुका है, अब तुम भी खा लो।"[44]

कृष्णा सोबती युगीन चिन्तन को आत्मसात् करती हुई जीवन मूल्यों के संदर्भ में नई दृष्टि को प्रस्तुत करती हैं।

(ग) छटपटाहट, पीड़ा और ऊब

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जन–मानस को बढ़ते औद्योगीकरण, आधुनिकता एवं शहरीकरण ने व्यापक रूप से प्रभावित किया। विज्ञान एवं यांत्रिकी ने न केवल सामाजिक मानदंडों में व्यापक फेरबदल किए, वरन मानवीय संबंधों तथा विचारधाराओं को भी गहरे रूप से प्रभावित किया। देश की आजादी से पूर्व एक आम आदमी के जो भी स्वप्न थे, स्वतंत्रता के बाद वे सभी धाराशायी हो गए। नेमिचंद्र जैन के अनुसार, "1947 में राजनैतिक आजादी से जिस व्यापक सामाजिक रूपान्तरण की संभावना दिख पड़ी थी, और उसके रास्ते खुलते नजर आये थे, वह बाद के बरसों में राह से भटक गया, जिससे बड़ा गहरा असन्तोष, एक प्रकार का अपने आप से ही अलगाव और बेगानापन आम आदमी और खास तौर पर सृजनशील व्यक्ति के मन में पैदा हुआ।"[45] आजादी के साथ ही सारे आदर्श, जीवन मूल्य एवं सामाजिक मानदण्डों के माप बदल गये। 1962 के भारत–चीन युद्ध एवं 1965 एवं 1971 के भारत–पाक युद्ध ने भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया। सामाजिक आयोजनों को लेकर जो आशाएँ जनता के मन में थीं, वे भी धीरे–धीरे निराशा में बदल गईं। देश की जनता ने यह समझ लिया था कि सरकार चाहे किसी भी पार्टी की हो, आम आदमी की स्थिति में कोई सुधार नहीं आने वाला। समस्त मानवीय मूल्यों व नैतिक प्रतिमानों पर से मनुष्य का विश्वास हटने लगा, तथा वह अंदर ही अंदर से खाली होने लगा, सभी संवेदनाओं से शून्य। मनुष्य की विचारधारा भी परिवर्तित हो रही है, "यांत्रिकी के इस निविड़ वन में सतत् वेगमय जीवन की अवकाशहीनता, निरर्थकता, अजनबीपन, सन्त्रास, घुटन, मृत्युबोध और अनेक कुंठाएँ तथा विकृतियाँ जन्म ले रही हैं।"[46]

बढ़ते औद्योगीकरण एवं मशीनीकरण ने आज के मनुष्य को संत्रस्त बना दिया है। संस्थागत संघर्षों एवं व्यक्तिवादिता ने समस्त समाज को छोटी–छोटी इकाईयों में

बाँट दिया। सामाजिक नियंत्रण क्षीण हो गया। निराशा, कुण्ठा, असुरक्षा, असंतोष, मृत्युभय, मानसिक तनाव एवं दायित्वहीनता जैसी विघटनकारी प्रवृत्तियों ने व्यक्ति को न केवल समाज से बल्कि अपने आप से भी अलग कर दिया। आज व्यक्ति अपने मनोनुकूल जीवन न जी पाने की छटपटाहट से पीड़ित है, एवं उसकी इस विवशता से एक गहरा पीड़ाबोध उत्पन्न होता है। मशीनीकरण और यांत्रिकता के वशीभूत आज का मनुष्य अपने एकरस जीवन से ऊब गया है, "आज स्वनिर्मित युग में वह स्वयं पराया है। उसके सामने ऐसी कोई दिशा नहीं है, जिधर मुड़कर उसे कुछ तसल्ली मिल सके। चारों ओर मृत्यु भय, संत्रास, अकेलापन और अजनबीयत का बोध उसे निगल रहा है। भौतिक सुखों के वह इस हद तक अधीन हो गया है कि उसने इस तथाकथित सुखों के पंजों में फँसकर अपना हुलिया ही खो दिया है। उसका 'वह–खुद' जो किसी भी बाहरी, भौतिक या अधिभौतिक के दबावों में आने से इन्कार कर देता है, वह खुद आज अपने साधनों का साध्य बन गया है। स्व–निर्मित इस क्रूर भौतिक जिन्दगी के हाथों वह अपना सब कुछ बेच चुका है। उसका स्वयं (सेल्फ) मुक्ति के लिए छटपटा रहा है।"[47] 'यारों के यार' उपन्यास में कृष्णा सोबती ने मध्यवर्गीय समाज के एक विशेष तबके के मानसिक द्वंद्व और ऑफीशियल रूटीन को उभारा है। अपने जीवन से ऊबे हुए सरकारी दफ्तरों के क्लर्कों की दिनचर्या का यथार्थ खाका यहाँ खिंच जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जीवन मूल्यों में तेजी से परिवर्तन आये और मोहभंग की स्थिति उत्पन्न हुई। प्राचीन सामाजिक मूल्यों में शालीनता और औचित्य का जो कलेवर मिलता था, उसका शनैः शनैः लोप होने लगा। भ्रष्टाचार एक नये सामाजिक मूल्य के रूप में उभरा जिसके मूल्यानुसरण ने किसी प्रकार का भेद नहीं माना। महानगरीय परिवेश में पिसते क्लर्क तबके के लोग न तो दफ्तरी परिवेश को बदल पाने की कूवत रखते हैं, न ही व्यवस्था के विरुद्ध खुलकर विद्रोह कर सकते हैं। एक ईमानदार व्यक्ति के लिए ऐसे परिवेश में साँस लेना भी मुश्किल हो जाता है, क्योंकि वह खुद अपने आप को व्यवस्था के अनुरूप

ढाल नहीं सकता। ऑफिस में दाँव–पेंच लड़ा कर, सच को झूठ और झूठ को सच बना कर ही तरक्की मिलती है। सूरी, जो कि बेफिक्र और निडर है, कह उठता है, "फफूँदी के – तरक्की आजकल काबलियत से नहीं, मुँहचुमाई और पाँवघिसाई से मिलती है।"[48] क्लर्की जीवन का यथार्थ रूप प्रस्तुत करते हुए कृष्णा सोबती बोल्ड भाषा का इस्तेमाल करती हैं, जो कि अपनी ईमानदारी के लिए चर्चा का विषय रही है। जो भी चरित्र व्यक्तित्व संपन्न हैं तथा जिसमें व्यवस्था और वर्ग वैषम्य के प्रति आक्रोश एवं एक प्रकार के अस्वीकार का भाव है, वह अपना प्रतिरोध गालियों के माध्यम से व्यक्त करता है। गालियाँ पुराने जीवन–मूल्यों के अस्वीकार का प्रतीक हैं। इन मूल्यों को अस्वीकार के पीछे एक गहरी उदासी, ऊब एवं छटपटाहट है। राजेन्द्र यादव के अनुसार, "दुनिया भर की जालसाजियों, दन्द–फन्दों, बेईमानियों और आगे बढ़ने या अपने को बचाने के लिए दूसरे के गले पर पाँव रखने की क्रूर हृदयहीनताओं के बीच अपने को अकेला और मिसफिट पानेवाला सूद, गालियाँ देने के सिवा कुछ और कर ही नहीं पाता। न इस सारी व्यवस्था को तोड़–फोड़ सकता है और न बदल सकता है – वह सिर्फ गालियाँ दे सकता है, कुढ़ और घुटकर ....माँ–बहन की, हरेक के मुँह पर और पीछे....क्लर्कनुमा सारे लोग इस तकलीफ और फ्रस्ट्रेशन को समझते हैं, भीतर ही भीतर इस दबंग ईमानदारी की कद्र करते हैं, लेकिन अपने–अपने स्वार्थों से बँधे हैं।"[49]

अपने आस–पास के परिवेश से ऊब मित्रो के यहाँ भी है। एक उन्मुक्त रमणी की पुत्री मित्रो, जब एक संयुक्त परंपराबद्ध परिवार की बहू बन कर जाती है तो उसे इस परिवेश से एक तरह की ऊब होने लगती है। एक तो पति की शारीरिक असमर्थता, दूसरे पारिवारिक मान–मर्यादा का बोझ मित्रो के अंदर छटपटाहट पैदा कर देता है। इससे बच निकलने के लिए एक बार मायके में वह परपुरूष की दहलीज पर चली जाती है। लेकिन पुनः वापस लौट भी आती है, पारिवारिक निष्ठा का ख्याल कर के। राजेन्द्र यादव ने 'मित्रो मरजानी' की मित्रो और 'यारों के यार' के सूद के चरित्र

में साम्यता देखी है, "इस घुटे और सड़े माहौल में सबकुछ होते हुए भी अपने होने की आवाज बुलंद करते इस क्लर्क सूद और मित्रो में मुझे बहुत कम अंतर दिखायी देता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के नाम पर सदियों से एक ओर औरत के शरीर और शरीर से जन्म लेने वाली इच्छाओं को बाँधा गया है तो दूसरी तरफ पुरूष की स्वतंत्रता और महत्त्वकांक्षाओं को। मित्रो और सूद दोनों इसी सब के खिलाफ़ कृष्णाजी के 'डिफायेंट" मूड की अभिव्यक्तियाँ हैं, मित्रो अपने परम्पराबद्ध पारिवारिक वातावरण में और सूद टिपीकल दफ़्तरी परिवेश में। मूलतः दोनों एक ही तकलीफ़ से ग्रस्त हैं और दोनों इस सबके प्रति 'अस्वीकार' को एक ही भाषा में बोलते हैं। यानि अपने होने की ईमानदारी को झुठला नहीं पाते– झूठ और फ़रेब के खिलाफ़ एर्सट करता व्यक्तित्व ही यहाँ कृष्णाजी का मुख्य पात्र हैं।"[50]

कृष्णा सोबती के लिए कोई भी रचना जीवन के परिस्पन्दनों की अभिव्यक्ति है, इसलिए सबसे पहले वह समाज, यथार्थ, बाह्य परिवेश को अपनी चेतना से संपृक्त रखती हैं और किसी व्यक्ति या चरित्र को अपना माध्यम बना कर उस सामाजिक यथार्थ को, अपने युग के मानव के अंतर्द्वंद्व को, पीड़ा को अभिव्यक्त करती हैं। यथार्थ के चित्रण के आधार पर वह केवल बाह्य परिवेश और वातावरण को ही मूर्त नहीं करती हैं बल्कि समाज या व्यवस्था में रहने वाले व्यक्ति के संघर्ष को, घुटन को और उसके निरंतर बदलते जाते दृष्टिकोण को चित्रित करती हैं।

घ. जीवन की सहज स्वीकृति

किसी भी रचना के निर्माण में एक रचनात्मक जीवन–दृष्टि का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योग होता है। एक कल्पनाप्रसूत रचनात्मक जीवन दृष्टि के महत्त्व को प्रायः सभी रचनाकारों ने स्वीकार किया है। जीवनदृष्टि का स्वरूप भी जीवन के प्रवाह के अनुरूप बदलता रहता है। किसी रचनाकार की जीवन–दृष्टि मनुष्य की विचारधारा, भावना, संवेदना, कामना, आशा और आकांक्षाओं को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती है। यही नहीं, सामाजिक अंतःसम्बन्ध एवं सामाजिक समूह और वर्गों के संबंध भी जीवनदृष्टि में आवश्यक रूप से सम्मिलित होते हैं। कृष्णा सोबती के अनुसार, "किसी भी रचनाकार के लिए उसकी जीवन–दृष्टि अन्य सब लेखकीय उपकरणों से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।"[51]

किसी रचनाकार की जीवनदृष्टि का निम्रण उसके अनुभव करते हैं। कोई रचनाकार तभी सफल कहला सकता है, जब वह अपने निजी और वैयक्तिक अनुभवों को साधारणीकृत कर सके। आधुनिक रचनाकार की जीवनदृष्टि किसी विचारधारा विशेष से प्रेरित नहीं होती, बल्कि यथार्थबोध से निःसृत होती है। आज का रचनाकार यथार्थ के नजदीक होने के कारण ही युगीन संवेदनाओं को अधिक प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त करने में समर्थ है। कृष्णा सोबती के अनुसार, "लेखक को अपनी यात्रा कोरे आदर्शों की ढ़लानों और ऊँचाइयों में ही सम्पूर्ण नहीं करनी होती, उसका सफर ऐन जिन्दगी के बीचोंबीच होकर गुजरता है। उसकी मंजिल इंसान की जुर्रत और जीवट का लहू है जो निरन्तर संघर्षों में बहता है।"[52]

कृष्णा सोबती की जीवन दृष्टि मानवीय चेतना के नवीन बोध को समाहित किए हुए है, जो कि युगीन यथार्थ को जानने में सहायक है। सोबती की रचनादृष्टि के निर्माण में जो परिवेश सहायक रहा है, वह उनकी रचनाओं में सशक्त रूप से उभर कर आया है। सोबती के अनुसार, "रचना के गठन में रचना का अपना निज का

एकांत है– चिंतन है। उसका चिंतन उसकी सोच है जो गहरे में उसकी मानसिकता की जड़ों से उभरी है। वही उसके परिवेश और मूल्यों से जुड़ी जुटी है। उनमें रची–बसी है।"[53]

किसी भी रचनाकार की रचनादृष्टि, जीवन और जगत, परिवेश तथा विभिन्न परिस्थितियों के प्रति अपनाये गए उसके दृष्टिकोण से दूर तक प्रभावित होती है। कृष्णा सोबती ने वैयक्तिक तथा सामाजिक, दोनों ही प्रकार के जीवनमूल्यों को अपनी रचनाओं में उभारा है। सोबती की रचना दृष्टि आधुनिक जीवन मूल्यों से अनुप्राणित है, जो परिवेश के प्रति सम्पूर्ण संलग्नता, और अनुभवों की परस्पर संबद्धता से उत्पन्न हुई है। सोबती के अधिकांश चरित्र जीवन को जीने की जिजीवषा से भरपूर हैं, जीवन के प्रति कोई नकारात्मक या निषेधात्मक सोच उनके यहाँ नहीं मिलती। 'डार से बिछुड़ी' की पाशो में जीवन को जीने की उत्कंठा है। जितना ही वह जीवन को जीना चाहती है, उतना ही जिन्दगी उसके रास्ते बंद करती चलती है। परन्तु हर बार वह पुरानी रंजिशें भूलकर फिर से जीने को उद्यत होती है। अपने दुर्भाग्य के लिए किसी को जिम्मेदार ठहराने की प्रवृत्ति उसके अंदर नहीं है। अपने जीवन का सार उसे पता है, "आँगन के बीचोबीच छोटे कुँए की चरखड़ी पर लज लटकती थी। गागर उठा नीचे बहा दी तो जान पड़ा, मैं भी चरखड़ी पर चढ़ी लज हूँ। कभी इस गागर, कभी उस गागर।"[54] परन्तु इसके बावजूद पाशो जीवन से हारती नहीं। जीवन को जीने की उद्दाम लालसा मित्रो और रत्ती के यहाँ भी है। मित्रो, जिसके सामने देह तृप्ति का आदर्श है, समाज की लांछनाओं या धमकियों की परवाह नहीं करती। अपनी इच्छाओं को पूरा करते हुए वह जीवन बिताना चाहती है, चाहे इसके लिए उसे विवाहेतर संबंधों की शरण ही क्यूँ न लेनी पड़े। यदि मित्रो वापस अपने पति के पास लौट आती है तो किसी आदर्श की स्थापना के लिए नहीं। उसका यह निर्णय अपनी माँ की दुर्दशा को देख कर लिया गया है, "अपनी जुर्रत और औकात के बल पर यात्रा करते हुए मित्रो ने लेखक के बिना पूछे ही बाहर के खेमे से चौखट की ओर मुँह कर

लिया। अपने तन–मन के ताप–संताप, जलन–प्यास को फलाँग खुद की लीक को लाँघ जाना मित्रो के निकट परिवार की प्रतीती थी, उसकी वापसी नहीं।"[55]

रत्ती आधुनिक मानवीय संत्रासपूर्ण स्थिति में जीने की समस्या को प्रस्तुत करती है। रत्ती की लड़ाई दो स्तरों पर चलती है। एक तरफ तो भय और दहशत के कारण जड़ हो गये मन की कैद से मुक्त होने के लिए तो दूसरी तरफ अपनी व्यर्थता के बोध को कम करने के लिए। रत्ती का व्यक्तित्व खंडित है, परन्तु फिर भी वह स्वयं को फिर से पाना चाहती है। दिवाकर के माध्यम से वह आत्मादर को वापस पाती है एवं जीवन को जीने के लिए स्वयं को तैयार करती है।

'ऐ लड़की' की अम्मू भी जीवन को खुलकर जीने में विश्वास रखती है। अम्मू में जीवन को जी लेने की इच्छा है। मृत्युशैय्या पर पड़ी होने के बावजूद रूप, रस, गंध तथा स्पर्श के लिए उसकी इंद्रियाँ अभी सचेत हैं। वह जीवन को सत्य मानती है, एवं आसक्ति को जीवन का एक अनिवार्य अंग मानती है, "कहीं और नहीं, जीनेवालों का तीर्थ–धाम यहीं है...यहीं।"[56] अम्मू पलायनवादी दर्शनों का विरोध करती है। उसका मानना है कि जीवन से भागना आसान है, परन्तु उसे जी पाना मुश्किल है। वह जीवन को ही कर्मक्षेत्र मानती है। मृत्युशैय्या पर पड़ी अम्मू अपनी यादों के पिटारे में से एक–एक क्षण को जैसे वापस जी लेना चाहती है। अम्मू के अंदर, "अथाह स्मृतियों का कुण्ड है जहाँ से जीवन की आद्यध्वनियाँ बहती चली जा रही हैं।"[57] अम्मू जीवन की अस्थिरता को अच्छी तरह समझती है, "लड़की जीवन हिरण है हिरण। कस्तूरी मृग। इस क्षणभंगुर जगत में अपनी महक फैला यह जा और वह जा।"[58]

अम्मू ने एक ऐसी स्त्री का जीवन जिया है जो कि सामाजिक–आर्थिक सुरक्षा के लिए पुरूष पर निर्भर थी। अम्मू यह जानती है कि परिवार में नारी का कोई निजी अस्तित्व नहीं रह जाता। उसके व्यक्तित्व की पहचान किसी की पत्नी, किसी की माँ, नानी या दादी के रूप में होती है। इसीलिए वह जानती है कि, "उसका वक्त तब

सुधरेगा, जब वह अपनी जीविका आप कमाने लगेगी।"[59] अम्मू जानती है कि जीवन में दुख–सुख, लाभ–हानि सब लगे ही रहते हैं, "न जिन्दगी में कुछ नोना–नमकीन और कुछ मिश्री–मीठा। इतना ही। पछतावा कैसा। सबकी जन्मपत्री चितकबरी ही हुआ करती है।"[60] अम्मू को न तो अपने विगत के लिए कोई शोक है, ना ही आगत से कोई भय। अम्मू तटस्थ भाव से अपनी मृत्यु के विषय में बात करती है, वह मृत्यु के प्रति उसकी निःशंक मनोस्थिति को दर्शाता है। मृत्यु को निकट जान कर भी अम्मू का जीवन के प्रति लगाव कम नहीं हुआ है। अम्मू के यहाँ मृत्यु का जो स्वीकार दिखता है, वह वस्तुतः जीवन के प्रति उसके सहज स्वीकार को ही दर्शाता है। एक लम्बा जीवन बिताने वाली अम्मू मृत्यु को इसलिए तटस्थता से देख पाती है, क्योंकि उसने जीवन को ही सहज भाव से अंगीकार किया है।

कृष्णा सोबती के चरित्र यदि कहीं अकेले भी होते हैं, तो इसकी वजह उनका असामाजिक होना नहीं है। उनके चरित्र अकेले पड़ने पर भी जिन्दगी के बीच से अपना रास्ता निकालते हैं। व्यक्ति और समाज की संश्लिष्टता का जो आग्रह सोबती के यहाँ मिलता है, वह जीवन को उसकी संपूर्णता में स्वीकार करने का आह्वान करता है। मोहन राकेश के विचारों की साम्यता सोबती से काफी मिलती है। राकेश ने जिन्दगी से स्वयं के जुड़ाव को स्पष्ट करते हुए कहा है, "मैं वैयक्तिक और साहित्यिक दोनों स्तरों पर अपने को जिन्दगी में जुड़ा हुआ पाता हूँ– पर जुड़े होने का अर्थ जिन्दगी की सब परिस्थितियों को स्वीकार करके चलना नहीं है। जिन्दगी में बहुत कुछ जिसके प्रति विद्रोह और आक्रोश मेरे मन में है और वह सब जिन्दगी के ऐतिहासिक उफान के अंतर्गत आता है।...इस विद्रोह और आक्रोश की ही कुछ परिस्थितियाँ हैं जिनमें मैं कई बार अपने को अकेला भी पाता हूँ पर वह अकेलापन जूझने की एक स्थिति है, किसी तरह का अलगाव नहीं। यह जिन्दगी से अकेला होना नहीं है, जिन्दगी के बीच अकेला पड़कर अपने जुड़े होने का निर्वाह करना है।"[61]

यही वजह है कि सोबती के यहाँ भी यह अकेलापन किसी भी तरह असामाजिक नहीं है क्योंकि उनके चरित्र समाज के बीच जी कर ही अकेलेपन को चुनते हैं। 'ऐ लड़की' में अम्मू इसीलिए एकाकी होने को परम और श्रेष्ठ मानती है।

'समय सरगम' जीवन की सांध्यबेला पर खड़े एकाकी वृद्धों के माध्यम से सोबती व्यक्ति और समाज के अंतःसंबंधों को विश्लेषित करती हैं। आरण्या के लिए हर दिन एक आशीर्वाद है, उसका अकेलापन उसके निज का आख्यान है। आरण्या और ईशान जीवन को बूंद–बूंद जीने में विश्वास रखते हैं। जिन वरिष्ठ नागरिकों के पास परिवार है, जीवन में उनका विश्वास है, "सुख है, क्योंकि हवा है, धूप है, जल है। धरती पर हरियाली है और इस तन में धड़कती साँस है। निःसंदेह हम पुराने हैं, फिर भी यह समय निस्तेज नहीं। कामकाज से छुट्टी पा इसे भोगना भी सुख है जीने का। बहू–बेटों की नजरों में रूखाई, अवज्ञा, उदासीनता कुछ भी दीखते रहें– परिवार के साथ होने का सुख है गहरा। रहती है आत्मा शांत कि सभी कोई पास हैं। अपने साथ हैं।"[62]

दूसरी तरफ ऐसे लोग भी हैं, जिनके पास कोई परिवार नहीं, फिर भी जीवन में उनका भी विश्वास है, "जिन वरिष्ठ नागरिकों के आसपास परिवार नहीं– उनकी गिनती कम है। जिम्मेवारियाँ कम हैं। ....उन्हें कोई प्रतिकूल संकेत देनेवाला नहीं। जब तक हैं, मनमाना जिए जाओ।"[63] परिवार के मध्य रह रहे वृद्ध एवं परिवार से दूर, एकाकी रह रहे वृद्ध जीवन दोनों ही जी रहे हैं, लेकिन जो परिवार के साथ हैं, वे अब न तो सुरक्षित हैं, ना ही खुश हैं। लाला प्रभुदयाल और दमयंती कुछ ऐसे ही उदाहरण हैं, अपने बेटे–बहुओं की नजर की किरकिरी बनने के बावजूद दोनों ही अपने तरह से जीने का प्रयास करते हैं। प्रभुदयाल यदि कलावंती का सहारा लेते हैं तो दमयंती संन्यास का। अपनी तरफ से जिन्दगी का सामना करने की पूरी तरह से तैयारी करते हैं ये बुजुर्ग।

एकाकी जीवन बिता रही आरण्या को भी जीवन से कोई शिकायत नहीं। प्रकृति का साहचर्य उसके लिए नई उमंगों लेकर आता है, "देखने को क्या नहीं.... बहती रहो। धूप सनी हवाओं जब तक जीती हूँ, मुझ तक पहुँचती रहो। मैं अपने निज के समय को गुंजान रखना चाहती हूँ जो भी प्रतिफलित है, सिरजित है, अक्षरों की क्यारी में उसी को अंकित करना चाहती हूँ।"[64] आरण्या जीवन के हर पहलू को जीती है, अच्छा–बुरा, मीठा–कड़वा सभी उसके लिए ग्राह्य है। उसकी बोली में भी मिठास और कड़वापन दोनों के लिए ही स्थान है, "मैं मीठा–कड़वा दोनों चाव से खाती हूँ। मेरी बोली से अंदाजा लगाया जा सकता है। यहाँ सिर्फ मीठा ही नहीं, कड़वा भी है।"[65]

जीवन को उसकी समग्रता में जीने का आग्रह सोबती की रचनादृष्टि की विशेषता है। सोबती के चरित्र प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जीने का माद्दा रखते हैं, चाहे वह पाशो हो या आरण्या, भवानी बाबू हों या फिर ईशान।

संदर्भ सूची

[1] कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 59

[2] कृष्णा सोबती, दिलो दानिश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 52

[3] वही, पृ. 13

[4] वही, पृ. 135

[5] इंदु शुक्ला, भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में चित्रित देशकाल और भारतीय समाज, चिंता प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1990, पृ. 63

[6] डॉ. भैरू लाल गर्ग, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979, पृ. 244

[7] कृष्णा सोबती, यारों के यार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2004, पृ. 13

[8] वही, पृ. 50

[9] कृष्णा सोबती, जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979, पृ. 86

[10] वही, पृ. 87

[11] कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 77

[12] कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 120–121

[13] वही, पृ. 98

[14] वही, पृ. 100–101

[15] कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 396

[16] कृष्णा सोबती, यारों के यार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2004, पृ. 69

[17] वही, पृ. 69

[18] वही, पृ. 66

[19] वही, पृ. 54–55

[20] कृष्णा सोबती, समय सरगम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 13

[21] वही, पृ. 92

[22] डॉ. धर्मवीर भारती, मानव मूल्य और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1960 पृ. 155

[23] डॉ. जगदीश गुप्त, नई कविता : स्वरूप और समस्याएँ, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1969, पृ. 20

[24] राजेन्द्र यादव, व्यक्तित्व की खोज : कृष्णा सोबती, औरों के बहाने, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1980, पृ. 41–42

[25] कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 207

[26] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृ. 91

[27] कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 20–21

[28] कृष्णा सोबती, ज़िंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 242

[29] कृष्णा सोबती, कुछ नहीं–कोई नहीं, बादलों के घेरे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 91

[30] कृष्णा सोबती, न गुल था, न चमन था, बादलों के घेरे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 164

[31] कृष्णा सोबती, दादी–अम्मा, बादलों के घेरे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 35

[32] कृष्णा सोबती, समय सरगम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 63

[33] कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 75

[34] कृष्णा सोबती, यारों के यार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2004, पृ. 72

[35] डॉ. कीर्ति केसर, समकालीन हिन्दी कहानी का समाज सापेक्ष अध्ययन, नचिकेता प्रकाशन, दिल्ली, 1982, पृ. 173

[36] कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 88

[37] वही, पृ. 65

[38] कृष्णा सोबती, जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 243

[39] वही, पृ. 243

[40] वही, पृ. 39

[41] वही, पृ. 87

[42] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृ. 57

[43] वही, पृ. 90

[44] वही, पृ. 91

[45] नेमिचंद्र जैन, जनान्तिक, संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण, 1981, पृ. 45

[46] (सं.) डॉ. रामदरश मिश्र, नरेंद्र मोहन, हिन्दी कहानी : दो दशक की यात्रा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1979, पृ. 56

[47] डॉ. भगवानदास वर्मा, कहानी की संवेदनशीलता : सिद्धान्त और प्रयोग, पृ. 241

[48] कृष्णा सोबती, यारों के यार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 46

[49] राजेन्द्र यादव, औरों के बहाने, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1980, पृ. 42

[50] वही, पृ. 43

[51] कृष्णा सोबती, समास, पृ. 52

[52] कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 296

[53] वही, 296

[54] कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 83

[55] कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 388

[56] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृ. 116

[57] ध्रुवशुक्ल, समास, अंक 1, पृ. 55

[58] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृ. 119

[59] वही, 25

[60] वही, 33

[61] गिरीश रस्तोगी, मोहन राकेश और आषाढ का एक दिन, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001, पृ. 38

[62] कृष्णा सोबती, समय सरगम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 89

[63] वही, 107

[64] वही, 31

[65] वही, 31

चौथा अध्याय

कृष्णा सोबती के कथा-साहित्य में उपस्थित स्त्री

(क) स्त्री का व्यक्तित्व और टूटती सीमाएँ

(ख) स्त्री-पुरुष संबंध : बदलते समीकरण

(ग) प्रेम का स्वरूप : विवाह और विकल्प की तलाश

(घ) यौन नैतिकता : वर्जनाएँ बनाम मुक्ति

(ड.) नारी चेतना का नवीन स्वरूप

(क) स्त्री का व्यक्तित्व और टूटती सीमाएँ

भारतीय समाज एवं साहित्य में नारी की प्रस्थिति प्रारंभ से ही परिवर्तनशील एवं जटिल रही है। वैदिक युग में नारी की स्थिति सम्मानजनक थी, वह उच्च शिक्षा की अधिकारी थी और अपनी मर्जी से विवाह करने को स्वतंत्र थी। इस युग में घोषा, लोपामुद्रा, गार्गी, मैत्रेयी और आत्रेयी जैसी प्रसिद्ध विदुषियाँ हुईं, जिन्होंने कई ऋचाओं की रचना की। इस युग में नारी को पर्याप्त स्वतंत्रता थी। बी. कुप्पुस्वामी के अनुसार "...पति-पत्नी दोनों संयुक्त रूप से संपत्ति के अधिकारी होते थे।"[1] समाज में विधवा-विवाह का भी प्रचलन था। कुल मिला कर स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक थी। लेकिन उनके लिए एक सामाजिक दायरा बना हुआ था, अर्थात् वे पुरुष से श्रेष्ठ नहीं समझी जाती थीं। याज्ञवल्क्य और गार्गी संवाद के दौरान गार्गी के प्रश्नों से परेशान याज्ञवल्क्य कह उठते हैं कि अधिक बहस न करो अन्यथा तेरा सिर कट जाएगा।

वैदिक युग के पश्चात अनेक सामाजिक परिवर्तनों के कारण नारी की स्थिति में बहुत गिरावट आई। मनुस्मृति के अनुसार, सदाचार से हीन, पर-स्त्री अनुरक्त और विद्या आदि गुणों से हीन पति भी पतिव्रता स्त्रियों को देवता के समान पूज्य होता है –

"विशीलाः कामवृत्रो ब्रा गुणर्वा परिवर्जितः।
उपचर्य : स्त्रियासाधव्या सततं देववत्पतिः ।।"[2]

बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार आया। बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश को लेकर बुद्ध तथा उनके शिष्य आनंद के बीच बहस छिड़ी, क्योंकि बुद्ध स्त्रियों को प्रवेश देने के पक्ष में नहीं थे। लेकिन आनंद के हस्तक्षेप के कारण स्त्रियों को संघ में प्रवेश संभव हुआ। उमा चक्रवर्ती ने आनंद को पहला पुरुष स्त्रीवादी कहा है। उमा चक्रवर्ती के शब्दों में, "आनंद की विशेषता यह हे कि वह उन स्त्रियों के वकील की-सी भूमिका उठाता

है, जो संघ में आने का आंदोलन चला रही हैं। वह उन सारे मुददों को उठाता है जो स्त्रियों के विरूद्ध हैं और स्त्रियों के पक्ष में दलीलें पेश करता है। वह बुद्ध से बाकायदा बहस करता है कि स्त्रियाँ संघ से क्यों नहीं जुड़ सकती हैं। ...अंततः बुद्ध उसके तर्कों से सहमत होकर मान जाते हैं कि स्त्रियों को संघ में आने दिया जाए।"[3] इसक बावजूद बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों की प्रस्थिति में अंतर था। उमा चक्रवर्ती के अनुसार "कई ऐसे काम थे, जो बौद्ध भिक्षु कर सकते थे और भिक्षुणियाँ नहीं कर सकती थीं। .... जैसे एक नियम था कि भिक्षुणी चाहे जितनी भी बुजुर्ग हो, उसे भिक्षुक को प्रणाम करना ही पड़ेगा, चाहे वह उम्र में उससे जितना भी छोटा हो।"[4]

मध्यकाल के भक्ति-आंदोलन ने, जो कि एक जनांदोलन था, धर्म के माध्यम से महिलाओं को आत्माभिव्यक्ति का अवसर प्रदान किया । अपनी रचनाओं में इन्होंने यातना की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उस यातना से उबरने का प्रयास भी अभिव्यक्त किया है। मीरा के यहाँ सामाजिक रूढ़ियों के विरूद्ध विद्रोह का स्वर अत्यंत प्रखर है,

"लोकलाज कुल कानि जगत की, दइ बहाय जस पानी
अपने घर का परदा कर ले, मैं अबला बौरानी।"

डॉ. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, "यहाँ एक सजग स्त्री-स्वर सुनाई देता है जिसमें आक्रोश की अनुगूँज है किसी पीड़ित की चीख या पुकार नहीं।"[5]

भारत में अंग्रेज़ी शासन की स्थापना के साथ नारी की सामाजिक स्थिति में भी परिवर्तन आया। पाश्चात्य साहित्य एवं सभ्यता-संस्कृति के संपर्क में आने पर शिक्षित भारतीयों में जागरूकता आई। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर एवं दादा भाई नौरोजी द्वारा चलाये गये सुधार आंदोलनों ने नारी की स्थिति में सुधार लाया। अब उसे एक व्यक्तित्व के रूप में स्वीकृति मिली।

नारी को अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक करने तथा उसे घर की चहारदीवारी से मुक्त करा व्यापक जन-जीवन से जोड़ने में महात्मा गांधी ने

महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वाधीनता आंदोलन ने नारी स्वातंत्र्य आंदोलन को भी दिशा प्रदान की। नीरा देसाई के अनुसार, "इसने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की कि अनेक सामाजिक बंधन व वर्जनाएँ स्वयं ही सरलतापूर्वक समाप्त हो गईं।"[6] भारत की नारी को विस्तृत दृष्टि एवं सोच प्रदान करने में स्वाधीनता आंदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही। महादेवी वर्मा के अनुसार, "देश को स्वतंत्र करवाने के लिए जब स्त्री घर की चहारदीवारी से बाहर आई और कर्मक्षेत्र में उतर कर उसने देश के सामाजिक, राजनीतिक, परिवर्तनों में अपना योगदान दिया तो उसने स्वयं में एक नवीन आत्मविश्वास, एक नवीन जागृति पाई। उसे अपना जीवन सार्थक अनुभव होने लगा व उसमें छाई हीनता की भावना दूर होने लगी। पुरुष ने अपनी आवश्यकतावश ही उसे साथ आने की आज्ञा दी, परन्तु स्त्री ने उससे पग मिलाकर चलकर प्रमाणित कर दिया कि पुरुष ने उसकी गति पर बन्धन लगाकर अन्याय ही नहीं अत्याचार भी किया है।"[7]

देश की आज़ादी ने भारतीय नारी को भी मानसिक पराधीनता एवं जर्जर, रूढ़ परम्पराओं से भी मुक्त कराया। देश के संविधान का निर्माण समानाता, एवं स्वतंत्रता के प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के आधार पर हुआ। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री एवं पुरुष के लिए समान अधिकार एवं अवसरों का आश्वासन दिया गया। शिक्षा, आर्थिक स्वतंत्रता, समानता एवं भौतिकवादी दृष्टिकोण ने नारी की जीवन दृष्टि में क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। आज नारी स्वयं के अस्तित्व को पुरुष के अस्तित्व में एकाकार कर नहीं देखती, बल्कि सह-अस्तित्व की चाह रखती है। वह चाहती हैं कि उसके लिए जो नैतिकता के प्रतिमान बनाए जाएँ, वही पुरुष वर्ग के लिए भी अपेक्षित हो। अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने में आज नारी को कोई झिझक नहीं। उसे यह पता है कि, "मात्र मुक्ति की आकांक्षा ही काफी नहीं है, मुक्ति के प्रयत्न भी करने होंगे। अपनी जड़ता पर पहली चोट हमें खुद करनी होगी।"[8]

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्त्री को शिक्षित करने के सुधारवादी आंदोलन के पीछे भी पुरुषों के अपने लाभ थे। उमा चक्रवर्ती के अनुसार, "स्त्रियों को क्या चाहिए, यह भी पुरुष तय करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पुरुषों को शिक्षित स्त्रियाँ इसलिए चाहिए थीं कि उस समय एक नया वर्ग बन रहा था, जिसके लिए एक नये ढंग की स्त्री की जरूरत थी। यह अंग्रेज़ी शिक्षा पाया हुआ अभिजन वर्ग था। इस वर्ग के पुरुष ऐसी स्त्री चाहते थे, जो घर में बच्चों को नये ढंग से पाले और बाहर 'सोसायटी' में या 'सोशल लाइफ' में पति के साथ निकल सके। वे अंग्रेज़ी उपन्यास पढ़ते थे और उनकी 'हीरोईनों' को अपने आसपास देखना चाहते थे। वे बुद्धिजीवी थे और उन्हें ऐसी स्त्री की बड़ी चाह थी, जो उनकी बौद्धिक सहगामिनी हो। इसके लिए उन्हें स्त्रियों को शिक्षित करना जरूरी लग रहा था और इसीलिए वे गार्गी, मैत्रेयी आदि के उदाहरण सामने रख कर स्त्री-शिक्षा पर जोर दे रहे थे।"[9] इससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियों के लिए क्या वांछनीय है एवं क्या अवांछनीय, यह सोचने की स्वतंत्रता भी आजादी से पूर्व स्त्रियों को नहीं थी।

ऊर्वशी बुटालिया के अनुसार, "....कोई बहुत बड़ा आंदोलन भी यदि पुरुषों के नेतृत्व में चलता है, तो भले ही उसमें स्त्रियाँ काफी बड़ी संख्या में शामिल हों, पितृसत्ता बनी रहती है। स्वाधीनता आंदोलन हमारा सबसे बड़ा आंदोलन था और उसमें स्त्रियाँ भी बहुत बड़ी संख्या में शामिल थीं। लेकिन उन्हें पुरुषों के पीछे ही रखा जाता था। गांधीजी ने नमक सत्याग्रह के लिए दांडी मार्च किया, तो कहा कि इसमें स्त्रियाँ नहीं जाएँगी, क्योंकि इतनी दूर चलने से वे थक जाएँगी। जब सरोजनी नायडू अड़ गयीं कि स्त्रियाँ भी चलेंगी, तब गांधीजी ने कहा कि ठीक है, चलो। और फिर सबसे ज्यादा काम स्त्रियों ने ही किया।"[10]

भारतीय समाज में स्त्रियों की राय को दरकिनार करने की परंपरा आदिकाल से चली आ रही है। ऊर्वशी बुटालिया के अनुसार, "जीवन के ऐसे कई क्षेत्र हैं, जिनमें स्त्रियों की राय नहीं ली जाती। .... मसलन, शिक्षा कैसी हो, फिल्में

कैसी बनें, टी.वी. पर क्या दिखाया जाए, अखबारों में क्या छापा जाए, विज्ञापन किस तरह के बनाये जाएँ – इन सब बातों का फैसला पुरुष करते हैं और इन कामों में स्त्रियों को सिर्फ इस्तेमाल करते हैं। नतीजा यह होता है कि शिक्षा और मीडिया वगैरह से हर जगह मर्दवादी दृष्टिकोण ही सामने आता है।.... भारतीय स्त्री की जो छवि बनाई जाती है – चाहे वह देवी की हो या वेश्या की – उसमें कोई स्त्रियों से नहीं पूछता कि इन चीजों के बारे में उसका दृष्टिकोण क्या है।"[11]

आज औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं आधुनिकीकरण ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य के जिस नवीन जीवन मूल्य को जन्म दिया है, उसने नारी की मानसिकता एवं रहन-सहन को गहरे तौर पर प्रभावित किया है। आज नारी अपने व्यक्तित्व को स्वाधीन बनाए रखना चाहती है, जीवन के सभी क्षेत्र में पुरुष की बराबरी करना चाहती है, जबकि पुरुष सदियों से स्वयं को सर्वश्रेष्ठ समझ जाने के विशेषाधिकार को छोड़ना नहीं चाहता। परिणामस्वरूप स्त्री-पुरुष संबंधों में तनाव की स्थिति आ जाती है।

भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति में आने वाले परिवर्तन को तद्युगीन साहित्य में भी अभिव्यक्ति मिली है। कृष्णा सोबती ने अपने कथा-साहित्य में स्त्री के व्यक्तित्व में आ रहे परिवर्तन और उसके द्वारा सामाजिक -नैतिक सीमाओं के अतिक्रमण को व्यक्त करने का प्रयास किया है। सोबती की नारी समाज की रूढ़-जर्जर मान्यताओं व प्रतिमानों को चुनौती देती है, तथा अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए हर संभव प्रयत्न करती है। वह अपने संवैधानिक अधिकारों को हासिल कर, अपने अस्तित्व को आकार देने का प्रयत्न करती है। कृष्णा सोबती ने एक स्त्री की दृष्टि से स्त्री के अंतर्मन की व्यथा, उसकी पीड़ा को समझने का प्रयत्न किया है।

कृष्णा सोबती की नारी नारीत्व से मुक्ति की आकांक्षा नहीं रखती, बल्कि पितृसत्तात्मक मानसिकता से मुक्त होने की आकांक्षी है। वह नारीत्व को त्याग कर पुरुष का स्थानापन्न नहीं बनना चाहती, बल्कि अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक होना चाहती है, स्वयं को पहचानना चाहती है एवं अपने व्यक्तित्व को विकसित करना चावादी दृष्टि से देखा गया। वह या तो देवी के रूप में चित्रित

हुई, या फिर दानवी के रूप में। एक मानव के रूप में, उसके चित्रण का सफल प्रयास जिन स्वातंत्र्योत्तर महिला रचनाकारों ने किया, सोबती उनमें प्रमुख हैं। नारी की मानसिकता, उसकी समस्याओं एवं उसकी आकांक्षाओं का सशक्त एवं यथार्थ चित्रण करने में स्वातंत्र्योत्तर महिला-रचनाकारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

सामाजिक परिदृश्य में बदलाव के साथ ही नारी की बदलती जीवन दृष्टि, उसकी बैचारिक सोच, वैयक्तिक स्वतंत्रता के प्रति उसका झुकाव, अस्मिता के प्रति जागरूकता एवं पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था से मुक्ति की छटपटाहट को सोबती ने अपनी रचनाओं में स्वर देने का प्रयत्न किया है। अर्चना वर्मा के अनुसार, "कृष्णा सोबती के पात्रों का औरत होने का एहसास पुरुष या प्यार की जरूरत के एहसास से कहीं गहरी और जटिल चीज हैं। वह पुरूष के विरोध या सहयोग में खड़े होकर अपने औरत होने को प्रमाणित करने की जरूरत से आगे और परे है।"[12]

कृष्णा सोबती के नारी पात्रों का व्यक्तित्व बहुआयामी है। वे पत्नी हैं, तो प्रेमिका भी हैं, सहनशील हैं तो दबंग भी हैं। समाज की अपेक्षित एवं शोषित वर्ग की स्त्रियों, जैसे वेश्या एवं रखैल हैं, तो दूसरी तरफ नौकरीपेशा, शिक्षित स्त्रियों भी सोबती के कैनवस पर चित्रांकित हुई हैं। एक तरफ परंपरा में बंधी हुई स्त्री हैं, तो दूसरी तरफ परंपरागत मूल्यों को ध्वस्त करने वाली स्त्री भी मौजूद हैं। यदि उच्चवर्ग की नारी मौजूद है, तो निम्न वर्ग की नारी भी उपस्थित है।

चाहे दबंग तेवर वाली मित्रो हो या भावुक जया, नारी-सुलभ ईर्ष्या से धधकती कुटुम्ब हो या समर्पिता महक हो, सभी के व्यक्तित्व के विविध परत सोबती की रचनाओं में उभर कर आए हैं। सोबती की नायिकाओं का जीवन संसार वैविध्य को लिए हुए हैं। एक तरफ घर की चहारदीवारी में कैद अनपढ़ पाशो हैं, तो दूसरी तरफ टाइपिस्ट तमाशा, और नादिरा दस्तूर जैसी स्त्रियाँ, जो पुरुषों से अपना काम निकलवाने के लिए स्वयं को समर्पित करते नहीं झिझकतीं। एक तरफ

मेहराँ और शीला जैसी पति परायण स्त्रियाँ मौजूद हैं तो दूसरी तरफ धन्नो और शम्मोजान जैसी वेश्याएँ भी।

परंपरा आबद्ध एवं परंपरामुक्त, नारी व्यक्तित्व के इन दोनों छोरों को ही समेट कर कृष्णा सोबती अपना कथा संसार रचती हैं। सामाजिक रूढ़ियों और नैतिक सीमाओं को तोड़ती उनकी नारी आधुनिक नारी-अस्मिता को प्रमाणित करती है।

(ख) स्त्री-पुरुष संबंध : बदलते समीकरण

बदलते सामाजिक परिवेश ने जिन जीवन मूल्यों को उत्पन्न किया है, वे मानवीय संबंधों को कई स्तरों पर प्रभावित कर रहे हैं। मानवीय संबंधों के स्वरूप में आधुनिक युग में आमूल परिवर्तन आया है। राजेंद्र यादव के अनुसार, "संबंधों के क्षेत्र में सबसे अधिक भीषण संक्रांतियों से गुजरना पड़ा है नारी और पुरुष के आपसी संबंधों को।"[13] औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं भूमण्डलीकरण ने जिस सामाजिक व्यवस्था को निर्मित किया है, उसने स्त्री और पुरुष के परंपरागत संबंधों के समीकरण को बदल दिया है।

स्त्री एवं पुरुष के संबंधों में परिर्तन के पीछे एक प्रमुख कारण है नारी का अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक होना। पुनर्जागरण, देश के स्वाधीनता संग्राम एवं स्वातंत्र्योत्तर भारत में स्त्रियों के लिए बनाये गये अनेक प्रभावी कानूनों एवं सुधार कार्यक्रमों ने स्त्रियों को न केवल आत्मनिर्भर बनाया, बल्कि उनके अंदर आत्मविश्वास भी उत्पन्न किया। समाज में आ रहे इस परितर्वन को साहित्य ने भी परिलक्षित किया है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग पर यदि हम दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि स्त्री एवं पुरुष के संबंधों के विभिन्न पहलुओं को रचनाकारों ने अपनी-अपनी तरह से स्थापित करने का प्रयास किया है।

1) **प्रेमचंद युग** : बीसवीं सदी के हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद का अवतरण विभिन्न सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक समस्याओं को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इस दौर में भारतीय समाज में अनेक प्रकार की उथल-पुथल मची हुई थी। संयुक्त परिवार टूट रहे थे और एकल परिवार अस्तित्व में आने लगे थे। दहेज प्रथा, विधवा समस्या, बाल विवाह एवं वेश्याओं की समस्या ने नारी की स्थिति को अत्यंत शोचनीय बना दिया था। समाज में मौजूद स्त्री-पुरुष संबंधों में बदलाव की जरूरत थी। प्रेमचंद की नारी-विषयक दृष्टि जटिल है। प्रगतिशील होने के साथ-साथ वे परंपरावादी भी है। प्रेमचंद का युग समाज सुधार का युग था। परंपरावादी सोच यह मानती थी कि शिक्षित स्त्री भी घर का काम-काज ही देखेगी, घर का हिसाब-किताब रखेगी, नौकरों पर नियंत्रण रखेगी। दूसरी तरफ प्रगतिशील दृष्टि यह जानना चाहती है कि स्त्री और पुरुष की समाज द्वारा प्रदत्त भूमिका में कोई बदलाव संभव है या नहीं। प्रेमचंद के यहाँ एक समाज - सुधारक की चेतना मौजूद है। अपने पहले उपन्यास 'सेवासदन' (1917) में ही वे नारी के साथ खड़े दिखते हें। स्त्री को वेश्या बनाने के लिए वे पुरुष समाज को उत्तरदायी मानते हैं। 'निर्मला' में दहेज प्रथा की वजह से उत्पन्न अनमेल विवाह और उससे उपजी दाम्पत्य जीवन की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। एक ऐसी स्त्री के मनोभावों को समझने का प्रयास किया गया है जिसका विवाह उसके पिता के उम्र के व्यक्ति से हो गया है। निर्मला अपने पति के साथ पूर्ण तादात्म्य बिठाने में असफल रहती है एवं उसका दाम्पत्य जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है। प्रेमचंद की 'कुसुम' कहानी दहेज-प्रथा पर आधारित है। कुसुम का पति अपेक्षित दहेज न मिलने की वजह से उससे खिंचा-खिंचा रहता है। जब तक कुसुम को पति की उपेक्षा का कारण नहीं मालूम, वह उसे मनाने के प्रयत्न करती है। परंतु जब उसे कारण का पता चलता है, वह पति से अलग रहने का निर्णय लेती है। प्रेमचंद ने उसके स्वाभिमान की रक्षा की है।

दाम्पत्य संबंधों में पारस्परिक ईमानदारी एवं सहिष्णुता को प्रेमचंद अत्यावश्यक मानते हैं। 'आभूषण' नामक कहानी में वे बाह्य सौंदर्य की तुलना में

आंतरिक गुणों की महत्ता को स्थापित करते हैं। 'सोहाग का शव' एवं 'अंतिम शांति' की नायिकाएँ भी पति के दुर्व्यवहार को सहन नहीं करती।

'खुचर' कहानी में एक स्त्री के प्रजातांत्रिक के प्रश्न को उठाया गया है, जिसका पति उसके हर काम में दखलअंदाजी करता है। लेकिन इसके बावजूद प्रेमचंद का दृष्टिकोण परंपरावादी है। 'गोदान' में वे मेहता के मुख से कहलवाते हैं कि यदि स्त्री में पुरुष के गुण आ जाएँ, तो वह अनुचित स्थिति होगी, जबकि पुरुष में स्त्री के गुण आ जाएँ, तो वह देवता बन जाएगा। त्याग, तपस्या जैसे गुणों को वे स्त्री के लिए आवश्यक मानते हैं, जबकि पुरुषों से उनकी ऐसी कोई अपेक्षा नहीं। प्रेमचंद मालती के निंदक इसलिए हैं क्योकि वह शिक्षित है, पुरुषों से बेहिचक बातचीत करती है। गोविंदी चूकि घरेलू स्त्री है, इसलिए उसकी महानता की वे चर्चा करते हैं। प्रायः किसी भी शिक्षित स्त्री का अच्छा चित्रण प्रेमचंद के यहाँ नहीं है। यही वजह है कि मालती को भी वे अंत में घरेलू बना देते हैं।

स्त्री-संबंधी कुछ भ्रम, जैसे कि उच्च शिक्षित स्त्री पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करेगी एवं पति के साथ तालमेल नहीं बिठा पाएगी, की वजह से प्रेमचंद के कई स्त्री चरित्र निर्जीव हो गए हैं। लेकिन प्रेमचंद ने अपने आदर्शों के विपरीत स्त्री चरित्रों की भी रचना की है। अपनी कई रचनाओं जैसे 'जुलूस', एवं 'समरयात्रा' जैसी कहानियों एवं 'कर्मभूमि' जैसे उपन्यासों में वे स्त्री चरित्रों को स्वाधीनता-संग्राम में हिस्सा लेते दिखाते हैं। हँसराज रहबर के अनुसार, "प्रेमचंद जीवन-पर्यन्त स्त्री-पुरुष के संबंध का, विवाह समस्या का हल ढूँढते रहे। कुछ व्यक्तिगत ढंग से और कुछ आदर्शवादी व गांधीवादी ढंग से, उन्होंने इसका हल सोचा भी लेकिन वे किसी नतीजे पर पहुंच न सके।"[14]

प्रेमचंद की रचनाओं में स्त्री-पुरुष संबंध की विभिन्न स्थितियों एवं उनसे जुड़े प्रश्नों को उठाया गया है। अपनी रचनाओं द्वारा वे इन संबंधों के लिए नैतिकता, त्याग एवं बलिदान जैसे मापदण्ड स्थापित करते हैं जो कि स्त्री एवं पुरुष, दोनों के लिए ही मान्य हों।

प्रेमचंद के ही समकालीन जयशंकर प्रसाद जो कि छायावादी कवि थे, अपने कथा-साहित्य में भी अपने कवि रूप से प्रभावित रहे हैं। अपनी रचनाओं में स्त्री-पुरुष संबंधों का चित्रण उन्होंने आदर्शवादी रूप में किया है। प्रसाद के नारी चरित्रों का चित्रण उदात्तता के धरातल पर हुआ है। "नारी के व्यक्तित्व में त्याग-भाव, क्षमाशीलता, भावुकता, मादकता तथा सुंदरता का संगम है जो इनके लगभग सभी नारी-पात्रों में ललित होता है।"[15] प्रसाद के पुरुष चरित्र भी दृढ़निश्चयी, वीर एवं तेजस्वी हैं, जो कि नारी के सम्पर्क में आकर अत्यंत संवेदनशील बन जाते हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों में प्रसाद के नारी पात्र पुरुष से उच्चतर भूमि पर खड़े नजर आते हैं। चाहे वह 'चंद्रगुप्त' नाटक की कार्नेलिया हो या फिर 'पुरस्कार' कहानी की मधुलिका, इनके लिए इनके स्वयं के अस्तित्व का भी उतना ही महत्व है, जितना पुरुष के अस्तित्व का।

प्रसाद के यहाँ, पारस्परिक सहयोग दाम्पत्य संबंधों की आधारभूमि है। 'सहयोग' नामक कहानी में उन्होंने दिखलाया है कि किस प्रकार पारस्परिक असहयोग दाम्पत्य संबंधों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है। स्त्री-पुरुष संबंध यहाँ उन्मुक्तता के धरातल पर नहीं है, बल्कि गृहस्थी की डोर में बँधे दिखाई देते हैं। 'आंधी', नामक कहानी में उन्होंने उन्मुक्त जीवन के ऊपर गृहस्थ जीवन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। अतः प्रसाद के यहाँ भी स्त्री-पुरुष संबंध मर्यादा की डोर में बँधे दिखते हैं।

2) प्रेमचंदोत्तर युग : जैनेंद्र को व्यष्टि-बोध का रचनाकार माना जाता है। इनके कथा-साहित्य में सामाजिक यथार्थ की बजाय व्यक्ति मन के यथार्थ को प्रधानता दी गई है। जैनेंद्र के यहाँ चरित्रों की प्रतिष्ठा आदर्शवाद के धरातल पर नहीं हुई है, बल्कि उनके पात्र साधारण व्यक्ति हैं, जिनमें राग-विराग, द्वेष-प्रेम इत्यादि सभी गुण-अवगुण मौजूद हैं। जैनेंद्र ने स्त्री और पुरुष को एक दूसरे का पूरक माना है, "नितान्त स्त्री और नितांत पुरुष व्यक्तित्व पाता ही नहीं।[16] जैनेन्द्र ने सामाजिक रूढ़ियों में कैद नारी को प्रतिरोध का साहस दिया और उसकी इयत्ता को अत्यंत

महत्त्वपूर्ण माना। स्त्री-पुरुष संबंधों में स्त्री के दोहरे दर्जे को यथार्थ रूप से दिखलाते हुए जैनेंद्र किसी भी प्रकार के समाधान का प्रयास नहीं करते हैं। यदि 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' के नारी पात्र, सामाजिक मान्याताओं का निषेध करते हैं, तो दूसरी तरफ 'पत्नी' कहानी में समाज द्वारा स्वीकृत भूमिका का एक स्त्री द्वारा निर्वाहन उभर कर आया है। स्त्री एवं पुरुष के टकराव और परिणामस्वरूप टूट रहे परिवार एवं समाज का चित्रण जैनेंद्र की रचनाओं का मुख्य विषय रहा है। जैनेंद्र के लिए प्रेम एक वैयक्तिक मूल्य है। अपनी रचनाओं में उन्होंने स्त्री और पुरुष के संबंधों का चित्रण इसी वैयक्तिक मूल्य के आधार पर किया है।

अज्ञेय वैयक्तिक मूल्यों के रचनाकार है। व्यक्ति के स्वतंत्र विकास और उसके व्यक्तित्व की उन्नति को वे समाज के विकास के लिए भी आवश्यक मानते हैं। उनके अुनसार, "व्यक्ति को नैतिक निर्णय की क्षमता से सम्पन्न करके ही अंततः समाज का नैतिक धरातल ऊँचा किया जा सकता है।"[17] स्त्री-पुरुष संबंधों की विविध स्थितियों का यित्रण अज्ञेय के यहाँ मिलता है। अज्ञेय के नारी पात्र, संबंधों के स्तर पर, पुरुषों की बराबरी करते नहीं दिख पड़ते। नारी पात्र पुरुष पात्र के लिए अपने स्व का उत्सर्ग करते दिखाई पड़ते हैं। 'शेखरः एक जीवन' की शशि हो या फिर 'नदी के द्वीप' की रेखा, इनकी सार्थकता शेखर या भुवन के लिए अपने आपको मिटा देने में है। स्त्री एवं पुरुष संबंधों के चित्रण के लिए अज्ञेय ने मनोविज्ञान एवं बैद्धिकता का सहारा लिया है।

यशपाल प्रगतिवादी विचारधारा के रचनाकार हैं। एक शोषणहीन समाज की रचना का उद्देश्य उनके साहित्य का मुख्य विषय रहा है। स्त्री-पुरुष संबंधों में एक वर्जनाहीन उन्मुक्त दृष्टि यशपाल की विशेषता है। "एक ओर यदि आर्यसमाजी जीवनदर्शन के परिणामस्वरूप वे अकारण संयम की आत्मघाती प्रवृत्ति की तीखी आलोचना करते हैं तो दूसरी ओर प्रेम की शाश्वत और रोमानी अवधारणा का भी तिरस्कार करते हैं।"[18] यशपाल के यहाँ काम-प्रसंगों को सामाजिक अंतर्विरोध से जोड़कर देखा गया है, उदाहरणार्थ, 'तुमने क्यों कहा था मैं सुंदर हूँ!" जैसी

कहानियाँ और 'क्यों फँसें' तथा 'दादा कॉमरेड' जैसे उपन्यास। यशपाल एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था चाहते हैं, जहाँ स्त्री को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त हो सके। डॉ. त्रिभुवन सिंह के अनुसार, "यशपाल की दृष्टि में तो नारी वह रूमाल है जिससे जितने आदमी अपना मुँह पोंछ सकते हैं। उससे कालिख छूटेगा ही लगेगा नहीं। स्त्री एक नहीं अनेक पुरुषों के साथ रमण करने पर भी पवित्र रह सकती है यदि उसका मन पवित्र है।"[19] 'झूठा-सच' में डॉ. प्राणनाथ द्वारा तारा को अपनाया जाना इसी दृष्टिकोण का परिचायक है।

3) स्वातंत्र्योत्तर युग : स्वातंत्र्योत्तर रचनाकारों ने परंपरागत जीवन मूल्यों को पूरी तरफ से नकारा तो नहीं है, परंतु उनका आग्रह उन नवीन जीवन.मूल्यों की तरह है जो व्यक्ति-स्वातंत्र्य को प्रतिष्ठा देते हैं। इनके यहाँ सामाजिक रूढ़िवादिता का विरोध है तथा नये जीवन-मूल्यों को अर्जित करने का प्रयास भी है।

निर्मल वर्मा के स्त्री-पुरुष पात्रों को नैतिक या अनैतिक का द्वंद्व नहीं सताता। 'परिन्दे, कहानी की लतिका यदि अपने प्रथम प्रेम की स्मृति को भुलाना नहीं चाहती, तो वहीं 'वे दिन' की रायना आये दिन पुरुष बदलती रहती है एवं उसे इसका कोई पछतावा भी नहीं। लेकिन स्त्री, यहाँ स्वयं को पुरुष के लिए दाँव पर नहीं लगाती।

मोहन राकेश के यहाँ पारम्परिक मूल्यों की टूटन अभिव्यक्त हुई है। 'न आने वाला कल' उपन्यास की शारदा नवीन जीवन दृष्टि से संपृक्त है। पति के मारने पर वह उसका विरोध करती हुई कहती है – "एक औरत सब कुछ सह सकती है जी, पर मार खाना कभी बर्दाश्त नहीं कर सकती। हम आजकल की औरतें हैं, उस जमाने की नहीं जब मर्द लोग चादर डालकर उन्हें पीट लिया करते थे। उस जमाने में तो किसी औरत की दूसरी शादी हो ही नहीं सकती थी पर आजकल तो औरतें भी चाहें तो दूसरी शादी कर सकती हैं। सरकार ने इनके लिए भी कानून ऐसे नहीं बनाया।"[20] मोहन राकेश ने यह भी दिखाया है कि किस प्रकार से आर्थिक स्थिति स्त्री और पुरुष के संबंधों को प्रभावित करती है। 'सुहागिनें',

कहानी में पति एवं पत्नी के मध्य की दूरी बढ़ती चली जाती है, आर्थिक समस्याओं को दूर करने के प्रयास में।

स्वातंत्र्योत्तर कथा लेखिकाओं ने अपने कथा-साहित्य में पुरुष रचनाकारों द्वारा प्रस्तुत नारी की छवि को खंडित कर उसे उसकी संपूर्णता में उकेरने का प्रयास किया। उस दौर की लेखिकाओं में मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा एवं कृष्णा सोबती उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाओं में प्रस्तुत नारी अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु प्रयत्नरत है, पारंपरिक सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करती है, एवं स्त्री-पुरुष संबंध में समानता की माँग रखती है। मन्नू भण्डारी की 'ऊँचाई' कहानी की नायिका दाम्पत्य संबंध में शारीरिक पवित्रता के मुददे को महत्वपूर्ण नहीं मानती। उसके लिए नैतिकता एवं अनैतिकता का प्रश्न परिस्थिति के सापेक्ष है। अपने पूर्व-प्रेमी से संबंध स्थापित कर उसे कोई ग्लानि नहीं होती। उसके लिए दाम्पत्य संबंध, "... इतना ज्यादा पवित्र है कि सारे संसार की अपवित्रता भी इसमें आकर पवित्र हो जाती है।"[21] मन्नू भण्डारी एवं उषा प्रियंवदा के ही दौर में कृष्णा सोबती भी आती हैं। कृष्णा सोबती के लिए कहा जाता है कि इन्होंने स्त्री लेखन को संपूर्ण लेखन में तब्दील किया। कृष्णा सोबती की रचनाओं में पंजाब का समाज, सामाजिक संबंध एवं परंपरागत संस्कारबद्ध स्त्री का अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु संघर्ष उभर कर आता है। कृष्णा सोबती के यहाँ स्त्री-पुरुष संबंधों को नैतिकता का मुलम्मा चढ़ा कर प्रस्तुत नहीं किया गया है। सोबती के नारी पात्रों में खुद को लेकर कहीं कोई हीन भावना नहीं है। वे आत्मपीड़क नहीं, बल्कि अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने का माद्दा रखते हैं। सोबती के नारी पात्र नवीन चेतना से संपृक्त है, अतः स्त्री-पुरुष संबंधों के अंतर्गत परंपरागत दृष्टि का विरोध करते हुए समानता जैसे नवीन मूल्य की प्राप्ति का प्रयास करते हैं।

i) पति-पत्नी सम्बंध : स्त्री-पुरुष संबंधों में से प्रमुख है पति-पत्नी संबंध। नवीन जीवन-मूल्यों ने पति-पत्नी के परंपरागत संबंधों के उस स्वरूप को परिवर्तित किया है, जिसमें पत्नी की कोई स्वतंत्र इच्छा या निर्णय मान्य नहीं था। कृष्णा सोबती के

कथा- साहित्य में पति-पत्नी संबंधों की विभिन्न स्थितियों का चित्रण मिलता है। 'डार से बिछुड़ी' में पाशो का विवाह उसके पिता की उम्र के दिवान जी से होता है। पाशो कोई प्रतिरोध नहीं करती इस संबंध को लेकर, सिवाय एक हल्की सी आशंका के,– "जी धक्-धक् करने लगा। जिनकी बैठक में रात-भर टिकी थी, वह तो किसी के बेटे-से नहीं दीखते थे। पका-पका चेहरा..."[22] उम्र का एक लंबा अंतराल होने के बावजूद दोनों का अल्पकालिक दाम्पत्य जीवन सुखद बीतता है। पाशो लेकिन स्वयं को दिवानजी की बराबरी में नहीं रखती, बल्कि स्वयं को उनका चाकर मानती है। पाशो की माँ और शेखजी का दाम्पत्य जीवन भी सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा है, हालांकि माँ को इस बात की ग्लानि है, कि एक विधवा होने के बावजूद भी उसने अंतर्जातीय विवाह, घरवालों को नाराज कर के किया है।

'मित्रो मरजानी' में पति-पत्नी के चार युग्म मौजूद हैं। गुरूदास धनवंती तथा बनवारीलाल और सुहागवंती का जीवन परम्परागत दाम्पत्य संबंधों को निरूपित करता है, जिसमें पति घर का कर्ता-धर्ता होता है, और पत्नी उसकी अनुगामिनी। लेकिन यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सोबती ने अकारण पुरुष पात्रों को क्रोधी या क्रूर नहीं बनाया है, प्रायः पुरुष पात्र सहिष्णु ही हैं। सरदारीलाल एवं सुमित्रावंती का दाम्पत्य जीवन परंपरागत संबंधों से हट कर है, इसकी वजह है मित्रो का तथाकथित परंपरागत नारी के प्रतिमान में फिट न बैठना। अपनी शारीरिक जरूरतों का बेबाकी से खुलासा करने वाली मित्रो, सरदारीलाल की शारीरिक असमर्थता को ताने ही नहीं देती, बल्कि गाहे-बगाहे पर-पुरूष के संसर्ग की कल्पना भी किया करती है। अपने रूप और यौवन पर उसे गर्व है, "...जब तक मित्रो के पास यह इलाही ताकत है मित्रो मरती नहीं।"[23] मित्रो पति के साथ बरबरी का संबंध चाहती है। सरदारीलाल से झगड़ा होने पर धनवंती मित्रो को समझाती है, "समित्रावन्ती, इसे जिद चढ़ी है तो तू ही आंख नीची कर ले। बेटी, मर्द मालिक का सामना हम बेचारियों को क्या सोहे? बहू ने बिफर कर और सिर ऊँचा कर लिया और पहले की-सी ढ़िठाई से सामना किए रही।"[24]

मित्रो चाहती है कि पति उसे एक मित्र के रूप में देखे, एक दासी के रूप में नहीं। वह उसके सुख-दुख, प्यार-प्रीति सभी बाँट लेना चाहती है, "महाराज जी, न थाली बाँटते हो.... न नींद बाँटते हो, दिल के दुखड़े ही बाँट लो। "अपनी तरफ से मित्रो हर संभव प्रयास करती है परिवार पर आई विपत्ति को टालने के लिए। यद्यपि सरदारीलाल उसे बराबरी का दर्ज नहीं देता, लेकिन मित्रो स्वयं को उसके समकक्ष समझे जाने का हर संभव प्रयास करती है। मित्रो उस सामाजिक व्यवस्था पर भी प्रश्नचिन्ह लगाती है, जो स्त्री और पुरुष दोनों के लिए भिन्न-भिन्न नैतिकता के प्रतिमान बनाती है, "जिन्द-जान का यह कैसा व्यापार? अपने लड़के बीज डालें तो पुण्य, दूजे डालें तो कुकर्म।"[25] मित्रो की इस बेबाकबयानी की वजह बहुत कुछ उसके सामाजिक परिवेश को जाती है। मित्रो की इस अतिकामुकता की वजह है उसके मायके का उन्मुक्त वातावरण एवं माँ की स्वच्छंद जिंदगी। स्वयं मित्रो के शब्दों में, "सात नदियों की तारू, तवे-सी काली मेरी माँ और मैं गोरी-चिटटी उसकी कोख पड़ी। कहती है, इलाके के बड़भागी तहसीलदार की मुहाँदरा है मित्रो। अब तुम्ही बताओ, जिठानी, तुम-जैसा सत-बल कहाँ से पाऊँ -लाऊँ? [26] मित्रो, वह सब कुछ करने में यकीन रखती है, जो कि एक पुरुष कर सकता है। पति का उपेक्षापूर्ण व्यवहार मित्रो के विद्रोह को भड़काने का काम करता है। शारीरिक तृप्ति के अलावा मित्रो मातृत्व का सुख भी चाहती है, लेकिन सरदारी उसकी कोई परवाह नहीं करता। मित्रो के शब्दों में, –"मेरा यह बेअकल मर्द-जना यह नहीं जानता कि मुझ-सी दरियाई नार किस गुर से काबू आती है। मैं निगोड़ी बन-ठन के बैठती हूं तो गबरू सौदा-सुल्फ लेने उठ जाता है।"[27] सरदारी परंपरागत पुरुष की सोच रखता है। वह मित्रो की इच्छाओं को समझने में असमर्थ है, इसीलिए कभी उसे नूरमहल, तो कभी कूड़ा-करकट और छिनाल कह कर संबोधित करता है। मित्रो एक तरफ तो सरदारी से असंतुष्ट हो कह उठती है, –"सुरखरू हो बैठो, अम्मा! तुम्हारे इस बेटे के यहाँ कुछ होगा तो मित्रो चूहड़ी के पैरों का धोवन पी अपना जन्म सुफल कर लेगी।"[28] लेकिन दूसरी तरफ मित्रो, पति के लिए संरक्षणात्मक भाव भी रखती है। अपनी माँ बालो के सामने वह पति को

'गुरयानी सिंह' कहती है, तथा उसकी बुरी नीयत देख उसे धिक्कारने से भी पीछे नहीं हटती। अंत में अपने पति के पास लौटते हुए वह उसकी लबी उम्र की कामना करती है – "कहीं मेरे साहिबजी को नजर न लग जाये इस मित्रो मरजानी की।"[29]

मित्रो के माध्यम से कृष्णा सोबती ने स्त्री-पुरुष संबंध को एक नये सिरे से विश्लेषित किया है। फूलावन्ती और गुलजारीलाल के संबंध में नियंत्रक की भूमिका फूलावन्ती की ही है। वह अपने इशारों पर अपने पति को नचाती रहती है, तथा ससुराल छोड़कर मायके में बसने का निर्णय लेती है। दूसरी तरफ सुहागवंती है, जिसके लिए पति परमेश्वर के समान है। सुहाग यहाँ परम्परागत जीवन मूल्यों को जीती है।

"सूरजमुखी अंधेरे के" में भी तीन दाम्पत्य युगल मौजूद हैं, रीमा-केशी, श्रीधर- ऊना एवं दिवाकर और प्रीति। रीमा और केशी के मध्य सामंजस्य काफी गहरा है। वे दोनों ही सम्मिलित रूप से रत्ती की मानसिक गुत्थी को सुलझाने की कोशिश करते हैं। दूसरी तरफ श्रीधर और ऊना का संबंध है। प्रकट रूप से दोनों में कोई असमंजन नहीं दिखता। लेकिन ऊना की अनुपस्थिति में श्रीधर रत्ती से संबंध बनाने का प्रयास करता है। तीसरी तरफ दिवाकर है, जो न केवल रत्ती से संबंध बना कर उसकी मानसिक गुत्थी को सुलझाता है, बल्कि अपनी पत्नी को यह सब बताता भी है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ऐसी क्या वजह है जो श्रीधर या दिवाकर अपनी पत्नियों के रहते हुए भी दूसरी औरत की कामना करते हैं? राजेंद्र यादव के शब्दों में – "प्रायः उनके सारे प्रमुख पुरुष-पात्र विवाहित है मगर इसके लिए न उन्होंने मन में छोटा महसूस किया, न कराया। लगता है वैवाहिक संबंधों के ईर्ष्या, द्वेष, शक-संदेह उनके किसी पात्र को कहीं व्यापते ही नहीं हैं। भावनाओं के प्रति उनका यह इकहरा रवैया, कहीं अवास्तविकता के तत्व –सेंन्स ऑफ अनरियेलिटी का आभास देता है।"[30] पुरुष प्रायः उन स्त्रियों से संबंध बनाने के इच्छुक रहते हैं, जिसका कोई संरक्षक न हो। रत्ती भी उन्हीं स्त्रियों में से एक

है, क्योंकि वह न पत्नी है ना ही माँ। इसीलिए वह आसानी से उपलब्ध मान ली जाती है।

'ऐ लड़की' में भी माँ, परंपरागत स्त्री-पुरुष संबंधों को निभाती चली जाती है, लेकिन जीवन के अंतिम मोड़ पर कुछ सार्थक न करने की व्यथा उसे कचोटती रहती है।

'ज़िंदगीनामा' में भी शाहजी और शाहनी परंपरागत पति-पत्नी के संबंधों को निभाते हैं, लेकिन शाहनी एक दबंग व्यक्तित्व के रूप में उभर कर आती है। उसकी कोख सूनी है, जिसकी वजह से शाहजी दूसरा विवाह करने की अपनी मंशा प्रकट करते हैं। लेकिन शाहनी उसे नकार देती है, और उन्हें संतान गोद लेने की सलाह देती है। शाहजी उसकी बात मान लेते हैं और दूसरे विवाह की मंशा छोड़ देते हैं। शाहनी एक तरफ पारंपरिक मूल्यों को भी जीती है, तो दूसरी तरफ 'समानता' जैसे नवीन जीवन मूल्य को भी।

'दिलोदानिश' में वकील साहब और उनकी पत्नी कुटुम्बप्यारी के माध्यम से कृष्णा सोबती ने दाम्पत्य संबंधों के खोखलेपन और उसकी विसंगतियों को व्यक्त किया है। कुटुम्ब एक बड़े खानदान की बहू है, अतः खानदान के सम्मान का दायित्व उस पर है, जिसे वह बखूबी निभाती भी है। आरंभ में कुटुम्ब और वकील साहब का जीवन का सुखद था। कुटुम्ब के शब्दों में, "कैसे दिन थे खुमार वाले। वे दिन, जब रज्जो पहुंचे थे। हमें यह एक रात को भी न छोड़ते थे। आगरावाले हमें लेने आते तो हमें खुद ही कोई-न-कोई बहाना बनाना पड़ता।"[31]

वकील साहब के जीवन में महकबानो के प्रवेश के साथ ही कुटुम्ब की सुखद गृहस्थी में आग लग जाती है। कुटुम्ब गाहे-बगाहे अपनी फरियाद दर्ज करती है, "जिस दिन से ब्याह कर आए हमने खानदान की खिदमत की, इसकी इज्जत सिर पर उठाई पर आपने हमें दुखियारी करार करके ही दम लिया। बिरादरी भर में बदनाम कर दिया।"[32] कुटुम्ब की बातों का वकील साहब पर कोई असर नहीं पड़ता। उनके पास अपने ही तर्क हैं, "आखिर को हम मर्द हैं! छोटे-

मोटे गुनाहों पर क्या ख़ाक उड़ाती जाइएगा।"[33] वकील साहब को अपने विवाहेतर संबंध से कोई पछतावा नहीं। नतीजा यह होता है कि प्रतिरोधस्वरूप कुटुम्बप्यारी भैंरो बाबा से संबंध बना लेती है। वकील साहब को इस बात का कुछ हद तक अंदेशा है, मगर फिर भी वह इसकी अनदेखी करते हैं।

कुटुम्ब के चरित्र में फिर ऊर्ध्वात्मक परिवर्तन आता है। महकबानो के जिन बच्चों को वह 'भूली भटियारिन' के तालाब में गुम करवा देना चाहती थी, उन्हीं के प्रति उसका व्यवहार सौहार्दपूर्ण हो जाता है। बदरू को वह रज्जो के समान तरजीह देती है और मासूमा के विवाह के वक्त रस्मी तौर पर उसे गोद भी लेती है। यही नहीं, वह उसके लिए कपड़-लत्ते और जेवरों का इंतजाम भी चाव से करती है। वकील साहब जब मृत्युशय्या पर पड़े होते हैं, तब कुटुम्ब महक के लिए वकील साहब की चाहत को महसूस कर कहती है, "हम उस बेगम बहार को कभी माफ नहीं करेंगे। खान साहिब क्या मिल गये कि पिछला किस्सा ही गायब।"[34]

कुटुम्ब और वकील साहब के दाम्पत्य संबंधों का विघटन नहीं होता, बावजूद इसके कि दोनों ही एक दूसरे को धोखा देते हैं। अंतर यही है कि वकील साहब और महक बानो के संबंध के विषय में पूरा खानदान और बिरादरी जानती है, जबकि कुटुम्बप्यारी और भैरो बाबा के संबंध के विषय में कुछेक अटकलें ही लगाई जा सकती हैं, क्योंकि यह ढका-छुपा संबंध है। इसके अलावे, जिस सामंतवादी संयुक्त परिवार की कुटुम्ब बहू है, वहाँ स्त्री के लिए पति से खुलेआम विद्रोह करना अकल्पनीय है। कुटुम्ब के ऐतराज को भी वकील साहब हर बार किसी गहने द्वारा खत्म कर देते हैं। इस तरह कुटुम्ब एक तरफ परम्परा के भीतर जीती है तो दूसरी तरफ परम्परा से विद्रोह भी करती है।

मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि अप्राप्य एवं अनुपलब्ध के प्रति एक सहज आकर्षण उसके मन में होता है। प्राप्ति के साथ ही आकर्षण का स्थानापन्न ऊब बन जाती है। कई बार पति-पत्नी संबंधों में भी यह स्थिति देखने को आती है। "दो राहें: दो बाहें" कहानी में कुन्तल, पति शोभन की अनुपस्थिति में गुप्ता से

संबंध बनाती है। "कुन्तल नई हो कपड़े बदल कमरे से बाहर आई कि गुप्ता ने आगे बढ़ बाँहों में भर लिया और धीमे से संकेत कर कहा –शोभन! और जल्दी से अलग हो बाहर हो गए।"[35] विवाहेतर संबंधों का एक रूप 'कुछ नहीं: कोई नहीं' कहानी में भी देखने को मिलता है। शिवा अपने पति रूप की अनुपस्थिति में आनंद से संबंध बनाती है। यद्यपि पति से इसे कोई शिकायत नहीं, "रूप, जो हो ही जाए, उसका फिर कहना-कराना किसके वश में होता है! यह नहीं कि तुमसे मोह नहीं था, तुम्हारे दिए घर से प्रीति नहीं थी –पर आनंद के साथ उठ आए तूफ़ान से जब एक बार घिरी तो डूबकर कहाँ से कहाँ बह गई। अपने किए को कुछ छोटा मानकर नहीं कहती हूँ, पर रूप, कैसा वह खिंचाव था जो आंखें बंद किए बढ़ा आ रहा था! पास और पास! और एक दिन सब बंधन, सब सीमाएँ लाँघकर वह बिना देहरी के द्वार पर जा टिका।"[36] विवाहेतर संबंध उसे सिर्फ ग्लानिबोध ही प्रदान करता है, "रूप, जान गई हूँ: जो प्रियजनों का, अपनों का परदा उघाड़ अपने मन की ओट ढूँढ लेता है ओट-ओट नहीं होती।"[37]

'एक दिन' कहानी में शीला को यह पता भी नहीं कि पति ने क्यों उसे छोड़ कर दूसरा विवाह कर लिया है। धर्मपाल दूसरी पत्नी की अनुपस्थिति में शीला से संबंध बनाता है, जिसका कि वह कोई विरोध नहीं करती। उसके लिए इतना ही काफी है कि कम से कम एक रात के लिए तो वे इकट्ठा हुए हैं, "सच है कि वह रात को पकड़ नहीं पाई, लेकिन वह शून्य नहीं थी। उसमें रस था, उसमें जीवन था, जीवन का अर्थ था। जो आज नहीं तो कभी तो माँ की गोदी में किलकारियाँ लेगा।"[38] नारी और पुरुष के संबंधों का चित्रण यहाँ सामंतवादी मानसिकता के धरातल पर हुआ है, जहाँ स्त्री प्रश्न पूछने का अधिकार भी नहीं रखती।

'बादलों के घेरे', कहानी में रवि और मीरा का दाम्पत्य संबंध सुखद है, लेकिन रवि की बीमारी के साथ ही संबंधों का स्वरूप बिगड़ने लगता है। मृत्युशय्या पर पड़े रवि की यादों में मीरा नहीं, बल्कि मन्नो उभर कर आती है,

"जिस मीरा को मैने वर्षों जाना है, वह अब पास -सी नहीं लगती, अपनी-सी नहीं लगती। उसे मैंने छू-छू-छूकर हुआ था, चूम-चूमकर चूमा था, पर मन पर जब मोह और प्यार की उछलन आती है, तो मीरा नहीं, मन्नो की आँखें ही सगी दिखती हैं।"[39] यहाँ पति-पत्नी लम्बा समय साथ बिताने के बावजूद भी एक दूसरे के लिए अनजान बने रहते हैं। अस्वस्थ होने पर रवि को मन्नो की वह पीड़ा समझ में आती है, जो उसे पहले नहीं आई थी।

ii) मैत्री संबंध : स्त्री-पुरुष संबंधों का एक महत्त्वपूर्ण रूप मैत्री संबंध भी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में महिलाओं को भी प्रवेश मिला। वे पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर चलने का प्रयास करने लगी। स्त्री एवं पुरुष के बीच मैत्री संबंध विकसित हुए जो कि आधुनिक जीवन-मूल्यों का परिचायक माना गया।

स्त्री एवं पुरुष के मैत्री संबंधों को जिन रचनाओं में कृष्णा सोबती ने गहरे तौर पर विश्लेषित किया है, वे हैं 'सूरजमुखी अंधेरे के', 'समय सरगम' एवं 'जैनी मेहरबान सिंह'। 'सूरजमुखी अंधेरे के' की रत्तिका पुरुषों से मैत्रीपूर्ण संबंध रखती है, रखना चाहती है। लेकिन कई बार उसके दृष्टिकोण को गलत समझा जाता है। रोहित, रत्ती का मित्र है, परंतु उसे रत्ती की अन्य पुरुषों से दोस्ती पसंद नहीं। वह रत्ती पर एकाधिकार जताना चाहता है। रत्ती इसका स्पष्ट विरोध करती है, "तुम मेरे गार्जियन नहीं हो। हम एक-दूसरे को नापसंद नहीं करते.... बस इतना ही हक हमारा एक-दूसरे पर है। .... मुझे किसके साथ कहाँ जाना चाहिए, यह मेरे सोचने की बात है, किसी और के नहीं।"[40] रत्ती के ज्यादातर पुरुष मित्र उसे अकेल जान उपलब्ध समझ लेते हैं। एक तरफ जगतधर हैं, जो मीता के रहते हुए भी रत्ती को पाना चाहता है, तो दूसरी तरफ श्रीधर हैं, जो अपनी पत्नी की अनुपस्थिति का फायदा उठा कर रत्ती से संबंध स्थापित करना चाहता है। रत्ती और सुमेर के मैत्री संबंधों पर सुमेर की पत्नी शक करती है। अपने बेटे के जन्मदिन पर रत्ती द्वारा दिए गये तोहफे को वह इसलिए लौटा देती है कि वह

समझ नहीं पाती कि कोई इतनी कीमती चीज किसी के बच्चे को बेमतलब भी दे सकता है। रत्ती की संवेदनाए चूर-चूर हो जाती है, "तुम दोनों ने मेरे सीधे-सादे चाव को पैरों-तले रौंद डाला है सुमेर! ... कितने जतन से पैक किया था.... क्या देखा था?"[41] रत्ती के कुछ सच्चे पुरुष मित्र भी हैं, जिनमें से केशी एक है। कुल मिलाकर आधुनिक युग में भी पुरुष एवं स्त्री के मैत्री संबंध शक के दायरे से बाहर नहीं हैं, ऐसा उपन्यास को पढ़कर लगता है।

'समय सरगम' में ईशान और आरण्या की दोस्ती एक नये ढंग की है। अपने-अपने वजूद को बनाये रखकर भी दोनों स्वयं को एक-दूसरे के हिसाब से ढाल लेते हैं। ईशान और आरण्या के दृष्टिकोण जीवन के प्रति एक-दूसरे से भिन्न हैं। ईशान जीवन के अंतिम पड़ाव को आध्यात्म की शरण में बिताना चाहते हैं, लेकिन आरण्या अभी भी जीवन के प्रति आकृष्ट है। मृत्युबोध ने उसकी जिजीवषा को तोड़ा नहीं है, "सरदी की यह धुपैली गरमाहट हल्के से कपड़ों को छू रही है। जीने की अनंत नाटकीयता – वह भी इतने विशाल मंच पर। यह धरती, आकाश, सूरज, हवाएँ और हम।"[42] आरण्या जीवन को उसकी संपूर्णता में जीना चाहती है। जबकि ईशान के लिए जीवन का कोई मोह नहीं, "–अब तो सामान को हल्का करने का समय है। ... हम पुकार लिए जाने वालों की पंक्ति में हैं।"[43] दूसरी तरफ आरण्या का मानना है, – "हर किसी के लिए एक दिन मुकर्रर है। फिर पहले से ही फिक्र करने से फायदा।"[44] आरण्या और ईशान वैचारिक मतभेद रखते हुए भी एक-दूसरे से तादात्म्य बिठाने में सफल हो जाते हैं। न केवल इनके घर पड़ोसी है, बल्कि दिल भी पड़ोसी हैं। दोनों की एक अलग ही दुनिया है जहाँ चाय, नाश्ते एवं डिनर की छोटी-छोटी सहभागिताएँ उन्हें एक दूसरे से जोड़ती हैं। सुबह-शाम की सैर प्रायः वे साथ करते हैं, लंबी-लंबी बौद्धिक बहसें भी उनके विचारों की आवाजाही करती हैं, तो फल-फूलां के परस्पर आदान-प्रदान द्वारा वे मैत्री के बंधन को सुदृढ़ करते रहते हैं।

आरण्या जब अपने पुराने घर को छोड़ देती है, और उसके पास आवास की समस्या सामने आती है, तब ईशान उसे इस परेशानी से उबारते हैं। अपने साथ रहने का नियमंत्रण देकर वे इस परेशानी को दूर करते हैं। ईशान के लिए आरण्या की मैत्री जीवन का आधार बन जाती है, "तुम्हें आश्वस्त कर रहा हूं कि अभी भी सबकुछ रीत नहीं गया। जितना जल हमारे-तुम्हारे घर में शेष है, वह इस संझाते समय के लिए कम नहीं। क्यों न हम एक-दूसरे के पास रहें। साथ रहें। जो वक्त बीत गया है, एक-दूसरे को जाने बिना ही पुराने कैलेण्डरों में खो गया, उसे तो लौटाया नहीं जा सकता। पर आज से जुड़े कुछ दिनों को अपना तो बनाया जा सकता है। आरण्या, कभी कल्पना में ही अपने को कॉलेज के बरामदों में चलते-फिरते देखता हूं तो लगता है मैं अब कोई और हूं। लगता है अपने ही किसी निकटतम पुराने मित्र की याद कर रहा हूं। आरण्या, तुम्हें जानकर मैं कुछ और हो गया हूं। इसे भला क्या कहते होंगे। कोई शब्द तो जरूर है इसके लिए।"[45] आरण्या एवं ईशान की मैत्री सिर्फ दो स्त्री-पुरुष के मध्य की मैत्री नहीं, बल्कि दो व्यक्तित्व की मैत्री है। स्त्री एवं पुरुष यहाँ समानता के धरातल पर खड़े हैं।

स्त्री एवं पुरुष संबंधों की विभिन्न स्थितियाँ एवं विभिन्न रूप सोबती की रचनाओं में देखने को मिलते हैं। यदि एक तरफ समाज द्वारा स्वीकृत परम्परागत संबंध देखने को मिलते हैं, तो दूसरी तरफ परंपरागत दायरे से बाहर के संबंध भी देखने को मिलते हैं।

(ग) प्रेम का स्वरूप : विवाह और विकल्प की तलाश

"प्रेम व्यक्ति के भीतर एक सक्रिय शक्ति का नाम है। यह वह शक्ति है जो व्यक्ति और दुनिया के बीच की दीवारों को तोड़ डालती है, उसे दूसरों से जोड़ देती है। प्रेम उसके अकेलेपन और विलगाव की भावना को दूर कर देता है, पर इसके बावजूद उसकी वैयक्तिकता बची रहती है। प्रेम एक ऐसी क्रिया है जिसमें दो व्यक्ति एक होकर भी दो बने रहते हैं।"[46]

एरिक फ्रॉम द्वारा उद्धृत उपरोक्त पंक्तियाँ यह दर्शाती हैं कि जहाँ प्रेम एक तरफ व्यक्ति को विश्व से जोड़ता है, वहीं दूसरी तरफ उसकी वैयक्तिकता को भी सुरक्षित रखता है।आज, बदलते जीवन मूल्यों और सामाजिक परिवेश ने प्रेम संबंधों के स्वरूप को भी प्रभावित किया है। आज का प्रेम वायवी और आशरीरी नहीं है, बल्कि साहचर्यजनित है, एवं बदलते समय के साथ बदल भी जाता है। प्रेम अब एक शाश्वत भावना नहीं रही, बल्कि एक प्रेम के समाप्त होते ही उसका स्थानापन्न आ जाता है। कई बार प्रेम जीवन के खालीपन को भरने या ऊब मिटाने का एक साधन भर बन जाता है, मगर इसी क्रम में शनैः शनैः स्वयं ऊब का कारण बन जाता है।

औद्योगीकरण, भूमंडलीकरण एवं नारी-आंदोलनों ने नारी की सामाजिक प्रस्थति में क्रांतिकारी परिवर्तन प्रस्तुत किए हैं। नारी न केवल शिक्षित एवं स्वावलंबी बनी है, बल्कि उसके आचार-विचार एवं रहन-सहन में आमूल परिवर्तन आए हैं। आज स्त्री, पुरुष से समानाधिकार की अपेक्षा, रखती है, एवं जीवन से जुड़े सभी पहलुओ, चाहे वह आर्थिक स्वतंत्रता या अस्तित्वबोध का हो या फिर प्रेम और विवाह का, को प्रश्नात्मकता की दृष्टि से देखती है। आज सिर्फ पुरुष ही नहीं, बल्कि स्त्रियाँ भी प्रेम एवं विवाह संबंधी नैतिक प्रतिमानों का उल्लंघन करती नजर आ रही है। प्रेम आज जन्म-जन्माँतरों का बंधन नहीं रहा, बल्कि अपनी सुविधानुसार तोड़ा-मरोड़ा जा सकनेवाला संबंध बन गया है। प्रेम आज उदात्त का साधन नहीं, बल्कि शारीरिक एवं मानसिक तुष्टि का साध्य बन गया है। आज प्रेम में शरीर का नकार नहीं, बल्कि स्वीकार है।

कृष्णा सोबती की रचनाओं में प्रेम-संबंधी दृष्टिकोण के बदलाव को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया गया है। प्रेम संबंधों में आया बदलाव, बदलती मानसिकता का सूचक है। 'डार से बिछुड़ी' में पाशो की माँ, जो कि विधवा है, शेखजी के प्रेम में पड़कर उनसे विवाह कर लेती है। न तो उसे समाज का डर है, ना ही बिरादरी का भय। 'मित्रो मरजानी' में प्रेम की परिभाषा बदलती नजर आती

है। मित्रो अशरीरी प्रेम में विश्वास नहीं रखती। प्रेम उसके लिए उतना ही शारीरिक संतुष्टि है, जितना मानसिक संतुष्टि और इस तादात्म्य को न पाने पर वह अपनी असंतुष्टि को बिना किसी हिचकिचाहट के स्वर देती है, "जिठानी, तुम्हारे देवर-सा बगलोल कोई और दूजा न होगा। न दुःख-सुख, न प्रीति-प्यार, न जलन-प्यास.... बस आये दिन धौल-धप्पा.... लानत-मलामत!"[47] मित्रो को पति सरदारीलाल से तो प्रेम है, लेकिन उसकी शरीरिक असमर्थता और मित्रो के मन से एकात्मकता न बैठा पाने की असफलता ही सारे तनाव की जड़ है।

मित्रो के ठीक विपरीत है 'तिन पहाड़' की जया का चरित्र। जया के लिए श्री का प्रेम ही सब कुछ है, जिसे खो कर उसका अस्तित्व ही लुप्तप्रायः हो जाता है। प्रेम में असफल जया, तपन के प्रेम को स्वीकार नहीं कर पाती और आत्महत्या का रास्ता अख्तियार कर लेती है। जया यहाँ परंपरागत भारतीय नारी की उस तस्वीर को प्रस्तुत करती है, जिसके लिए जीवन में प्रेम केवल एक बार ही आता है। यहाँ उसकी साम्यता 'परिंदे' कहानी की लतिका के साथ देखी जा सकती है, जो बीते हुए प्यार को भूल नहीं पाती एवं नये प्रेम के लिए स्वयं को प्रस्तुत नहीं कर पाती। जया का चरित्र यहाँ शरतचंद्र की नायिकाओं से काफी गहरे तक प्रभावित लगता है, जिनके लिए स्वयं को मिटा देना कोई बड़ी बात नहीं। एकनिष्ठ, शाश्वत प्रेम की यह परंपरा सोबती की परवर्ती रचनाओं में काफी हद तक परिवर्तित हो जाती है।

'कुछ नहीं, कोई नहीं' कहानी की शिवा, अपने पति रूप से गहरा प्रेम करती है, किंतु क्षणिक आवेश में आ कर आनंद, जोकि उसके पति का मित्र है, से संबंध स्थापित कर लेती है। आनंद के साथ रहते हुए भी वह पूर्व पति को भूल नहीं पाती, और आनंद की मृत्यु के साथ ही शुरू होता है उसके पश्चाताप का सिलसिला, जो कि रूप के सम्मुख क्षमाप्रार्थी के रूप में उपस्थित हो कर व्यक्त होता है। शिवा के लिए कहीं कोई रिश्ता नहीं बचता, "रूप, मैं आज तुम्हारी कुछ नहीं हूँ। आनंद के बच्चों को आनंद का सबकुछ सौंपकर तीन-चार दिन में यहाँ से

चली जाऊँगी। फिर न कभी घर देखूँगी... न घर का सामान, न सामान से लिपटी अतीत की स्मृतियाँ....। कहाँ रहूंगी, कहाँ जाऊँगी। कुछ पता नहीं। रूप, अब किसे जानना है मैं कहाँ हूँ– मैं क्या हूं? मैं किसी की कुछ नहीं, कोई नहीं....!"[48] मार्च, 1955 में लिखी गई इस कहानी में सोबती प्रेम संबंधों में उन्मुक्त दृष्टि के परिणाम की भयावहता को चित्रित करती हैं, जिसकी कड़ी आगे चल कर कहीं न कहीं 'मित्रो मरजानी' की मित्रो से जुड़ती है। शिवा जिस भावावेश में आकर परपुरुष से संबंध स्थापित कर अपना जीवन तहस-नहस कर लेती है, मित्रो वैसा नहीं करती। शरीर की उद्दाम लालसा मित्रो के यहाँ है, पर उसे नियंत्रित करने वाला विवेक भी मौजूद है। अपनी ठंढ़ी ठठरी सी माँ की दुर्दशा देख मित्रो वापस पति के पास लौट जाती है। "कुछ नहीं, कोई नहीं" 1955 में लिखी गई है, जबकि 'मित्रो मरजानी' 1966 में। सोबती की नारी, इन ग्यारह वर्षों में इतनी परिपक्व हो जाती है कि क्षणिक आवेश में आ कर अपनी लालसा पूर्ति का ऐसा कोई निर्णय नहीं ले, जो कि वर्तमान के साथ-साथ उसके भविष्य को भी खराब कर दे।

प्रेम में एकनिष्ठता का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत होता है "दो राहें : दो बाहें" कहानी में, जिसमें दुर्घटनाग्रस्त रोहित के लिए मीनल की संवेदना सराहनीय बन कर उभरती है। प्रेम की शाश्वत भावना 'बादलों के घेरे' कहानी में भी मौजूद है, जहाँ मृत्युशय्या पर पड़ा रवि मृत्यु की पदचाप के साथ ही अपने प्यार की स्मृति को भी महसूस करता रहता है। मन्नो और रवि के प्रेम को कृष्णा सोबती ने वायवी व अशरीरी स्वरूप प्रदान किया है। 'बादलों के घेरे' की मन्नो और 'तिन पहाड़' की जया में एक साम्यता दिख जाती है, वह है अपने प्रेम को न पाने की तड़प, कसक एवं प्रतिरोध के रूप में स्वयं को मिटा लेने का आग्रह। जया और मन्नो जैसी औरतें, खुद के लिए कोई मोह नहीं रखतीं। ऐसा लगत है मानो उनका होना या न होना पूरी तरह से किसी पुरुष के व्यक्तित्व से संचालित और नियंत्रित है। रोजेंद्र यादव के शब्दों में, "कृष्णा जी के कथा-विकास में जमीन से टूटी हुई यह औरत, 'बादलों के घेरे' और 'तिन-पहाड़' में सिर्फ़ एक भावना है, एक उच्छवास या अहसास। यहाँ वह उतनी साकार और ठोस नहीं है, बादलों के धुंध जैसी छाया

और परछाई है जो किन्हीं संबंधों में जुड़कर अपनी सार्थकता तलाश करती है।... यह तो शुद्ध पुरुष के प्यार की वह तलाश है जो औरत को अपने होने का 'बोध' कराती है। यह भटकन, तलाश, या भावना, इतनी अधिक अशरीरी, वायवी और निराकार है कि लगता है शरीर के पाने की याचना करती आत्माएँ ही सिसक रही हैं।.... यह भी आकस्मिक नहीं है कि दोनों ही कहानियों की नारियाँ मन्नो और जया मृत्यु के प्रति समर्पित हैं, मरने के लिए अभिशप्त। मगर वे अकेली नहीं मरतीं, मानो इस छूत और दंश को साथ वाले पुरुषों को सौंप जाती हैं--तिल-तिल घुलने और घुटने के लिए....[49]

यहाँ एक बात गौर करने योग्य है कि कृष्णा सोबती की कहानियों में जो स्त्री का स्वरूप उभर कर आता है, वह उतना ठोस या सशक्त नहीं, जितना कि उपन्यासों में। 'बादलों के घेरे', 'सिक्का बदल गया' और 'आजादी शम्मोजान की' जैसी दो-तीन कहानियों को छोड़ दें, तो उनकी कहानियाँ, उनके उपन्यासों की तुलना में कमजोर हैं। मन्नो और जया के प्रतिकार के रूप में आगे आते हैं उनके उपन्यासों के तमाम नारी पात्र। "सूरजमुखी अंधेरे के, की रत्ती के तन-मन के तार जुड़े हैं असद के साथ। बचपन की भयावहता से त्रस्त रत्ती को असद के संग से सुकून मिलता है, मगर बहुत अल्प समय के लिए, क्योंकि लंबी बीमारी से असद की मौत हो जाती है। रत्ती टूट जाती है अंदर से, क्योंकि असद ही वह एकमात्र पुरुष था जिसने स्त्री के सच को जान कर भी उससे घृणा नहीं की। इसके बावजूद रत्ती स्वयं को बिखरने नहीं देती। दिवाकर के साथ विकसित प्रेम संबंध के माध्यम से वह स्वयं को पाती है। रत्ती, के माध्यम से सोबती ने उस आधुनिक नारी को चरित्रांकित किया है, जो एक से अधिक प्रेमसंबंध स्थापित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं महसूस करती। रत्ती विवाहित दिवाकर से संबंध स्थापित करने में कोई झिझक महसूस नहीं करती, क्योंकि उसे अपने अंदर की ग्रंथि का इलाज करना है, मगर दिवाकर के साथ संबंध को हमेशा के लिए निर्वाहित नहीं करना चाहती। रत्ती के पास अपना तर्क है, वह जुड़े हुए को तोड़ेगी नहीं, कुछ-कुछ 'नदी के द्वीप' की रेखा की तरह, जो भुवन का भविष्य नहीं माँगना चाहती। लेकिन रत्ती

आत्मपीड़क नहीं, वह प्रेम संबंध को अपने इर्द-गिर्द घिरे संशय के बाड़े को हटाने के लिए प्रयुक्त करती है।

आज के सामाजिक और व्यक्तिगत यथार्थ ने प्रेम की परिभाषा ही बदल दी है। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार, "आज प्रेम में एकनिष्ठता, भावुकता, रूमानियत व आदर्श के स्थान पर स्वार्थ, वासना उद्देश्य तथा अपने-अपने व्यक्तित्वों के परस्पर उन्मीलन की सफलता या असफलता लक्षित होती है।"[50] 'दिलोदानिश' में महकबानो और वकील कृपानारायण का प्रेम संबंध कुछ ऐसा ही है। आरंभ में महक एवं वकील साहब के प्रेम संबंध अत्यंत मधुर एवं दृढ़ हैं। महक एक समर्पिता रखैल की भूमिका निभाती नजर आती है। इस प्रेम संबंध के परिणामस्वरूप महक दो बच्चों की माँ बनती है, जिसके लिए वह वकील साहब की शुक्रगुजार है, "दुनिया में दो ही नेमते हैं साहिब, बेटा और बेटी। आपने हमें दोनों दिए।"[51] महक का प्यार निःस्वार्थ है। वह वकील साहब की दौलत की भूखी नहीं, प्यार की भूखी है। लेकिन वकील साहब द्वारा बदरु के जन्म पर दिए गए कंगन के वापस माँगे जाने पर एवं मासूमा के विवाह के अवसर पर उसे माँ के अधिकार से वंचित रखे जाने पर, वह वकील साहब के प्रेम के खोट को भाँप जाती है। अपनी अम्मी के जेवर को वह वकील साहब से वापस माँगती है, – "... हमारी माँ के जेवर हमें आज शाम तक मिल जाने चाहिए वकील साहब। आप अम्मी के वकील रहे, अब हम आपकी मुवक्किल की बेटी हैं जिसका उन पर पूरा हक है।"[52] अपने बच्चों के दूर किए जाने पर महक अनवर खाँ साहब के साथ जीवन की नई संभावनाओं को तलाश करने के लिए निकल पड़ती है। युगीन मान्यताओं में बदलाव के साथ प्रेम के स्वरूप में भी बदलाव आया है। सोबती के अनुसार आज, – "आप आध्यात्मिक मुद्रा में प्रेम की पूजा नहीं करते, उसे सफलतापूर्वक पटाते हैं।"[53]

आज प्रेम में एकनिष्ठता एक अविश्वसनीय वस्तु हो गई है। एकनिष्ठता की यह अवधारणा भी आज इसलिए बेमानी हो गई है क्योंकि यह पितृसत्ता के फायदे के लिए काम करती है। ऊर्वशी बुटालिया के अनुसार, "इस विचार में पितृसत्ता

को या पुरुष-प्रधान समाज व्यवस्था को भुला दिया जाता है, जिसमें स्त्री और पुरुष के कर्त्तव्य तथा अधिकार कभी समान नहीं होते, जिसमें स्त्री के लिए तो पतिव्रता का या एकनिष्ठ प्रेम करने वाली स्त्री का आदर्श होता है, जबकि पुरुष के लिए एकनिष्ठ प्रेम जरूरी नहीं माना जाता।"[54]

प्रेम आज व्यक्तिगत अनुभव बन गया है, जिसे परंपरागत नैतिक मूल्यों की दरकार नहीं रह गई। आज का प्रेम सिर्फ भावना-प्रधान नहीं रह गया, बल्कि उसमें बौद्धिकता का भी समावेश हुआ है।

प्रेम के अतिरिक्त विवाह संबंधी दृष्टिकोण भी आज परिवर्तित हुआ है। स्वतंत्रता के पश्चात सामाजिक, राजनतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों ने मानवीय संबंधों को भी गहरे रूप से प्रभावित किया है। शिक्षा ने नारी को आत्मसम्मान दिया, अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक बनाया, एवं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाया। नारी ने अपनी क्षमताओं को पहचाना, और जीवन के सभी क्षेत्रों में समान अधिकार एवं अवसरों की माँग की। पुरुष ने नारी की उन्हीं इच्छाओं को माना जहाँ तक वह पुरुष के खिलाफ नहीं था। लेकिन नारी की बढ़ती इच्छाओं एवं अपेक्षाओं ने स्त्री एवं पुरुष के संबंधों में तनाव की स्थिति उत्पन्न कर दी। आधुनिक नारी कानूनी तौर पर सुरक्षित एवं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है, अतः वह पुरुष के अधिपत्य को मानने को तैयार नहीं। परिणामस्वरूप विवाह-संबंधी परम्परागत मूल्य समाप्त हो रहे हैं। आज विवाह पवित्र-धार्मिक संबंध नहीं रह गया, जिसे तोड़ा न जा सके। वह स्त्री एवं पुरुष की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति का निमित्त मात्र बन गया है।

कृष्णा सोबती के यहाँ विवाह की विसंगतियों एवं विकल्प की तलाश को उकेरने का प्रयास मिलता है। सोबती की नारी, पति को परमेश्वर नहीं मानना चाहती, बल्कि जीवनपथ का सहयात्री समझना चाहती है। मित्रो को सरदारी से यही शिकायत है, कि वह न तो थाली बाँटता है, ना ही दिल के दुःख-दर्द ही।

स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व कई बार विवाह के आड़े आता है। आधुनिक नारी, अपने व्यक्तित्व को पति के व्यक्तित्व में तिरोहित नहीं करना चाहती, बल्कि विवाह के पश्चात भी व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की अपेक्षा रखती है। विवाह के परंपरागत स्वरूप को निभाने वाली अम्मू, जीवन के अंतिम क्षणों में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चाह रखती दिखती है। वह नर्स सूसन को समझाती है, "सूसन, शादी के बाद किसी के हाथ का झुनझुना नहीं बनना। अपनी ताकत बनाने की कोशिश करना।"[55]

शिक्षा ने जहाँ नारी को सोच के नये आयाम दिए, वहीं आत्मनिर्भरता ने उसे अस्मिता के प्रति जागरूक बनाया एवं समाज की जर्जर रूढ़ मान्यताओं के विरूद्ध विद्रोह को प्रेरित किया। आत्मनिर्भर नारी सिर्फ विवाह के लिए विवाह नहीं करना चाहती। वह तब तक इंतजार करना चाहती है, जब तक उसे मनोकूल साथी नहीं मिल जाए। अगर ऐसा कोई पात्र नहीं मिलता, तो वह अविवाहित रहना पसंद करती है। 'ऐ लड़की' में लड़की तथा 'समय सरगम' में आरण्या अविवाहित स्त्रियाँ हैं। लड़की शिक्षित एवं आत्मनिर्भर है, उसके लिए विवाह, परिवार इत्यादि महत्त्वपूर्ण नहीं। वह नारी-स्वतंत्रता की हिमायती है। वह अपने व्यक्तित्व को अपनी इच्छानुसार सँवारती है, जिसे माँ का समर्थन भी मिलता है। अम्मू कहती है, "और तुम! तुम उसी प्राचीन गाथा के बाहर हो, जहाँ पति होता है, बच्चे होते हैं, परिवार होता है। न भी हो दुनियादारी वाली चौखट, तो भी तुम अपने-आप में तो आप हो।"[56]

लड़की सिर्फ परिवार की खुशी के लिए विवाह करने में यकीन नहीं रखती। वह विवाह संबंध में बराबरी के स्तर और सम्मान की आकांक्षी है। इसीलिए अम्मू से कहती है, "मैं किसी को नहीं पुकारती। जो मुझे आवाज देगा, मैं उसे जवाब दूँगी।"[57] अम्मू भी उसका समर्थन करते हुए उसे खुद ही जीवनसाथी चुन लेने की सलाह देती है। बेटी शिक्षित और आत्मनिर्भर होने की वजह से भावुक हुए बगैर तटस्थ है, एवं स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता रखती है।

'दिलोदानिश' में वकील साहब और महकबानो के संबंध विवाह के समानान्तर एक विकल्प रखते हैं, कुछ-कुछ आज की टर्मिनोलॉजी के 'Live-in' जैसा। कुटुम्बप्यारी से विवाह और एक भरा-पूरा परिवार होने के बावजूद वकील साहब महक से संबंध बनाते हैं और उसके दो बच्चों के पिता भी बनते हैं। घर-बिरादरी के लोग वकील साहब के इस दबे-छुपे संबंध को जानते हैं, लेकिन वकील साहब को इससे फर्क नहीं पड़ता। उनके पास अपने तर्क हैं, "यह भी क्यों जरूरी है कि एक ही रिश्ता पसरकर बन्दे की पूरी ज़मीन और ज़मीर को घेर ले।... सच तो यह है कि घर-घर बीबियाँ हाल-बेहाल होती रहेंगी, शोर मचाती रहेंगी और महबूबाएँ हुस्न के ज़ोर से दिलों पर रंग जमाती रहेंगी।"[58]

'समय सरगम' में आरण्या विवाह को जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक नहीं मानती। अकेले रह कर भी वह जीवन को परिपूर्णता में जीने में विश्वास रखती है। 'समय सरगम' की आरण्या और 'ऐ लड़की' की लड़की उन नवीन जीवन मूल्यों को जीती हैं, जिसके अंतर्गत स्त्री एवं पुरुष का संबंध समानता, भागीदारी, एवं पारस्परिक विश्वास जैसे तत्वों पर आधारित हो। यही वजह है कि इन सब के अभाव में वे किसी पुरूष के साथ बंधना नहीं पसंद करतीं।

कृष्णा सोबती बदलते दौर की कथा-लेखिका हैं। अपने लंबे लेखन काल में सामने आने वाले सामाजिक-राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के समाज पर पड़ने वाले प्रभाव को अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने व्यक्त किया है। विवाह एवं परिवार जैसी जिन सामाजिक संस्थाओं की सुरक्षा की चिंता अपने आरंभिक दौर की रचनाओं में वे करती हैं, उन्हें ही अपने अंतिम दौर की रचनाओं में वे नकार देती हैं। रूमानी भावुकता से ठोस बौद्धिकता की तरफ का सफर उनके लेखन की परिपक्वता को दर्शाता है।

(घ) यौन नैतिकता : वर्जनाएँ बनाम मुक्ति

भारतीय समाज में नारी की सामाजिक और वैयक्तिक स्थिति को उसकी देह से जोड़कर देखे जाने की मानसिकता आदि काल से ही चली आ रही है।

वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक, स्त्री को उसकी जैविक बनावट तक ही सीमित करके देखा जाता रहा है। नारी की उपस्थिति सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में अति सीमित एवं अवांछनीय रही है। नारी के अस्तित्व का निर्धारक भी उसका शरीर ही बनता है। पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था में चूकि औरत पुरुष की संपत्ति थी, इसलिए उससे शुद्धता एवं शुचिता की अपेक्षा रखी जाती थी। सिमोन द बोउवार के अनुसार, "पुरुष जब नारी को अपनी संपत्ति के रूप में प्राप्त करता है, तो उसकी यही इच्छा रहती है कि नारी केवल देह ही रहे। पुरुष नारी के शरीर में नारी के व्यक्तित्व का विकास नहीं देखना चाहता। वह अपने में सीमित रहे संसार में अन्य किसी से संलग्न न रहे। वह जिस कामना को जाग्रत करती है, उसे तृप्त करे।"[59] स्त्री की वैयक्तिकता को एक सिरे से नकार कर उसे सिर्फ एक शरीर समझे जाने का आग्रह वर्तमान युग में भी दृष्टिगत होता है। उसके शरीर की सुरक्षा एवं पवित्रता का भय संपूर्ण समाज को आक्रांत किए रहता है।

नारी की परतंत्रता के प्रमुख कारणों में से एक है यौन शुचिता का आग्रह। सामाजिक एवं आर्थिक भागीदारी के अवसर, शारीरिक-पवित्रता के नष्ट हो जाने के भय से उससे छीन लिए जाते हैं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था ने यौन-शुचिता को नारी का समानार्थी शब्द बना दिया है। नारी को पवित्र होना ही चाहिए, यौन-नैतिकता के कठिन प्रतिमानों का पालन करना ही चाहिए। यदि किसी कारणवश वह शुचिता के इस आग्रह को पूरा नहीं कर पाई, तो घोषित रूप से दुश्चरित्रणी कही जाएगी। यौन-शुचिता के इस दंश से सिर्फ स्त्री ही भयाक्रांत रहती है, पुरुष नहीं। ऐसा लगता है कि नैतिकता के इस प्रतिमान के निर्वाह के लिए सिर्फ स्त्री ही उत्तरदायी होती है, एवं जिसके पालन की अपेक्षा उससे हर हाल में की जाती है।

यौन-शुचिता के नाम पर सदियों तक स्त्रियों का दमन-शोषण होता रहा, लेकिन औद्योगीकरण, शिक्षा के प्रचार-प्रसार एवं समान नागरिक अवसरों ने शुचिता

के इस बंधन को शिथिल किया है। आज नारी, यौन-नैतिकता के प्रतिमानों को ढोने से इंकार कर रही है तथा स्त्री-पुरुष संबंधों में स्वयं के लिए बराबरी का स्तर खोज रही है। राजेन्द्र यादव के अनुसार, "आज नारी ने पुराने संस्कार धो दिए हैं और यौन-शुचिता की 'पूत-योनि वह मूल्य चर्म पर अंकित' वाली सामंती नैतिकता आज की औद्योगिक दुनिया में उसे अपने व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से पिछड़ी और ओछी लगती है।.... शारीरिक पवित्रता की उस दकियानूसी धारणा या किशोर संकोच की अनुपस्थिति आज उसके मन में कोई पाप-बोध नहीं जगाती, यौन-मुक्ति भी उसे अपने अस्तित्व के अधिकार की एक मौलिक आवश्यकता लगती है और इसे वह चारित्रिक शील के साथ जोड़ना भी पसंद नहीं करती।"[60]

नारी के लिए अपनी शारीरिक इच्छाओं को व्यक्त करना हमेशा वर्जित माना गया। शारीरिक संबंधों में भी स्त्री की इच्छा या अनिच्छा का प्रश्न कभी महत्वपूर्ण नहीं रहा क्योंकि वह हमेशा एक passive partner मानी जाती रही। स्त्रियों को अपनी यौनेच्छा को अभिव्यक्त करने से रोकने के लिए तमाम तरह के सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रतिबंध लगाए गए। स्त्रियों की यौन-जागरूकता सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता के लिए खतरा मानी गयी। विल्हेम रीख के शब्दों में, "औरतों की यौन जागरूकता की स्वीकृति और उसका समर्थन निरंकुश विचारधारा के पूर्ण विनाश का कारण बन सकता है।"[61] पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था ने सदा से यौन-जागरूक एवं विद्रोही स्त्रियों से भय महसूस किया है, क्योंकि वे परम्परागत नैतिक प्रतिमानों के आगे प्रश्नचिहन खड़ा करती हैं। अतः पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था नारी को जन्म के साथ ही यौन-नैतिकता के पाठ पढाने लगती है। नारी की एक ऐसी छवि प्रस्तुत की जाती है, जो कि माता और पत्नी का संश्लिष्ट रूप हो। नारी के लिए खुद की इच्छा कहीं कोई मायने नहीं रखती।

नारी को सिर्फ एक शरीर मानने की मानसिकता के विरूद्ध स्वातंत्र्योत्तर रचनाकारों ने समय -समय पर अपना प्रतिरोध व्यक्त किया है। कृष्णा सोबती ने अपने कथा-साहित्य में यौन-नैतिकता संबंधी प्रश्नों को समय -समय पर विश्लेषित

किया है, तथा यौन-वर्जनाओं के उन बंधनों को तोड़ने का आग्रह किया है जो नारी की मुक्ति में बाधक बने हैं। सोबती के नारी पात्र यौन वर्जनाओं को तोड़ते हुए दिख पड़ते हैं। परम्परागत भारतीय नारी से यह अपेक्षा की जाती है कि अपनी यौन-असंतुष्टि को वह छुपा कर रखे, अपने पति के सामने भी प्रकट न करे। 'मित्रो मरजानी' की मित्रो इस वर्जना का निषेध करती है। अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को खुल कर अभिव्यक्त करने में मित्रो को कोई झिझक नहीं। मित्रो अपनी जिठानी से कहती है, "... देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता।.... बहुत हुआ हफ्ते-पखवाड़े....और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास कि मछली-सी तड़पती हूं।"[62] अपनी कल्पना में मित्रो परपुरुषों से संबंध स्थापित करती हैं, "बंद आंखों में बनारसी का यार नयामत थानेदार दीख पड़ा । ऊँचा-लम्बा, मुच्छल।"[63] मित्रो जिस बेबाकी से अपनी असंतुष्टि को प्रस्तुत करती है, वह अपने आप में उल्लेखनीय है। परम्परागत नैतिक प्रतिमान स्त्रियों से जिस शील और लज्जा की अपेक्षा करते हैं, मित्रो उन सबकी धज्जियाँ उड़ा देती है। अपनी सास के सामने भी मित्रो सरेआम अपनी असंतुष्टि प्रकट करती है, "मेरा बस चले तो गिनकर सौ कौरव जन डालूं, पर अम्मा, अपने लाडले बेटे का भी तो आड़तोड़ जुटाओ! निगोड़े मेरे पत्थर के बुत में भी कोई हरकत तो हो!"[64] मित्रो की भाषा, उसकी भाव-भंगिमाएँ, सभी उसके विचारों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अनामिका के अनुसार, "मित्रो का लिबिडो देह की चट्टान से उत्ताल तरंगों में टकराता समुन्दर है, और वह जो सोचती है – उसकी थिरकन, उसकी ऊँच-नीच- सब भाषा में सीधी छन जाती है। उसका वाक्य -विन्यास, उसके शब्द, उसके अल्पविराम और अद्धविराम-तक में उसके अंतर्जगत का स्पन्दन साफ-साफ और एकदम अलग ढंग से उतर आता है। उसके अंगों में बिजलियाँ सोई हैं, उसका खून बजता है, एक उत्तप्त आवेग में उसकी हड्डियाँ चटकती हैं– यह जताते उसे कोई संकोच नहीं। आग की मीठी-मीठी लहक उसकी हर बात में है। भाषा को उलट-पलटकर उससे भी अठखेलियाँ किए चलती मित्रो एक-एक शब्द पर अपनी जीवन्त, कामदग्ध पकड़

के लिए भी हमेशा याद की जाएगी। उसकी सरस मुंहजोरी भी उसकी उद्दाम काम-पिपासा का निर्द्वन्द्व जयघोष ही है।"[65]

परंपरागत नैतिक मूल्य किसी हिंदू विधवा के लिए यौन संबंधों को वर्जित मानते हैं। लेकिन सोबती के नारी-पात्र ऐसी वर्जनाओं का निषेध करते हैं। जिंदगीनामा' में विधवा ब्राह्मनी लखमी, एक मुस्लिम युवक सैयदजाड़े के प्रेम में पड़कर अपने तन-मन की सुध गँवा बैठती है। चाची महरी भी विधवा होने के बावजूद गणपतशाह के प्रेम में पड़ती है, और उनके किस्से घर-घर गाए जाते हैं। 'डार से बिछुड़ी' में पाशो और शेखजी का विवाह तथा 'दिलो दानिश' में छुन्ना बीबी और भुवन का विवाह भी कुछ ऐसे ही उदाहरण है।

कृष्णा सोबती के नारी पात्र न केवल अपनी शारीरिक आवश्यकताओं का खुलासा करते हैं, बल्कि शारीरिक संबंधों में भी समानता की माँग रखते हैं। सोबती के यहाँ स्त्री, पुरुष की हर इच्छा को मानने के लिए बाध्य नहीं होती। वह चाहती है कि पुरुष उसकी संतुष्टि-असंतुष्टि को भी उतना ही महत्व दे, जितना कि स्वयं की संतुष्टि को। रत्ती इसी सत्य को रोहित के समक्ष रखती है, "सिर्फ अपने चाहने से दूसरे को पा नहीं लिया जाता।.... पाने के लिए दोनों को एक-दूसरे को चाहना होता है रोहित।"[66] दिवाकर के साथ का संबंध रत्ती के अभिशाप को धो डालता है। रत्ती के अंतर्मन की व्यथा को समझ कर ही दिवाकर उस तक पहुंचने में सफल हो पाते हैं। दिवाकर के साथ का संबंध, स्त्री को बराबरी का स्तर देता है, "दिवाकर, शून्यों की लंबी कतार में तुमने एक अंक जोड़ दिया है। जो कुछ भी नहीं था, वह अब बहुत बड़ी राशि है।"[67]

अपनी देह के प्रति जागरूक नारी, अपने रूप-लावण्य पर गौर करती स्त्री, सामाजिक व्यवस्था की चूलें हिला देने के लिए काफी है। 'डार से विछुड़ी' की पाशो अपने रूप एवं यौवन के प्रति सजग है, "आले में पड़े छोटे से दर्पण में मुखड़ा देखा तो दँदासेवाले चमकते दाँतों से हँस पड़ी। मामू-मामियों की कड़वी निगाहों से यह उजला रूप कैसे मैला होगा! माथे पर का दाग अभी लाल-लाल

दिखता था। कसे बालों में से एक लट निकाल उस पर छितरा ली। पहली बार स्यालकोटिए शाहों की बहू का जड़ाऊ टीका आंखों में घूम गया। नाक की लॉग हाथ से छू-छूकर कई बार मन-ही-मन दुहराया – इस माथे वैसा ही टीका सजेगा... . वैसा ही टीका....!"[68] आत्ममुग्धता का यह भाव मित्रो के यहाँ भी विद्यमान है, "जिठानी के बाहर गए पीछे मित्रो खड़ी- खड़ी कुछ सोचती रही। फिर दर्पण में मुखड़ा देखा। सिर की ओढ़नी उतार बाँहे फैला मुस्करा दी। अनोखी रीत इस देह- तन की! बूँद पड़े तो थोड़ी, न पड़े तो थोड़ी!"[69]

प्रेम में शरीर की अनिवार्यता को सोबती के यहाँ स्वीकृति मिली है। उनकी नारियाँ उस जड़ मानसिकता का विरोध करती हैं जो स्त्री के शरीर की सहज-स्वभाविक आवश्यकताओं को दबाने का प्रयास करती है। वकील कृपानारायण की शारीरिक ऊर्जा का स्रोत जब शनैः-शनैः सूखने लगता है, तो वे महक को तमाम दार्शनिक तर्कों द्वारा समझा कर अपनी असमर्थता पर पर्दा डालना चाहते हैं, "वकील साहब झुँझलाए -तिलमिलाए, फिर समझा कर कहा –जानम, मुहब्बत की रिहाइश सिर्फ जिस्म में नहीं, दिलो-दिमाग में भी होती है।

महक ने आंख न झपकी और बड़ी अनोखी आवाज में कहा – दिलो-दिमाग़ क्या काया के अंदर नहीं होते?"[70] महक एक स्वच्छन्द एवं प्रभावी व्यक्तित्व के रूप में उपस्थित है, जिसे अपनी जरूरतों का खुलासा करने में कोई झिझक नहीं। कृष्णा सोबती के नारी पात्र परंपरागत नैतिकता के बंधनों को तोड़ने में कोई कोताही नहीं करते।

'बदली बरस गई' की कल्याणी आश्रम के वातावरण से ऊब चुकी है। अपनी साध्वी माँ के समक्ष वह अपना घर बसाने की इच्छा प्रकट करती है। नैतिक आदर्शों को ठोकर मार वह एक ऐसे पुरुष की कामना करती है, जो उसे घर दे सके, जीवन के सुख दे सके।

'गुलाबजल गंडेरियाँ' कहानी में धन्नो देह धर्म की संतुष्टि के लिए सभी नैतिक वर्जनाओं को लाँघ जाती है। पति की मृत्यु के पश्चात् जिन लोगों ने

उसकी आर्थिक मदद की, उनको वह अपनी देह प्रतिदान के रूप में देती है। सास के ऐतराज को वह सिरे से नकार देती है, – "चुन्नी के मर जाने के बाद समय-असमय जिस-जिसके रूपये धेले ने उसकी मुटठी भरी, उन्हें क्या वह सास के कहने भर से छोड़ देगी? फिर बुढिया उम्र-भर एक ही कोठरी से लगी रही है। क्या समझेगी वह इस धूल फाँकने को?"[71] धन्नों के लिए नैतिक वर्जनाओं का कोई मतलब नहीं रह जाता। बाप व बेटे दोनों से ही वह शारीरिक तुष्टि चाहती है, "बाबूराम, तुम्हारे बाप ने एक दिन.... एक दिन के लिए ही कहो, मुझे सबकुछ मान लिया था। तुम उसके बेटे हो। मुझे ठंढक पहुँचाओ। ठंढक।"[72] धन्नो का चरित्र उस यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचायक है, जहाँ यौन उत्कंठा एवं पेट की भूख एकाकार हो गई है।

यौन वर्जनाओं को कृष्णा सोबती के नारी पात्र कई स्थलों पर तोड़ते हैं, तथा उन्हें इसके लिए किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं। उनके लिए तन का धर्म, मन के धर्म से अलग नहीं। नरेश मेहता के अनुसार, – "सोबती अपने पात्रों को पवित्र नहीं, चरित्र बनाने में विश्वास रखती हैं, तभी आप उन्हें मात्र पढ़ते ही नहीं, घटित होते भी देखते हैं।"[73]

कृष्णा सोबती ने अपी रचनाओं में जिस यौन-स्वतंत्रता की बात की है, वह कहीं भी यौन-उच्छृंखलता की रूप धारण नहीं करती। तत्वचिंतक आगस्टाइन ने कहा है, "चयन की योग्यता की मुक्ति है। किंतु यदि हम पापमय इच्छा के अधीन होकर अनैतिक चयन करते हैं तो हम मुक्त नहीं बल्कि दास हैं।"[74] इस कथन से यह स्पष्ट है कि मुक्ति की अवधारणा भी व्यक्ति- सापेक्ष है। यदि व्यक्ति, चयन के वक्त नैतिक-अनैतिक, सही-गलत, योग्य -अयोग्य इत्यादि का ध्यान नहीं रखेगा तो मुक्ति भी उच्छृंखलता का रूप धारण कर लेती है। कृष्णा सोबती के यहाँ भी यौन-मुक्ति और यौन-उच्छृंखलता में फर्क किया गया है। यौन-उच्छृंखलता के परिणामस्वरूप 'गुलाबजल गंडेरियाँ' की धन्नो एवं 'न गुल था, न चमन था' की नादिरा दस्तूर जैसी औरतों का जीवन तहस-नहस हो जाता है। कृष्णा सोबती

मानती हैं कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता केवल यौन-स्वतंत्रता ही नहीं है। अतः अपनी रचनाओं में सोबती ने यौन स्वतंत्रता तथा यौन उच्छृंखलता का अंतर स्पष्ट किया है।

(ड.) नारी चेतना का नवीन स्वरूप

"चयन और निर्णय की स्वतंत्रता व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं मनोविज्ञान के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।"[75]

फ्रायड का उपर्युक्त कथन, व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास में चयन की स्वतंत्रता का महत्व दर्शाता है। स्त्री या पुरुष, दोनों ही के लिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य, जीवन के स्वभाविक प्रवाह की पहली और अनिवार्य शर्त मानी जाती है। लेकिन जहाँ पुरुष के पास यह चयन स्वतंत्रता आदि काल से रही है, वहीं स्त्री को इस स्वतंत्रता से वंचित रखने का प्रयास, विश्व की प्रायः सभी सामाजिक व्यवस्थाओं द्वारा किया गया।

नारी का अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति जागरूक होना, एवं स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखना ही नारी-चेतना का परिचायक है। नारी चेतना, नारी का परिचय सर्वप्रथम एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में मानती है, जिसमें उसके माँ, बहन, बेटी और पत्नी जैसे परिचय द्वितीयक हो जाते हैं। नारी चेतना ही नारीमुक्ति आंदोलन के मूल की प्रेरणादायक शक्ति है जिसका 17-18वीं सदी में पश्चिम में आविर्भाव हुआ एवं जिसने संपूर्ण विश्व को प्रभावित किया।

पाश्चात्य नारी-मुक्ति आंदोलन का इतिहास वस्तुतः स्त्रीवादियों एवं समाज सुधारकों द्वारा किए गए कई सौ वर्षों के संघर्ष का परिणाम है। नारी-मुक्ति आंदोलन, वस्तुतः स्त्रियों द्वारा सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में समानता के लिए किया गया आंदोलन है, जो पुरुष आधिपत्य और सामाजिक शोषण की समाप्ति पर जोर देता है। लैंगिक समानता का पक्षधर यह

आंदोलन, जीवन के सभी स्तरों पर महिलाओं के अधिकार में वृद्धि की माँग प्रस्तुत करता है।

नारी-मुक्ति आंदोलन का जन्म अठारहवीं सदी के अंतिम दौर में यूरोप (फ्रांस व ब्रिटेन) में हुआ माना जाता है। नारीवादी आंदोलन के प्रेरणा स्रोत का मूल खोजा जा सकता है फ्रांस की राज्य क्रांति, (1787), 1648 ई. की अंग्रेज़ी क्रांति, 1770 की अमेरिकी क्रांति एवं विभिन्न नारीवादी पुस्तकों और द्वितीय विश्वयुद्ध में। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान पुरुष जब युद्ध क्षेत्र में गए तो स्त्रियों को घर के बाहर के कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। घर एवं बाहर के कार्य में तादात्म्य बिठाते हुए उन्होंने महसूस किया कि उनकी कार्यक्षमता पुरुषों के बराबर ही है, उनसे कमतर नहीं। लेकिन विश्वयुद्ध की समाप्ति के साथ ही स्त्रियों को घर की ओर धकेल दिया गया। एक बार स्वाधीनता का स्वाद चख लेने के पश्चात् नारी पराधीनता के बंधन को तोड़ स्वाधीन बनने का प्रयास करने लगी। इस कारण भी नारीवादी आंदोलन प्रभावित हुआ।

विभिन्न प्रकार की पुस्तकों का भी आंदोलन को सक्रिय करने में हाथ रहा। मेरी वुलस्टोनक्राफ्ट की पुस्तक "ए विनडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वूमन' जो कि ब्रिटेन में सन् 1792 में प्रकाशित हुआ ने नारीवाद की लहर को जागृत किया। इस पुस्तक में नारी को पुरुष से कमजोर, एवं निम्न वर्ग का समझे जाने की परंपरागत मान्यता का खंडन किया गया था, तथा शिक्षा महिला एवं अधिकारों की माँग की गई थी।

प्रसिद्ध फ्रेंच लेखिका सीमोन द बोउवार के 'द सेकेंड सेक्स' में स्त्रियों की शारीरिक एवं मानसिक बनावट तथा समाज में उनकी स्थिति को निरूपित किया गया है। इस पुस्तक ने नारी को अपने अस्तित्व के विषय में सोचने के लिए प्रेरित किया।

बेटटी फ्राइडन की पुस्तक "द फेमिमिन मिस्टिक' (1963) ने भी नारीवादी आंदोलन को गहरे तौर पर प्रभावित किया। इस पुस्तक में उन्होंने सिद्ध किया कि

पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था स्त्रियों को भोग्या बनने के लिए तथा माँ, पत्नी, गृहिणी की पारंपरिक भूमिकाएँ निभाने के लिए बाध्य करता है।

नारी-मुक्ति आंदोलन की मुख्य माँग स्त्री-पुरुष समानता, समान शिक्षा एवं कार्यक्षेत्र में अवसरों एवं अधिकारों की समानता थी। आंदोलन की शुरूआत स्त्रियों के मताधिकार को ले कर हुई थी, जो कि इसके लागू होने के बाद (1920) भी जारी रहा। यह बाद में कार्यक्षेत्रों, कानूनी संबंधों और सांस्कृतिक प्रथाओं में लैंगिक समानता के एक तीव्र- आंदोलन में बदल गया।

भारत में स्त्री-मुक्ति आंदोलन की शुरूआत को स्वाधीनता आंदोलन के साथ जोड़कर देखा जा सकता है। पूरनचंद्र जोशी के अनुसार, "हमारे यहाँ स्त्री मुक्ति का आंदोलन आजादी के आंदोलन के साथ ही शुरू हुआ, लेकिन जब प्राथमिकता का सवाल उठा, तो गांधी नेहरू जैसे नेताओं ने भी कहा कि आजादी की लड़ाई 'पहली लड़ाई' है। इसके बाद एक 'दूसरी लड़ाई' लड़नी होगी, जो स्त्री-पुरुष की समानता की तथा स्त्रियों के अधिकारों की लड़ाई होगी।... लेकिन आजादी के बाद उस दूसरी लड़ाई को भुला दिया गया और किसी बड़े आंदोलन के अभाव में स्वयं स्त्रियों को ही अपनी मुक्ति का आंदोलन शुरू करना पड़ा।"[76] भारतीय नारी मुक्ति आंदोलन ने पाश्चात्य नारी मुक्ति आंदोलन से प्रेरणा ग्रहण की। नारी मुक्ति का अर्थ नारीत्व का त्याग नहीं, बल्कि उन जर्जर, रूढ़ परंपराओं से मुक्ति है जो कि नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास में बाधक बनती हे।

देश में आये सामाजिक -राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों को भारतीय कथा-साहित्य में उकेरने के प्रयास समय -समय पर होते रहे हैं। स्वतंत्रयोत्तर कथा लेखिकाओं का एक बड़ा समूह, जो कि 70 के दशक में उल्लेख में आया, ने नारी की परंपरागत छवि को तोड़ नयी, चेतना से संपृक्त उस नारी को चित्रित करने का प्रयास किया, जो सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों एवं परंपरागत नैतिक मूल्यों को प्रश्नात्मकता की दृष्टि से देखे। कृष्णा सोबती भी इन्हीं महिला लेखिकाओं में से एक हैं, जो नयी कहानी के अंतिम दौर से पहचानी गईं।

कृष्णा सोबती के नारी पात्र अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए जागरूक दिख पड़ते हैं तथा अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष एवं विद्रोह का स्वर बुलंद करते हैं। सोबती के नारी पात्र नवीन चेतना से संपृक्त हैं, जिसके अंतर्गत नारी के स्वतंत्र अस्तित्व को उसके परंपरागत माँ, बहन, बेटी जैसे भूमिकाओं से अलग कर देखा जाता है। सोबती ने नवीन जीवन मूल्यों को आधार बना कर नारी पात्रों की सचेतन मानसिकता को तद्युगीन परिप्रेक्ष्य में उकेरने का प्रयास किया है।

कृष्णा सोबती के नारी पात्र न तो परंपरागत नारी की तरह आदर्शप्रिय और समर्पित हैं, ना ही नैतिक रूप से उच्छृंखल। इनकी नारी हाड़-माँस की जीती जागती नारी है जिसमें सभी मानवीय गुण एवं दोष मौजूद हैं। न तो वह श्लील-अश्लील की चिंता करती है, ना ही नैतिक व अनैतिक प्रतिमानों की। 'डार से बिछुड़ी' की पाशो से लेकर 'समय सरगम' की आरण्या एवं हाल ही में प्रकाशित उपन्यास 'जैनी मेहरबान सिंह' की जैनी हो, कृष्णा जी के पात्र मानवीय संभावनाओं की तलाश को रंखांकित करते हैं। यदि दो-चार पात्रों को छोड़ दें, तो सोबती के ज्यादातर नारी पात्र घरेलू स्त्रियाँ हैं, किन्तु अपनी अस्मिता की पहचान बनाए रखने के लिए उन्होंने संस्थागत रूढ़ियों का मुकाबला किया है। एक स्त्री की दृष्टि से सोबती ने स्त्री की समस्याओं को देखा और जाँचा है, तथा परम्परागत जीवन मूल्यों में बदलाव की माँग सामने रखी है। सोबती की रचना-प्रक्रिया की विकास यात्रा के साथ ही उनकी नारी भी विकसित होती चली जाती है। राजेंद्र यादव के अनुसार वह चीज से व्यक्ति और फिर व्यक्तित्व बनती है।

'डार से बिछुड़ी' की पाशो जिस सामंती सामाजिक व्यवस्था का हिस्सा है, वहाँ स्त्री की नियति उसके जन्म से पूर्व ही निर्धारित हो जाती है। हर पल उसे यह अहसास दिलाया जाता है कि वह लड़की है "रब्ब तुझे संभाले, अरी कपड़ा नीचे रखा कर!"[77] उसके लिए लज्जा, शील जैसे विशेषण अवश्यंभावी हैं, "पसार छूने लगी – न शर्म, न हया। अरी, ओढ़नी अब तेरे गले तक से उठने लगी....।"[78] पाशो की विधवा माँ शेखजी के घर जा कर बैठ गई थी, जिसकी सजा पाशो को

कदम-कदम पर मिलती है, "अरी कुएँ में डूब मरी थी तेरा बीज डालनेवाली! अब तू संभल कर सांस भर...।"[79] न केवल नानी और मामा-मामियों द्वरा पाशो के चरित्र पर संदेह किया जाता है, बल्कि उसे जान से मार डालने की योजना भी बनाई जाती है। जान बचाने के लिए पाशो घर से भाग कर शेख जी की हवेली पहुंचती है। यहाँ से शुरू होती है उसके जीवन की अनिश्चितता, जो उसे कभी मालन, कभी गोली, तो कभी नवेली बना कर छोड़ती है। इस बीच पाशो बार-बार बेची-खरीदी जाती है, जिससे लगता है कि वह व्यक्ति न हो कर कोई सामान हो, जिसे जब जो चाहे इस्तेमाल कर ले। पाशो ने हिम्मत कर के घर से भाग कर, अपने साथ किए गए दुर्व्यवहार से किनारा करना चाहा था, मगर उसका यही एक बार का थिरका पांव उसकी जिंदगानी को धूल में मिला देता है। पाशा से उम्मीद की जाती है कि वह किसी का घर संभाले, किस का बिस्तर गर्म करे, तो किसी की वंश बेला बढ़ाने के लिए संतान उत्पन्न करे। पाशो भी स्वयं को ऐसा ही समझने लगती है, जिसका कर्त्तव्य ही दूसरों की सेवा हो, "बेटी, नहीं जानती, तू नहीं जानती। राजे से हाथ बाँध सौ-सौ मिन्नतें की थीं – एक रात को रानी समझ तुम्हारी ही झोली में लाल डाल जाए।

...इस बार बड़ी माँ नहीं, मैं रोने लगी। मुझ अभागी को बहन पुकारनेवाले वीरजी, क्या जानती थी आपजी के किसी काम न आ सकूंगी! इस जोग भी थी मैं जो मेरा इतना मान किया।"[80] पाशो एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाती है, जहाँ उसकी इच्छा-अनिच्छा, हर्ष-विषाद, सभी एकाकार हो गए हैं। उसकी जिंदगी पूरी तरह से नियति के सुपुर्द हैं, जिसमें पाशो का कहीं कोई हस्तक्षेप नहीं होता। उसकी सिर्फ एक ही इच्छा रह जाती है। अपने खोये हुए बेटे को पाने की, तथा अपनी पिछुड़ी डार में फिर से मिलने की।

सहृदयता और जिजीवषा, ये वे प्रेरक शक्तियाँ हैं, जो पाशो को जीवन से जूझने की प्रेरणा देती हैं। पाशो उन लोगों को भी माफ करने की कूवत रखती है, जिन्होंने उसे पल-पल दुःख दिया। दीवान जी के यहाँ पाशो को वे मामा-मामियाँ

याद आ जाती हैं, जिन्होंने उसे हमेशा कष्ट दिया, "मामू और मामियों की बात सोचने लगी तो मन में राग-रोष कुछ न उपजा। उन सबके लिए जी छलछला आया। ऐसा लगा कि उड़ती जाऊँ और सबके गले जा मिलूँ।"[81] अपने परिवार वालों के अतिरिक्त पाशो, उन लोगों की भी चिंता करती है जो उसे दासी की तरह रखते हैं। घर के बुजुर्ग की सेवा करते हुए वह सोचती है, "मैं तो पराए घर की हूँ, पर इस घर के कर्ता-धर्ता की यह दशा! हे जानी जान, ऐसे हाल-हीले किसी के न हो! कोई पड़ा-पड़ा अकेले मरने की बाट जोहे...!"[82] जीवन की अनवरत कठिनाईयों और संघर्ष के बावजूद पाशो की जिजीवषा नहीं टूटती। पुत्र और भाई की स्मृति उसे जीने के लिए प्रेरित करती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी भविष्य की आशा उसे जिलाए रखती है, "क्यों जी छोड़ूँ! सिदक करूँ तो पलक झपकते लाल मेरा घोड़ी जा चढ़ेगा। आज गोद में है, कल घुटनों चलेगा, परसों जवान हो किसी सोहणी का दूल्हा जा बनेगा।"[83]

अपने जीवन में घटनेवाली सभी दुर्घटनाओं के लिए पाशो स्वयं को ही दोष देती है। इस हिसाब से उसकी सोच भाग्यवादी है, "ये सब मेरी लिखियों के लेख हैं। जहाँ पाँव रखती हूं वहीं बुरा बरत जाता है।"[84] अपने दुर्भाग्य के लिए पाशो दूसरों को दोषी नहीं ठहरती।

प्रश्न यह उठता है कि इतनी सरलता से पाशो जीवन की अनिश्चितताओं को कैसे झेलते चली जाती है? प्रतिरोध का स्वर क्यों नहीं सामने रखती? क्या सोबती उसे एक आदर्श चरित्र बनाना चाहती हैं? यदि ध्यान दें, तो जो बात सामने आती है, वह यह है कि प्रतिरोध करने के लिए भी परिवेश की अनुकूलता आवश्यक है। भारत में नवजागरण की प्रथम लहर बंगाल से उठी, क्योंकि पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने युगीन मानसिकता को झकझोर दिया था, उसे शक्ति प्रदान की थी। लेकिन पाशो जिस सामंती समाज में पली बढ़ी है, उसमें स्त्री के लिए खुलकर सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध प्रतिरोध व्यक्त करना संभव नहीं। अपने दबे-छुपे प्रतिरोध को, पाशो जगह-जगह पर व्यक्त करती है। मामियों

की जली-कटी सुन कर वह अपना सिर फोड़ लेती है, नानी द्वारा दिया गया दूध का कटोरा उलट देती है। पाशो का बनाव-सिंगार देख नानी जब नाईन राबयाँ से पाशो का सिर गूँथने को कहती है, तो पाशो प्रतिकार करती है, "मन में आया राबयाँ समेत तीनों को रौंदती हुई घर से बाहर हो जाऊँ, कि नीचे सीढ़ियों पर छोटे मामू की आहट सुन पड़ी। सहमकर राबयाँ के आगे जा बैठी।"[85] घर से भागकर जान बचाने का प्रयास भी पाशो का प्रतिकार ही है।

पाशो नियति के आगे तब समर्पण कर देती है, जब दिवानजी की मृत्यु हो जाती है, बरकत दिवान उसे अपनी हवस का शिकार बनाता है और उसके पुत्र को छीन लेता है। पाशो समझ जाती है कि अब प्रतिरोध की उसकी शक्ति और समय दोनों ही समाप्त हो चुके हैं। इसके बावजूद भी अपने बिछड़े पुत्र और परिवार से मिलने की आस में वह जीवित रहती है। पाशो, जिसके पास कुछ भी नहीं बचता, अंत तक नहीं हारती। कृष्णा सोबती पाशो के लिए कहती हैं, "न शिक्षा थी न विद्या थी, न पिता की छाँह। न विधवा माँ की मान-मर्यादा और न परिवार की सुरक्षा।

रात के अंधेरों में घर की देहरी से बाहर पाँव रखा और हर कदम दूर होती चली गई पाशो अपनों और परायों से। आकाश में उड़ते पाखियों की डारों से अलग हुए पँछी की तरह।"[86]

सामंतवादी युग में एक मध्यवर्गीय संयुक्त परिवार की उपज पाशो, नारी शोषण के फैले हुए तंत्र को पहचान कर, उससे उबरने का जो प्रयास करती है, वह उसके चरित्र को उल्लेखनीय और विशिष्ट बनाता है। तद्युगीन सामाजिक परिवेश में स्त्रियों के लिए शोषण के इस रूप को पहचानना अत्यंत दुष्कर था, क्योंकि उन्हें बचपन से ही दुःख-तकलीफों को झेलने के लिए तैयार किया जाता था। ऐसे माहौल में पाशो द्वारा प्रतिरोध स्वरूप उठाये गये छोटे-छोटे कदम भी सराहनीय हैं, क्योंकि एक दमघोंटू सामाजिक व्यवस्था में स्वतंत्रता की चाह रखना

भी प्रशंसनीय कदम माना जाता है। घर से भाग कर जान बचाने का पाशो का प्रयास उसकी चेतना की सजगता को दर्शाता है।

मित्रो का हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आविर्भाव एक प्रस्थान बिंदु माना जाता रहा है। मित्रो, न तो शरतचंद्रीय नायिकाओं की तरह गलदश्रु भावुकता का प्रतिनिधित्व करती है, ना ही प्रेमचंद की नायिकाओं की तरह नैतिकता के प्रतिमानों की दुहाई देती है। ठोस जीवन-संघर्षों के बीच से हो कर अपना रास्ता बनाने वाली मित्रो, नारी की उस नवीन चेतना का प्रतिनिधित्व करती है, जो कि अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु प्रयासरत है, तथा जो जीवन के सभी क्षेत्रों में, पुरुष से समानता की दरकार रखती है। हिन्दी साहित्य की परंपरागत सलज्ज, शीलवान नारी की छवि को ध्वस्त करती मित्रो अपनी सपाटबयानी और बेझिझक स्वभव से विशिष्ट एवं अलग बन जाती है। कृष्णा सोबती की मित्रो अपने अधिकारों के लिए लड़ने का जीवट रखती है, एवं पुरुष प्रधान समाज में भी अपने अस्तित्व को बचाए रखने का संघर्ष करती है।

अपनी सपाटबयानी से मित्रो यदि एक तरफ परंपरागत नैतिक मूल्यों की जाँच करती है, तो दूसरी तरफ सामाजिक व्यवस्था की चूलें भी हिला देती है। मित्रो के दिल में कोई कलुषता नहीं, वह अपने हैरतअंगेज सच से सभी को अचंभे में डाल देती है। जब बनवारीलाल उससे झूठ और सच का फर्क जानना चाहता है तो उसका स्पष्टीकरण बेबाक किस्म का होता है, "सोने-सी अपनी देह झुर-झुरकर जला लूँ या गुलजारी देवर की घरवाली की न्याई सुई-सिलाई के पीछे जान खपा लूँ? सच तो यूँ, जेठ जी कि दीन-दुनिया बिसरा मैं मनुक्ख की जात से हँस- खेल लेती हूँ। झूठ यूँ कि खसम का दिया राजपाट छोड़ मैं कोठे पर तो नहीं जा बैठी?"[87]

अपने रूप-यौवन पर इतराती मित्रो जानती है कि इस देह के बूते पर वह कइयों को धराशायी कर सकती है। अपनी शारीरिक गठन पर उसे गर्व है, जिसे वह स्वीकारती भी है, "सच कहना, जिठानी सुहागवन्ती, क्या ऐसी छातियाँ किसी

और की भी हैं।"[88] मित्रो, विवाह के पश्चात अपने व्यक्तित्व को होम नहीं कर देना चाहती, वह अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं को पूरा करना चाहती है, खुल कर जीना चाहती है। कृष्णा सोबती के अनुसार, "मित्रो व्यक्ति की जिस छटपटाहट की प्रतीक है वह यौन उफान ही नहीं, व्यक्ति की अस्मिता का अक्स है जिसे नारी की पारिवारिक महिमा में भुला दिया जाता है।... मित्रो की प्रस्तुति में उस गूढ़तम को ऊपर ले आने की विलक्षण क्षमता है जिसे न सुनने-देखने का दंभ हमने परंपरा के नाम पर पाला हुआ है।"[89]

शिक्षा व आधुनिकता ने नारी को न केवल आर्थिक रूप से सक्षम बनाया है, बल्कि उसे एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी बनाया है। सोबती की नारी पारंपररिक सामाजिक सोच से टक्कर लेने को तैयार है। बचपन में एक दुर्घटना का शिकार रत्ती, यौन-शुचिता के मिथ को नकारती है। सहपाठियों के ताने, साथी मित्रो का तिरस्कार, समाज के लांछन एवं आत्मादर की कमी स्त्री को किसी विनाश के पथ पर नहीं ले जाते। अपनी समस्त कुण्ठा एवं अंतर्द्वंद्वों के बावजूद रत्ती स्वयं को सामान्य बनाने की कोशिश करती है। अपमान और असफलताओं के बावजूद झुठला गये जीवन के प्रति रत्ती की आसत्ति ही उसे सामान्य से विशिष्ट बनाती है।

पारंपरिक सोच पर प्रश्नचिहन लगाने में आरण्या भी पीछे नहीं रहती। परंपरावादी सोच के अनुसार, "स्त्री देह है। इसीलिए उसे मार्मिक अनुभूतियाँ बिछौने से ही मिलती हैं। विचार उसका क्षेत्र नहीं। इसीलिए वह आत्मदया से ग्रस्त है। .... पुरुष में आत्मा के रूप में परमात्मा का प्रवेश है। नारी-देह में प्रकृति का निवास है। माया का दूसरा नाम ही प्रकृति है।"[90] आरण्या इस सोच का प्रतिकार करती हुई करती है, "महाराज, वह अब शोषित और प्रताड़ित महसूस करने लगी हैं। उन्हें भी अपनी देह में से किसी गुम आत्मा की आवाज सुन पड़ने लगी है।"[91]

आज की नारी अपने नारीत्व की तलाश कर रही है। वह समाज द्वारा दिये गये माँ, बहन, पत्नी और बेटी जैसी पहचान से परे एक पहचान खोज रही है, जो है उसके पारीत्व की पहचान। एक व्यक्ति के रूप में अपने अस्तित्व को स्वीकारे जाने का प्रश्न उसे बार-बार सालता है, "माँ सिर्फ ममता ही है क्या! क्या उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व के सूत्र अब भी पिता, पति और पुत्र के हाथ में हैं!"[92] ध्यान देने योग्य बात यह है कि सोबती की नारी जब नारीत्व और मातृत्व की टक्कर में पड़ती है, तो घोषित रूप से उसके नारीत्व को विजय मिलती है। महक बानो का अपनी बेटी की शादी रूक जाने के खतरे को उठा कर भी अपने जेवर वापस माँगना, इसी का एक उदाहरण है।

आधुनिक नारी की मुक्ति की कामना को स्वर देने में कृष्णा सोबती पीछे नहीं रही है। आज की नारी पति-परिवार एवं बच्चों के संसार से अलग खुद का भी एक संसार बनाना चाहती है। मृत्युशय्या पर पड़ी अम्मू इसीलिए कह उठती है, "मैं तितली नहीं माँग रही, अपनी हक माँग रही हूं। मुझे दे दो। ताजी हवा में सांस लेने दो।"[93] इस उपन्यास में सोबती ने नारी-अस्मिता के विविध पहलुओं को कुशलता एवं बारीकी से उभारा है। राजेन्द्र यादव के अनुसार, "...आत्मनिर्भर स्त्री के अनेक पहलुओं को उन्होंने 'ऐ लड़की' में एक साथ जिस गहराई से उजागर किया है, वह उन्हें आज भी स्त्री-अस्मिता की सबसे प्रामाणिक आवाज बनाता है।"[94]

कृष्णा सोबती के यहाँ नारी के दो रूप मौजूद हैं, एक जो परंपरागत सामाजिक बंधनों में जकड़ी हुई हैं, परंतु उनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न कर रही है, तथा दूसरी वह, जो कि इन बंधनों को तोड़ चुकी है और स्वतंत्र जीवन बिता रही है। सोबती की रचनाओं के क्रमिक विकास के साथ ही उनके नारी पात्रों का व्यक्तित्व भी विकसित होता जाता है। अपनी रचनाओं में सोबती ने नारी-अस्मिता को व्यवहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। प्राचीन जीवन मूल्यों से नवीन

जीवन मूल्यों की ओर अग्रसरता द्वारा सोबती ने नारी की नवीन चेतना को रेखांकित किया है।

संदर्भ सूची

---

[1] बी. कुप्पुस्वामी, सोशल चेंज इन इण्डिया, विकास पब्लिकेशन, दिल्ली, 1972, पृ. 177-178

[2] ए.एल. बाशम, अद्‌भुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1999, पृ. 129,

[3] (सं.) रमेश उपाध्याय एवं संज्ञा उपाध्याय, आज का स्त्री आँदोलन, शब्दसंधान, नई दिल्ली, 2004, पृ. 10

[4] वही, पृ. 11

[5] डॉ. मैनेजर पाण्डेय, भक्ति आँदोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992, पृ. 41

[6] नीरा देसाई, वीमेन इन मॉडर्न इण्डिया, बोरा एण्ड को प्राइवेट लिमिटेड, मुंबई, 1957, पृ.146

[7] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993, पृ.48-49

[8] (सं) डॉ. नामवर सिंह, परिवर्तन, 4-10 अगस्त, 1986, पृ.45

[9] (सं) रमेश एवं संज्ञा उपाध्याय, आज का स्त्री आँदोलन, शब्दसंधान, नई दिल्ली, 2004, पृ.14

[10] वही, पृ. 43

[11] वही, पृ. 44

[12] (सं) डॉ. नामवर सिंह, आलोचना, अप्रैल.-जून, 1980, पृ.42

[13] राजेन्द्र यादव, एक दुनिया समानांतर, अक्षर प्रकाशन, 1980, पृ. 32

[14] हंसराज रहबर, प्रेमचंदः जीवन, कला, कृतित्व, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1959, पृ. 241

[15] इंद्रनाथ मदान (संपादित); हिंदी कहानीः पहचान और परख, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1975, पृ. 12

[16] सुनंत कौर, समकालीन हिंदी कहानीः स्त्री-पुरुष संबंध, अभिव्यंजना प्रकाशन, दिल्ली, 1991, पृ. 42-43

[17] रामस्वरूप चतुर्वेदी, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1968,

पृ.167

[18] मधुरेश, हिंदी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृ. 50

[19] डॉ. त्रिभुवन सिंह, उपन्यास में यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, 1955, पृ. 113

[20] मोहन राकेश, न आने वाला कल, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1984, पृ. 180

[21] मन्नू भण्डारी, मेरी प्रिय कहानियाँ, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1986, पृ.138

[22] कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ.44

[23] कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ.19

[24] वही, पृ. 12

[25] वही, पृ. 64

[26] वही, पृ. 20

[27] वही, पृ. 32

[28] वही, पृ. 67

[29] वही, पृ. 99

[30] राजेंद्र यादव, औरों के बहाने, राधाकृष्ण प्रकाशन,, नई दिल्ली, 1980, पृ. 45

[31] कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 92

[32] वही, पृ. 54

[33] वही, पृ. 49

[34] वही, पृ. 215

[35] कृष्णा सोबती, 'दो राहें : दो बाहें' (बादलों के घेरे), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 198

[36] कृष्णा सोबती, 'कुछ नहीं : कोई नहीं' (बादलों के घेर), राजकमल प्रकाान, नई दिल्ली, 2007,

पृ. 87

[37] वही, पृ. 79

[38] कृष्णा सोबती, 'एक दिन' (बादलों के घेरे), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ.175

[39] वही, पृ.29

[40] कृष्णा सोबती, सूरजमुखी अँधेरे के, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ.68

[41] वही, पृ. 80

[42] कृष्णा सोबती, समय सरगम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ.7

[43] वही, पृ. 35

[44] वही, पृ.35

[45] वही, पृ.148

[46] एरिक फ्रॉम, प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत, अनुवाद-युगांक धीर, संवाद प्रकाशन, 2002,

पृ. 28

[47] कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 18

[48] कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे, राजकमल प्रकाशन, 2007, पृ. 91

[49] राजेन्द्र यादव, औरों के बहाने, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1980, पृ. 41

[50] डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, द्वितीय महायुद्धोत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास, राजपाल एंड सन्ज, 1982, पृ. 65

[51] कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, राजकमल प्रकाशन, 2006, दिल्ली, पृ.14

[52] वही, पृ. 204

[53] (सं.) कन्हैयालाल नंदन, सारिका, जनवरी 1979, पृ.13

[54] (सं.) रमेश उपाध्याय एवं संध्या उपाध्याय, आज के समय में प्रेम, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.37

[55] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृ.6

[56] वही, पृ.65

[57] वही, पृ.56

[58] कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, रामकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ.44

[59] प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता-द सेकेंड सेक्स का हिन्दी रूपान्तरण, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2004, पृ.85

[60] डॉ. गीता सोलंकी, नारी चेतनाा और कृष्णा सोबती के उपन्यास, भारत पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 2004, पृ.159-160

[61] पुरुषोत्तम अग्रवाल, संस्कृतिः वर्चस्व और प्रतिरोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ.108

[62] कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ.20

[63] वही, पृ.21

[64] वही, पृ.75

[65] अनामिका, अंतःप्रज्ञा का ऐन्द्रिक विस्तार (आलेख), शताब्दी कथा-साहित्य, पृ. 376-377

[66] कृष्णा सोबती, सूरजमुखी अँधेरे के, रामकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ.70

[67] वही, पृ.129

[68] कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, 2007, पृ. 20

[69] वही, पृ. 41

[70] कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, राजकमल प्रकाशन, 2007, नई दिल्ली, पृ.185

[71] कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ.75

[72] वही, पृ. 77

[73] (सं) कन्हैयालाल नंदन, सारिका, 16 मार्च 1980, पृ.47

[74] डॉ. गीता सोलंकी, नारी चेतना और कृष्णा सोबती के उपन्यास, भारत पुस्तक भंडार, दिल्ली, 2004, पृ.13

[75] वही, पृ. 13

[76] (सं.) रमेश उपाध्याय व संज्ञा उपाध्याय, आज का स्त्री आन्दोलन, शब्दसंधान, नई दिल्ली, 2004, पृ. 28–29,

[77] कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ.16

[78] वही, पृ. 17

[79] वही, पृ. 17

[80] वही, पृ. 117

[81] वही, पृ. 50

[82] वही, पृ. 91

[83] वही, पृ. 77

[84] वही, पृ. 117

[85] वही, पृ. 21

[86] वही, पृ. 13

[87] कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 36

[88] वही, पृ. 19

[89] डॉ. गीता सालंकी, नारी चेतना और कृष्णा सोबती के उपन्यास, भारत पुस्तक भंडार, 2004, पृ. 163

[90] कृष्णा सोबती, समय सरगम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, नई दिल्ली, 2000, पृ. 142

[91] वही, पृ. 142

[92] वही, पृ. 77

[93] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1991, पृ. 68

[94] राजेन्द्र यादव, हंस, अक्षर प्रकाशन, जुलाई, 1994, पृ. 8

पाँचवा अध्याय

कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त इतिहास और संस्कृति

(क) देश विभाजन और कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य

(ख) साँझी संस्कृति का स्वरूप

(ग) लोक परंपरा का चित्रण

(क) देश विभाजन और कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य

देश–विभाजन एके ऐसा विषय रहा है, जिसने न केवल रचनाकारों का ध्यान आकर्षित किया है, बल्कि उनकी संवेदनाओं को झकझोर कर श्रेष्ठतम साहित्यिक रचनाओं के निर्माण का प्रेरणा–स्रोत भी बना है। विभाजन की त्रासदी की सशक्त एवं प्रामाणिक प्रस्तुति जिन रचनाकारों के यहाँ उभर कर आई है, कृष्णा सोबती उनमें से एक हैं। कृष्णा सोबती ने विभाजन को नजदीक से देखा है, जाना है, महसूस किया है, विभाजन उनका भोगा हुआ दर्द है। सोबती की इतिहास दृष्टि के निर्माण में विभाजन से उपजी टीस की महत्वपूर्ण भूमिका है। देश विभाजन तथा उससे उत्पन्न स्थितियों ने मानवय संबंधों एवं सोच में कैसे बदलाव उत्पन्न किया, यह सोबती ने व्यक्त किया है, 'मेरी माँ कहाँ' (1949), 'सिक्का बदल गया' (1948), 'डरो मत मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा' (1950), 'खम्माघणी, अन्नदाता' (1951) और 'आजादी शम्मोजान की' (1951) जैसी कहानियों में।

कृष्णा सोबती, विभाजन की पृष्ठभूमि में जिन स्थितियों को उठाती हैं, वे न केवल मार्मिक और हृदयस्पर्शी हैं, बल्कि जीवन की संभावनाओं की तलाश को भी निरूपित करती हैं। 1947 में हुआ भारत विभाजन, न केवल देश की भौगोलिक सीमाओं का बँटवारा था, बल्कि मानवीय संबंधों की बाँट का भी परिचायक था। विभाजन ने सामाजिक संबंधों, मान्यताओं एवं संस्कारों में भी आमूल परिवर्तन किये। कई वर्षों से चलते आ रहे सामाजिक संबंध एक झटके में टूट गये। 'सिक्का बदल गया' (1948) मानवीय मूल्यों के बदलाव को चित्रित करती है। शाहनी, गाँव के जमींदार शाहजी की विधवा है, जिसने शेरा को पाल–पोस कर बड़ा किया है। परिवर्तित हो रही परिस्थितियों ने शेरा की सोच को भी बदल दिया है। जिन शाहजी और शाहनी के संरक्षण में वह बड़ा हुआ, उन्हीं के खिलाफ उसकी सोच बन रही है, "आज शाहजी क्या, कोई भी कुछ नहीं कर सकता। यह होके रहेगा– क्यों न हो?

हमारे भी भाई–बंदों से सूद ले–लेकर शाहजी सोने की बोरियाँ तोला करते थे। प्रतिहिंसा की आग शेरे की आँखों में उतर आई। गँड़ासे की याद आई।"[1]

सांप्रदायिक सोच शेरे के दिमाग पर एक क्षण के लिए इतनी हावी हो जाती है कि वह शाहनी की हत्या कर उसकी हवेली को लूटने के लिए तैयार हो जाता है, लेकिन शाहनी को देखते ही उसे अपना बचपन याद आ जाता है, "वह सर्दियों की रातें, कभी–कभी शाहजी की डाँट खा के वह हवेली में पड़ा रहता था और फिर लालटेन की रोशनी में देखता था, शाहनी के ममता–भरे हाथ दूध का कटोरा थामे हुए, "शेरे, शेरे उठ, पी ले।' शेरे ने शाहनी के झुर्रियों पड़ें मुँह की ओर देखा तो शाहनी धीरे–से मुस्कुरा रही थी। शेरा विचलित हो गया– 'आखिर शाहनी ने क्या बिगाड़ा है हमारा? शाहजी की बात शाहजी के साथ गई, वह शाहनी को जरूर बचाएगा।"[2] शेरा को स्वयं अपनी सोच पर शर्म आती है, –"लेकिन कल रातवाला मशवरा! वह कैसे मान गया था फिरोज की बात? सबकुछ ठीक हो जाएगा...सामान बाँट लिया जाएगा!"[3] शेर यहाँ कृतज्ञता और कृतघ्नता के मध्य झूलता रहता है। इसी प्रकार थानेदार दाऊद खाँ, जो कि शाहनी को शरणार्थियों के शिविर में पहुँचाने के लिए आया है, थोड़ी देर के लिए अपनी अकड़ दिखाता है। लेकिन फिर उसे शाहनी के उपकार याद आ जाते हैं, "यह तो वही शाहनी है जिसने उसकी मंगेतर को सोने के कनफूल दिए थे मुँहदिखाई में। अभी उसी दिन जब वह 'लीग' के सिलसिले में आया था तो उसने उद्दण्डता से कहा था, 'शाहनी, भागोवाल मसीत बनेगी, तीन सौ रूपया देना पड़ेगा।' शाहनी ने अपने उसी सरल स्वभाव से तीन सौ रूपये आगे रख दिये थे"[4] दाऊद खाँ शाहनी को शिविर तक पहुँचाता है।

विभाजन के समय मुस्लिम–बहुल क्षेत्रों से भागने वाले हिन्दुओं तथा हिन्दू बहुल क्षेत्रों से भागने वाले मुसलमानों की कोशिश होती थी कि जितनी संपत्ति साथ ले जा सकें, ले जाएँ। दाऊद खाँ जब शाहनी को सोना–चाँदी और नकदी साथ

रखने को कहता है तो शाहनी मना कर देती है। उसके शब्दों में, "सोना–चाँदी! बच्चा, वह सब तुमलोगों के लिए है। मेरा सोना तो एक–एक जमीन में बिछा है।"[5] शाहनी को सोना–चाँदी और नकदी का कोई मोह नहीं है, उसे मोह है तो अपनी उस जगह का, जिसे छोड़कर उसे जाना पड़ रहा है। अपनी हवेली को छोड़ते समय शाहनी को बीती जिन्दगी याद आती है, – "शाहजी के मरने के बाद भी जिस कुल की अमानत को उसने सहेज कर रखा, आज वह उसे धोखा दे गई। शाहनी ने दोनों हाथ जोड लिये – यही अंतिम दर्शन था, यही अंतिम प्रणाम था। शाहनी की आँखें फिर कभी इसी ऊँची हवेली को न देख पाएँगी। प्यार ने जोर मारा–सोचा, एक बार घूम–फिरकर पूरा घर क्यों न देख आई मैं? जी छोटा हो रहा है, पर जिनके सामने हमेशा बड़ी बनी रही है उनके सामने वह छोटी न होगी। इतना ही ठीक है। सब हो चुका है। सिर झुकाया। ड्योढ़ी के आगे कूलवधू की आँखों से निकल कर कुछ बूँदें चू पड़ीं। शाहनी चल दी– ऊँचा सा भवन पीछे खड़ा रह गया।"[6]

शाहनी की रक्षा न कर पाने का दुःख बहुसंख्यक मुस्लिमों को है। जो शेरा शाहनी को लूटना चाहता था, शाहनी के जाने के वक्त उसका हृदय–परिवर्तन हो जाता है। गाँववाले शाहनी से आशीष माँगते हैं। उनका मानना है कि शाहनी के मुँह से निकली आशीष झूठी नहीं हो सकती। शाहनी को अपने साथ न रख पाने का दुःख गाँववालों को है। अपनी असमर्थता को वे शाहनी के सम्मुख व्यक्त करते हैं, – "शाहनी, मन में मैल न लाना। कुछ कर सकते तो उठा न रखते। वक्त ही ऐसा है। राज पलट गया है, सिक्का बदल गया..."[7]

सिक्का यहाँ न केवल राजनैतिक सत्ता का प्रतीक है, बल्कि मानवीय मूल्यों का भी सूचक है। शाहनी को लूटने की साजिश उसके विश्वासपात्र ही करते हैं। वह सबकुछ जानते हुए भी बेखबर बनी रहती है, क्योंकि उसका किसी से भी बैर नहीं है।

राजनैतिक बदलाव किस तरह मानवीय संबंधों के बदलाव के सूचक हैं, यह इस कहानी में दिखलाया गया है।

विभाजन के समय अपनी जमीन से उखड़े हर व्यक्ति का एक ही दर्द था– एक गहरी उदासी और जीवन की निरर्थकता का बोध। पारस्परिक विश्वास और सद्भावना का लोप हो चुका था। 'मेरी माँ कहाँ' (1949) कहानी इसी संदेह और अनिश्चय की स्थिति को रेखांकित करती है। वतन और कौम के नाम पर नृशंस नरसंहार का भागीदार यूनुस खाँ अपने कृत्यों को आजादी के लिए आवश्यक मानता है। अपने नये वतन की आजादी के लिए लड़ना उसका फर्ज है, "वतन के आगे कोई सवाल नहीं, अपना कोई ख्याल नहीं। ....कितना घूमा है वह? यह सब किसके लिए? वतन के लिए, कौम के लिए और ....? और अपने लिए! नहीं उसे अपने से इतनी मुहब्बत नहीं! क्या लम्बी सड़क पर खड़े–खड़े युनूस खाँ दूर–दूर गाँव में आग की लपटें देख रहा है? चीखों की आवाज उसके लिए नई नहीं। आग लगने पर चिल्लाने में कोई नयापन नहीं।"[8] खाान के लिए हिंसा कोई नया शब्द नहीं। वतन की माँग के लिए वह कुछ भी करने को तैयार है, "उसने आग देखी है। आग में जलते बच्चे देखे हैं, औरते और मर्द देखे हैं। वह देखकर घबराता थोड़े ही है? घबराये क्यों? आजादी बिना खून के नहीं मिलती, क्रांति बिना खून के नहीं आती, और, और इसी क्रांति से तो उसका नन्हा सा मुलुक पैदा हुआ है।"[9] सांप्रदायिक सोच खान के दिमाग पर हावी हो गई है। सही या गलत का निर्णय करने की उसकी क्षमता कुंद हो चुकी है। दरिन्दगी और उन्माद के मध्य फँसे खाने की सोच में परिवर्तन तब आता है, जब वह एक घायल, मूर्छित बच्ची को रास्ते में पड़े देखता है। बच्ची को देखकर खान की संवेदना जग जाती है, "युनूस खाँ की उँगलियाँ बच्ची के बालों में हैं और बालों का रक्त उसके हाथों में....शायद सहलाने के प्रयत्न में! पर नहीं यूनुस खाँ इतना भावुक कभी नहीं था। इतना रहम–इतनी दया उसे हाथों में कहाँ से उतर आई है? वह खुद नही जानता।"[10] बच्ची को देखकर उसे अपनी मृत बहन नूरन याद आ जाती है,

"सनसनाती हवा में– कब्रिस्तान में उसकी फूल–सी बहन मौत के दामन में हमेशा–हमेशा के लिए दुनिया से बेखबर....और उस पुरानी याद में काँपता हुआ युनुस खाँ का दिल–दिमाग।"[11] यूनुस खाँ बच्ची को हॉस्पिटल में भर्ती कराता है और उसकी सलामती के लिए दुआ करता है। इससे पता चलता है कि विभाजन के समय फैली हुई सांप्रदायिकता सोच ने लोगों की दिमाग को गिरफ्त में लिया था, तद्यपि मानवीय मूल्य पूरी तरह नष्ट नहीं हुए थे। यह जानते हुए भी कि लड़की हिन्दू है, यूनुस खाँ उसे बचाने ही हर संभव कोशिश करता है। लेकिन विभाजन से उत्पन्न भय और दहशत ने संदेह और अनिश्चय की जो स्थिति उत्पन्न कर दी है उसी की वजह से बच्ची यूनुस खाँ को देख कर डर जाती है। जब युनूस खाँ बच्ची को अपने साथ घर ले जाना चाहता है, तो वह उस पर विश्वास नहीं कर पाती, "ट्रक में यूनुस खाँ के साथ बैठकर बच्ची सोचती है– बलोची कहीं अकेले में जाकर उसे जरूर मार देनेवाला है....गोली से–छुरे से! बच्ची ब्लोच का हाथ पकड़ लेती है, "खान, मुझे मत मारना–मारना मत..." उसका सफेद पड़ा चेहरा बता रहा है कि वह डर रही है।"[12] जहाँ क्रूरता और बर्बरता की अंतिम स्थिति तक पहुँचने के बाद खान के भीतर का इंसान जाग उठता है, वहीं बच्ची उस पर इसलिए विश्वास नहीं कर पाती, क्योंकि खान मुस्लिम है और उसी के सहधर्मियों ने उसकी माँ और भाई का कत्ल किया है।

देश–विभाजन के कारण जिस सांप्रदायिकता का उदय हुआ, उसने सैकड़ों बरसों से चले आ रहे सह–संबंधों को भी शक के दायरे में खड़ा कर दिया। हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही अपनी पहचान धर्म के आधार पर करने लगे। यही वजह है कि अल्पसंख्यक संप्रदाय की बच्ची इस बात पर विश्वास ही नहीं कर पाती कि बहुसंख्यक संप्रदाय का खान उसकी जान का दुश्मन नहीं, बल्कि उसका संरक्षक है। विभाजन ने आदमी का आदमी पर से विश्वास खत्म कर दिया था।

देश–विभाजन के दौरान दंगे, लूटपाट, हत्याएँ इत्यादि सामान्य घटना हो गई थीं। मनुष्य क्रूरता और बर्बरता की सारी सीमाएँ पार कर चुका था। विभाजन के समय तथा विभाजन के बाद स्त्रियों पर सर्वाधिक अत्याचार हुए। लाखों स्त्रियाँ लापता हुई, कई भगाई गयीं तो कई बेची गईं। विभाजन के समय दोनों ओर की ही स्त्रियों की स्थिति अत्यंत कारूणिक और भयावह हुई। विभाजन की इसी पृष्ठभूमि पर आधारित है कहानी, "डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा'। यहाँ दंगों के दौरान भी प्रेमी अपनी प्रेमिका को उसकी सुरक्षा का आश्वासन देता है, "उस तूफानी–सी रात में जब ऊपर का आकाश नारों से गूँज रहा था, दो बाँहों ने किसी सुंदर सुकुमार शरीर को थामकर आश्वासन दिया, "डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।"[13] परिस्थितियाँ दिन–पर–दिन खराब से खराब होती जाती हैं। इसके बावजूद प्रेमी का आश्वासन बराबर बना रहता है, "मारो–मारो की आवाजें करीब आ रही हैं। और करीब, और करीब हल्की–सी चीख निकली और दो मजबूत बाँहों ने उस मूर्च्छित से शरीर को थामकर धीमे से कहा, "डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।"[14] प्रेमी के सामने प्रेमिका दंगाईयों के हाथों में पड़ जाती है, प्रेमी घायल कर दिया जाता है, इसके बावजूद उसे विश्वास है कि वह प्रेमिका की रक्षा कर पाएगा। शरणार्थियों के कैम्प तक पहुँचने के बाद, अर्द्धमृत अवस्था में भी प्रेमी का आश्वासन अपनी जगह पर कायम है, "दो सोई–सोई भरी हुई बाँहें उठीं, ओंठ फड़फड़ाए, 'डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।"[15] अंत में, मिट्टी में मिल जाने के पश्चात् भी प्रेमी का आश्वासन सर्वत्र गूँजता रहता है। विभाजन के दौर में भी प्रेम की सत्ता का आश्वासन इस कहानी में चित्रांकित हुआ है। मानवीय मूल्यों के क्षरण के दौर में भी मानव का स्वयं पर विश्वास बना हुआ है।

देश–विभाजन के पश्चात् भारतीय राज्यों का विलय कर भारतीय गणतंत्र की घोषणा हुई। भारतीय गणतंत्र की घोषणा के साथ ही रजवाड़ों का पतन आरंभ हुआ। प्रजांतत्र की उद्घोषणा किस तरह शासकों के मानसिक द्वंद्व का कारण बन जाती है, यह निरूपित हुआ है "खम्माघणी, अन्नदाता" कहानी में। राजतंत्र के अंत का समाचार

सुन कर महाराज बेचैन हो उठते हैं। उन्हें अपने पैरों के नीचे की जमीन खिसकती लग रही है, "सुबह होगी, हम भी होंगे, पर हाय, हमारे देवकुल का देवत्व न होगा! यह कैसी विडम्बना है सचमुच! यह समाचार झूठ भी तो नहीं। सच ही तो है। हाँ, बिल्कुल सच! पर यह कैसा सच है? जैसे पैरों के नीचे से जमीन खिसकी जा रही हो। पहले कभी ऐसा नहीं हुआ। आज जैसे भूकम्प के झटके लग रहे हैं। हे भगवान्, यह कैसा भूकम्प है? सबकुछ तो डोल रहा है! धरती डोल रही है। मन डोल रहा है। न्याय डोल रहा है।"[16] शासन का अधिकार हाथों से निकल जाने की बात सोचकर राजा व्यथित हो जाते हैं। साथ ही प्राचीन गर्व की स्मृति अभी शेष है, ".....मेरे अधिकार और अधिकार का अभिमान कल साँझ के सागर में हमेशा के लिए डूब जाएँगे। नहीं, यह कैसे हो सकता है? आखिर अभी हम तो जीवित हैं। अभी तो हमारी वंश–परम्परा गर्व से सिर उठाए खड़ी है। नहीं–नहीं, अभी हमारे पुरखाओं की साधना में शक्ति का अंत नहीं हुआ, ह्रास नहीं हुआ। पुरखओं की शक्ति क्या यों ही मिटा करती है? यह शक्ति कोई पानी का बुलबुला नहीं, कि जिसके जी में आये इसे बस एक फूँक मारकर उड़ा दें।"[17]

महाराज चाहते हैं कि प्रजा, प्रजातंत्र को अस्वीकार कर दे, "क्यों नहीं हमारे प्रजाजन उत्तेजित होकर कहते–हम प्रजापालक चाहते हैं! हम यहीं 'घणी' चाहते हैं। जो हो! भाग्य की विडम्बना : आज यह सब कौन कहेगा? और क्यों कहेगा?"[18] महाराज को अब तक प्रजा के साथ किए गए अन्याय भी याद आते हैं, "अब क्यों घबरा रहे हो? अब क्यों काँप रहे हो? ....तुमने जनता की परवाह नहीं की। तुम्हें हमेशा अपनी ही पड़ी रही। तुमने सदा अपना ही आराम देखा। तुमने कुएँ खुदवाए तो अपने लिए, बाग लगवाए तो अपने लिए। जब देखो अपने ही भोजन, अपने ही स्वाद की बात चलती रही। संगीत–उत्सव हो तो केवल इसलिए कि महाराज खुश हो जाएँ, कल नृत्य–सभा जमनी चाहिए तो इसलिए कि महाराज को नृत्य के प्रति विशेष आकर्षण है। जनता को इससे क्या मिल सकता था? जनता की भूख इससे कैसे मिट

सकती थी? तुमने कभी जनता को आँख खोलकर न देखा। अब जनता से डरो। जनता आ रही है। जनता को कोई नहीं रोक सकता। जनता तो आएगी ही, आकर रहेगी।"[19] सत्ता–स्थानांतरण के अंतिम क्षणों में महाराज को अपने किए पर पछतावा होता है। वे सोचते हैं, "समय रहते हम सोते रहे। सचमुच हमने बहुत–सा बहुमूल्य समय यों ही खो दिया। समय रहते कुछ न कर पाए। जब समय था, हमारे हाथ में सत्ता थी हम कुछ न कर पाए। आज राज्य के अंतिम क्षणों में कोई गहरी वेदना हमारे हृदय को छू रही है।"[20]

राजसत्ता का मोह, अंत तक महाराज से छूट नहीं पाता। राजतंत्र के अंत की घोषणा करने से महाराज बचना चाहते हैं। उनके लिए सर्वाधिक दुःखदायी बात यह है कि यह घोषणा भी उन्हें खुद करनी है। वे सोचते हैं, "...शायद यह सब नहीं होगा। नहीं हो सकेगा। अपनी आँखों के सामने भला कोई एक चिरपुरातन परम्परा का गला घोंटे जाते कैसे देख सकता है? बल्कि यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि हम स्वयं यह कार्य करे। जी हाँ, यह अपराध कैसे किया जा सकता है?"[21] उद्विग्नता की इस मनोस्थिति में महाराज इस घोषणा से बचने का उपाय ढूँढते हैं। वे महारानी से कहते हैं, "महारानी, हम ऐसा नहीं होने देंगे। देवत्व का अन्त हम इतना शीघ्र नहीं होने देंगे।"[22] सुबह का सूरज, राजतंत्र के अंत की घोषणा ले कर आता है। जनसभा के समक्ष अनमने से महाराज को सत्ता–हस्तांतरण की उद्घोषणा करनी पड़ती है। न चाहते हुए भी महाराज को वह सब बोलना पड़ता है जिससे वह बचना चाहते थे, "आज से जनता का राज्य आरम्भ होता है। आज हम महाराज के रूप में अन्तिम बार आप लोगों के सम्मुख खड़े हो रहे हैं। हमारी यही इच्छा रही कि जनता ही राज्यसत्ता को सँभाले। जब तक जनता ने चाहा कि महाराज उनकी सेवा करें, हम महाराज के रूप में करते रहे। आज यह सत्ता फिर से जनता को ही सौंपी जा रही है। जनता अब स्वयं सूरज बनकर चमकेगी। ऐसा हमारा विश्वास है ....और हमारा विश्वास सच्चा है।"[23] उनकी इस घोषणा का जनसमूह तालियाँ बजाकर स्वागत करता है। महाराज

यह देखकर हतप्रभ हो जाते है। उनके सामने यह प्रश्न उठता है कि अब जनता के समक्ष वे किस स्थान पर हैं, "इतिहास का नया युग इसे ही तो कहते हैं। स्वतंत्रता का जन्म इसे ही तो कहते हैं। पर क्या प्रजा अपने महाराज को भूल जाएगी?"[24]

देश–विभाजन के पश्चात् हुए सत्ता विलयीकरण ने किस प्रकार तात्कालिक राजसत्ताओं एवं शासकों को प्रभावित किया, यह उपरोक्त कहानी में उभर कर आया है।

'आजादी शम्मोजान की' (1951) कहानी में देश की आजादी एवं सामाजिक व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य हुआ है। स्वतंत्रता के पश्चात् राष्ट्र निर्माण की पीड़ा भरी प्रतीक्षा समाप्त हो गई। देश के निर्माण की असलियत देशवासियों के सामने आ गई। देश की आर्थिक समृद्धि के नाम पर केवल पूँजीपतियों एवं नेताओं की ही आर्थिक समृद्धि हुई। सत्ता प्राप्ति के साथ ही देश के नेतावर्ग ने अंग्रेज़ों का स्थान ले लिया। कुछ ऐसी ही स्थिति की कल्पना प्रेमचंद की कहानी 'आहुति' में हुई है, जहाँ रूपमणि बोलती है कि स्वराज्य का यह अर्थ नहीं कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जाए। जिस स्थिति की कल्पना प्रेमचंद ने 1930 में की थी, वह सोबती की कहानी में 1951 में वास्तविकता बन कर उभरती है। स्वतंत्रता के पश्चात् आदर्शों का मुलम्मा हट गया, एवं आजादी की वास्तविकता सामने आई।

स्वतंत्रता के पश्चात् यदि किसी की सामाजिक–आर्थिक स्थिति सुधरी तो वह था पूंजीपति, उद्योगपति एवं शासक वर्ग। देश में अमीर और अमीर हुए तथा गरीब और गरीब हुए। आजादी का जश्न तो सभी ने मनाया, परन्तु इस जश्न के खोखलेपन को कईयों ने महसूस किया। "तिरंगों की छाया में शुभ्रवसना नगरी मुस्कुरा उठी। दीपमालाओं से अँधेरे–खामोश आँगनों की सीमाएँ भी जगमगा उठीं। आज आजादी का त्योहार था। कोटि–कोटि जन उल्लास में झूमते हुए राजमार्ग पर बिखर गए। घर–बाहर सजे, बाजार सजे और सज गईं रूप की वे दुकानें, जहाँ रूप रोज–रोज

इस्तेमाल होकर बासी और श्रीहीन हो जाता है।"[25] देश की आजादी का जश्न मनाने का प्रयास हर तबका कर रहा था। इनमें वे लोग भी शामिल थे, जिनके जीवन में कहीं कोई फर्क नहीं आने वाला था। कोठेवाली शम्मोजान भी अपने कोठे को सजाने का निर्देश देती है, "जिन कोठों पर बैठकर वह राहगीरों को निमंत्रण दिया करती है, उन्हीं पर आज तिरंगी झंडियाँ लगाई जाएँगी।"[26] शम्मोजान से जब मुन्नीजान इस सजावट की वजह जानना चाहती है तो, "शम्मोजान ने सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा, "मुन्नी कहते हैं, आज लोगों को आजादी मिल रही है, जुलूस निकल रहे हैं, जलसे हो रहे हैं।"

मुन्नी ने अपनी कसी और तंग कमीज में से ज़रा लंबी साँस लेकर कहा, "क्या कहा, आजादी? लोगों को आज मिल रही है आज़ादी! आज़ादी तो हमारे पास है। हम–सा आज़ाद कौन होगा, शम्मोजान?" और हा–हा अट्टहास कर गुलाबी रंग से लिपी–पुती नारी देह लट्ठे की मैली चादर पर फैल गई।"[27] मुन्नीजान के इस कथन में एक गूढ़ व्यंग्यार्थ छिपा हुआ है। पहला तो यह कि कोई भी शासन आए या जाए, वेश्याओं की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता, दूसरा यह है कि भारतीय समाज में वेश्या को ही स्वतंत्र नारी माना गया है। अन्य किसी भी स्त्री के लिए जन्म के पश्चात्, पिता, विवाह के पश्चात पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र के अधीनस्थ रहने के निर्देश स्मृतिकारों ने दिए हैं। लेकिन वेश्या, एक ऐसी नारी होती है, जिसे किसी भी कार्य के लिए, किसी की आज्ञा की आवश्यकता नहीं होती है। अतः शम्मोजान की आज़ादी सिर्फ देश की आज़ादी से ही नहीं जुड़ी है, वरन नारी की आज़ादी के प्रश्न को भी उठाती है।

'ज़िंदगीनामा' में कृष्णा सोबती ने विभाजन के कारणों को जानने का प्रयास किया है। उपन्यास स्वाधीनता के पूर्व की पृष्ठभूमि पर है तथा प्रथम विश्वयुद्ध की आहटों का भी इसमें प्रतिबिंबन हुआ है। डेरे जट्टा गाँव के मस्त, बेधड़क लोगों के

दिलों में धीरे–धीरे ब्रिटिश हुकूमत के प्रति नफरत और बगावत का ज़ज्बा भी विकसित होने लगता है। जिसकी चिंगारियाँ मजलिस के वार्तालाप में भी दिखने लगती है। यहाँ तक कि उनके लोकगीतों और किस्से–तमाशों में भी अंग्रेजी लूट और ब्रिटिश सरकार के प्रति रोष और आक्रोश व्यंजित होता है। डोडा और कोका मिरासी 'चलियाँवाला कत्लगढ़ का किस्सा सुनाते हैं– "उसी मनहूस मैदान में पंजाब की कोहेनूरी कलगी खो गई। चढ़ गया हीरा मलका के मत्थ। सारे हिन्दोस्तान पर पड़ गई अंग्रेज़ राज की छत"[28] या फिर, "ओए, अंग्रेज बड़े लुटेरे। मुल्क अपने का सारा साह–सत्त खींच ले गये।"[29] अंग्रेजी शासन के विरुद्ध बागी आक्रोश और विदेशी सत्ता से आज़ादी की ललक को उपन्यास में जगह–जगह पर प्रतिध्वनित किया गया है। 1905 ई. में हुए बंगाल विभाजन तथा उससे उपजे असंतोष को भी उपन्यास में जगह–जगह प्रतिबिंबित किया गया है।

कृष्णा सोबती की रचनाओं में देश–विभाजन और उससे उत्पन्न असंतोष एवं विसंगतियों का जितना यथार्थपरक चित्रण हुआ है, इसकी एक वजह यह है कि विभाजन को उन्होंने नजदीक से देखा और भुगता है। विभाजन के विषय में कृष्णाजी का कहना है कि "मेरी पीढ़ी के लेखकों के लिए वह किसी ऐतिहासिक घटना के बजाय जीवंत ज्यादा है। यह एक तरह से व्यक्ति तथा यथार्थ के बीच मुठभेड़ और राजनीतिक एजेंडा एवं विविधता की लम्बी परम्परा के बीच टकराव का एक विशाल अनुभव बन गया। दोनों ही तरफ के लेखकों ने महसूस किया कि इतनी नफरत, हिंसा और हत्याओं के बाद मानवीय मूल्यों को मज़बूत और बहाल किया जाना चाहिए।"[30] देश–विभाजन का यथार्थपरक चित्रण कृष्णा सोबती की रचनाओं में हुआ है।

(ख) साँझी संस्कृति का स्वरूप

कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य जीवन के व्यापक फलक के विविध स्तरों को छूता है। दफ्तरी जीवन के यथार्थ से लेकर पारिवारिक संबंधों के यथार्थ तक एवं शहरी जीवन–संस्कृति से लेकर लोकजीवन तक, इन सभी बिन्दुओं को कृष्णा सोबती की रचना दृष्टि समान रूप से छूती है। पंजाब का लोकजीवन और संस्कृति यदि कृष्णा सोबती की कलम से अपनी संपूर्णता में उभरा है तो उसकी एक वजह है लोकसंस्कृति के एक व्यापक पक्ष 'साँझी संस्कृति' का उद्दाम एवं जीवंत चित्रण। स्वाधीनता पूर्व के अविभाज्य पंजाब की साँझी संस्कृति का जीवंत रूप उभर कर आया है 'जिंदगीनामा' में। गुजरात के डेरा जट्ट गाँव की सुबह आती है मसीत में अज़ान से और मुर्गे की बाँग से। गाँव में हिन्दू, सिक्ख व मुसलमान, तीनों ही संप्रदायों के लोग पारस्परिक मेल–मिलाप से रहते हैं। एक–दूसरे का साथ सभी तीज–त्योहारों पर देते हैं। शाहनी की गोद जब हरी नहीं होती, तो वह बाबा फरीद के दरबार में हाजिरी लगाने जाती है। रास्ते में वह हाकमा बीबी के घर रूकती है, जो गाँव के रिश्ते से उसकी बहन लगती है। न सिर्फ वे हाकमा के यहाँ खाती–पीती हैं, बल्कि हाकमा की जच्चगी भी निपटा कर आगे बढ़ती है। "शाहनी ने अडोल जरा सा पट्ट खोला और बाहर खड़े गुलाम रसूल से कहा– "मुबारकें, गुलाम रसूलजी, खैरों से अंदर शाहज़ादा आन पहुँचा है।"[31]

गाँव में आने वाले थानेदार सलामत अली और शाहजी के बीच पारिवारिक संबंध हैं। शाहनी और सलामतअली की बीवी, दोनों का मायका आलमगढ़ ही है। इसीलिए जब सलामत अली को शाहनी हवेली में बुलाती है, तो वह कह उठता है, "थोड़ी देर को माफ़ी शाह साहिब! शाहनीजी को हमशीरा समझूँ या साली साहबा, दोनों रिश्तों से बुलावे का टालना सलामत अली के हक में अच्छा नहीं! अपनी हाजिरी जरूरी है!"[32] शाहनी थानेदार की बीवी के लिए उपहार भी निकालती है, "शाहनी ने

झोली में से दो–चार पोटलियाँ निकालीं। आगे करके कहा– "लो जी, यह संदेसा मेरी बहनू के लिए।"[33] गाँव में ईद और दशहरे का बराबर उत्साह पाया जाता है, "ईद और दशहरे की तिथियाँ अग्गड़–पिच्छड़ निकलीं तो छोटे–बड़े टियरों में हुलास उमड़ने लगा। कोरे कपड़े दरजी–दरजनों के हाथों में खड़कने लगे।"[34] बैसाखी के अवसर पर शाहजी के यहाँ जो दावत होती है, उसमें हिन्दू एवं मुस्लिम सभी शिरकत करते हैं। यहाँ धर्म के आधार पर कोई विभाजन कर आतिथ्य नहीं किया जाता, – "मेहनत मस्तानड़े जट्टों के जुट्ट–के–जुट्ट शाहों के घर आन पहुँचे तो सजरी लिपाईवाला आँगन लश–लश करने लगा। हाथ–पाँववाले मर्द जनों के वजूद ऐसे चमकें–लिशकें ज्यों कुम्हार के तपे बर्तन।

...तन्दूर के पास मीठी गंध फैलाते चावलों के देगबरे, खांड–शक्कर के घड़े और घी के कुज्जे–कुप्पे। आँगन में फैली मिट्टी की कुनालियाँ ऐसी दीखें ज्यों धड़कती जिन्दगानियाँ साध–सद्धरों की आस लगाए बैठी हों।"[35] हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही एक–दूसरे के घर आते–जाते हैं, त्योहारों में शिरकत करते हैं। शाहजी अपने सभी आसामियों का बराबर ध्यान रखते हैं, "काशीशाह ने हाथवाली बही की डोरी बाँधी और भाई को याद दिलाया– "महरम खाँ वाले पराच्छे के घर जाना है आपको अगले जुम्मे। लड़के की सुन्नते हैं। ....बड़े शाह पर बड़प्पन छा गया, "काशीराम, सगुण–भाजी सगुण नवाब के साथ। एक मानी बास्मती और एक मन खाँड भिजवा देना। नवाब के हाथ। बड़ी सहक–इन्तजारों के बाद उनके घर पुत्तर की शीरनी बँटी है।"[36]

साँझी संस्कृति का व्यापक परिदृश्य लोकगीतों, लोककथाओं के अलावा उस लोकविश्वास को भी समाहित किए हुए है, जिसमें ईश्वर की एकरूपता को स्वीकृति मिली है। लखनदाता सखी–सरवर का दरबार एक ऐसा ही धर्मस्थल है जहाँ हिन्दू, मुस्लिम तथा सिक्ख, इन तीनों ही संप्रदायों के लोगों के पूजास्थल मौजूद हैं– "बहुत

बड़ी जियारतगाह है! एक तरफ ग़रीबनवाज सरवरशाह का थान। दूसरी तरफ बाबा नानक का। बादशाहो, सखी–सरवर साहिबजी की वालिदा माई आयशा का चरखा–पीढ़ी देखकर आँखों को ठंढ पड़ जाती है। लो, और सुनो। पास ही एक ठाकुरद्वारा है। एक तरफ अपने भैरों का मन्दिर है।"

काशीशाह ने सिर हिलाया– "अपनी आँखों से न देखा हो तो बन्दा यकीन करे। साबित हुआ कि ये तकसीमें–फिरकेदारियाँ तो बाद की बातें हैं। मनुक्ख ने खुद बनाई है। रब्ब–रसूल और कर्त्ता–कारणहार सब एक ही है।"

कर्मइलाहीजी को कुछ सूझ गया – बादशाहो! इधर पंजपीर, उधर पंज पांडव! इधर पंज औलिया, उधर पंज प्यारें!"[37]

रीति–रिवाज एवं लोकविश्वास में से कई ऐसे हैं जो हिन्दुओं एवं मुस्लिमों में समान रूप से पाए जाते हैं। कई बार धर्मांतरण के बावजूद भी नये धर्मावलंबी पुरानी धार्मिक परंपराओं से स्वयं को विलग नहीं कर पाते। चाची महरी धर्मांतरण करने वाले गक्खड़ों के रीति–रिवाजों से स्वयं के रीति–रिवाजों की साम्यता बिठाती है, –"गक्खड़ों ने भी दीन कबूल कर लिया, पर ब्याह–शादी में वही, हमारेवाले लाँवा–फेरे और ख़ारा बिठाई। और सुन, इनके ढंग–कारजों में काजी–ब्राह्मण दोनों मौजूद रहते हैं। सुन्नत मुसलमानी को छोड़कर वही झंड–मुंडन, तम्बोल–माइयाँ, वही वरना–न्योंदरा, वही जंज, वही सेहरे सरबाले।"[38]

साँझी संस्कृति की तस्वीर को अधिक प्रभावी बनाने का कार्य करते हैं, गाँव में शाम के समय की चौपाल में उठने वाले किस्से–कोताहे। ये किस्से संस्कृति की समन्वयता के बिन्दुओं को इतिहास तक खींच ले जाते हैं। अफ़गानों और सिक्खों के मध्य हुए युद्ध की चर्चा, जब एक शाम की बैठक की चर्चा का विषय बनती है, तब हिन्दू और मुस्लिम, दोनों ही धर्मावलंबी अपने–अपने शासकों की तरफदारी करने लगते हैं। मुंशी इल्मदीद कहते हैं, "कुछ भी कहें, शाह दुर्रानी बड़ा जबरजंग शहंशाह

हो गुजरा है। बादशाहों, एक बार अब्दाली शाह हिन्दोस्तान को डरा–धमका कन्धार को लौटने लगा तो दरिया चनाब में कांगें आ गईं। हज़ारों घोड़े–सिपाही बीच धार के बह गए!

गुरूदत्तसिंह के साफ़े पर कोई खुमार चढ़ गया– "हिसाब–किताब तो मुंशीजी, एक दिन पूरा होना ही था। दुर्रानी शाह ने ख़ालसों का बीज नष्ट करने की क़सम खाई थी, पर लौटती बेला अफ़गान–पठान यहीं काम आ गए। आख़िर को दरिया पीर ख़्वाज़ा–ख़िज़र ने भी तो सुननी थी अपने मुरीदों की!"

....मुंशीजी उबल पड़े– "अव्वल तो दुर्रानी शाह बड़ा ज़हीन था, दोयम सिक्खों को उसने सिर्फ़ डाकाज़नी के लिए ललकारा था।" गुरूदत्तसिंह का माथा भखने लगा – "तुम्हारा इल्म कच्चा है। आखिर तो जिन्होंने हरमिन्दर साहिब की बेअदबी करने की हिमाकत की, उनकी गर्दनों के ढेर भी काबुल–कन्धार तक लग गए न! अब्दाली के खजाने ने सिक्ख मुंडी का दाम लगाया था एक पाँजा, वही खालसा सरकार ने सगुणों के पाँच रूपये लगा दिए ब्लोच पठान की गर्दन पर। खैरों से फिर बावटा लहराया शेरे–पंजाब का अटकों पार!

सवा लाख की एक गिनाऊँ

चिड़ियाँ कोलो बाज मखाऊँ

तभी गोबिन्दसिंह नाम धरवाऊँ।"[39]

हिन्दू तथा मुसलमान जब बहस को धार्मिक उन्माद का रंग देने लगते हैं, तब शाहजी न केवल बीच–बचाव करते हैं, बल्कि सांस्कृतिक समन्वय के इतिहास को भी प्रस्तुत करते हैं। शाहजी कहते हैं, "बस ओए बस, तुम दोनों कमले तो नहीं हो गए। शुक्र–शुक्र सुख का साँस आया, तुम पुरानी मार–काटें दोहराने लगे।"[40]

शाहजी आगे कहते हैं, "महाराजा रणजीतसिंह के वजीरों के नाम तो सुने होंगे। खलीफा नूरूलुद्दीन, फ़कीर अजीजुद्दीन और ऐसे ही बेहिसाब अमीर–उमरा और सरदार–जागीरदार।"[41] शाहजी का साथ गाँव के अन्य लोग भी देते हैं। मौलादादजी कहते हैं,– "सच पूछो शाहजी, तो हिन्दुओं का काम ही हुआ अक्लों से बातों को खोदना–खरोचना! हुकुमतें–वज़ारतें इन्हीं तरकीबों से चलती हैं!"[42] इस प्रकार से तर्क–वितर्क की एक शृंखला को सांप्रदायिक रंग लेने से रोक दिया जाता है।

पारस्परिक प्रेम और सौहार्द की जो लौ पीर–फकीरों ने जलाई थी, वह गाँव में आज भी जलती है। गाँव के लोग बराबर उन पंक्तियों को याद करते हैं, गाते हैं, जिनमें आपसी भाईचारे का संदेश है–

"हिन्दु न नाहीं मुसलमान

बैठिए त्रिंजन तज अभिमान

सुन्नी न नाहीं हम शिया

सुलह कुल का मार्ग लिया

....बुल्लेशाह शाहू हर चित्र लागे

हिन्दू तुर्क दोनों जन त्यागे।"[43]

सांप्रदायिक सौहार्द्र का प्रयास शाहजी के यहाँ बराबर दिखता है। जब लालीशाह आठ का पहाड़ा दोहराता है उसमें खोजों के लिए कुछ अपशब्द मिलते हैं–

"आठ ठग औ आठ सुनार

आठ सुनार औ आठ लुहार

आठ चौका बत्तरी

एक पगला जया खत्री

खत्री तोड़ बनाया खोजा

ज्यों बालों का गन्दा बरोजा

खोजा सो ससुरे का ससुरा

खोजा शहद लपेटा मौहरा!"

नीचे से काशीशाह अपने पहुँचे। त्योड़ियाँ चढ़ाकर कहा– "लाली पुत्र! यह क्या सुन रहा हूँ!

लाली ने मुस्तैदी से चाचा साहिब के पाँव छुए और खड़े होकर कहाः

अव्वल अल्लाह नूर उपाया

कुदरत के सब बन्दे

एक नूर से सब जग उपजा

कौन भले कौन मन्दे!"[44]

उपरोक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि पारस्परिक विद्वेष या धार्मिक उन्माद की आशंका को जड़ से निर्मूल करने का प्रयास कृष्णा सोबती के हिन्दू और मुसलमान पात्र करते हैं।

समन्वय और सहयोग की जिस साँझी संस्कृति को कृष्णा सोबती अपनी रचनाओं में प्रतिबिंबित करती हैं, वस्तुतः वह भारतीय संस्कृति के व्यापक फलक का ही एक पक्ष है। भारतीय संस्कृति, जैसा कि हम जानते हैं, विश्व की सर्वाधिक प्राचीन संस्कृतियों में से एक है। आज तक इसके प्राणवान बने रहने के कारणों का विवेचन किया है श्यामाचरण दुबे ने। उनके अनुसार, "समन्वय और सहयोग भारतीय समाज और संस्कृति की संरचना और विकास के प्रमुख आधार रहे हैं। 5000 वर्ष से

अधिक पुरानी इस सभ्यता के निर्माण में अनेक प्रजातियों का योग रहा है जो इस देश की धरती पर प्रवासियों के रूप में आयीं और निवासी बनकर यहाँ की ही हो गईं। धीरे–धीरे उनमें से अनेक एक–दूसरे में घुल–मिल गयीं। कई ने अपने जातीय चिह्नों को बनाये रखकर भी शेष समाज से सावयवी संबंध विकसित किये। आरंभिक संघर्ष के बाद उनमें सद्भाव और सहायोग की भावना विकसित हुई, सांस्कृतिक आदान–प्रदान का आरंभ हुआ और धीरे–धीरे एक ऐसी सामासिक संस्कृति ने आकार लिया जिसमें इन सभी प्रजातीय तत्त्वों की जीवन–दृष्टियों, मूल्यों, प्रथाओं और सामाजिक गठन के स्वरूपों का समन्वय था।"[45]

देश–विभाजन से पूर्व मौजूद साँझी संस्कृति का व्यापक एवं गहन चित्रण कृष्णा सोबती की रचनाधर्मिता की विशेषता है। संस्कृति की अविभाज्यता को सोबती ने न केवल देखा है, बल्कि महसूस भी किया है, "...मैं अपने अंदर एक ख़ास तरह की समृद्धि महसूस करती हूँ जो कि हमारी साझा विरासत का हिस्सा है। नानक, बाबा फरीद, अमीर खुसरो, जायसी, बुल्लेशाह, वारिसशाह, शाह लतीफ– क्या हम इन कवियों को हमारे तुम्हारे में बाँट सकते हैं? इसमें शक नहीं है कि हमने धरती का बँटवारा कर लिया है, लेकिन परम्परा, संगीत, कला और साहित्य भौगोलिक क्षेत्र नहीं हैं– वे अभिवाजित रहे ओर अविभाजित रहते हैं।"[46]

'दिलोदानिश' में पुरानी दिल्ली की बेधड़क, रंगीन संस्कृति एवं जीवन–शैली उभर कर सामने आई है। यहाँ हिन्दू एवं मुस्लिम दोनों संप्रदाय के लोगों के रहन–सहन, खान–पान एवं उठने–बैठने में एक तरह का साँझापन है, जो उन्हें एक–दूसरे से जोड़े रखता है। वकील कृपानारायण की रखैल महकबानो और उसके दोनों बच्चे हिन्दू एवं मुस्लिम दोनों ही संस्कृतियो के संपर्क में आते हैं, इसलिए वे न तो पूरी तरह से हिन्दू हैं, न ही मुस्लिम। महक की बेटी मासूमा की शादी, वकीलसाहब के ही दूर की रिश्तेदारी में होती है। विवाह के सारे रीति–रिवाज हिन्दू

विधि से होते हैं। यही नहीं, महक विवाह के दिन भूखी रहती है, –"दस्तूर के मुताबिक हमें तो आज बरती रहना है बेटे। मासूम की माँ हैं हम।....."[47]

संस्कृति के साँझेपन का एक अन्य माध्यम है भाषा। जब दो भिन्न संस्कृतियों का आमना–सामना होता है, तो दोनों एक–दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण करती हैं, तथा एक–दूसरे पर अपना प्रभाव भी छोड़ती हैं। किसी भी संस्कृति के प्रवाहमान बने रहने में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। कृष्णा सोबती के यहाँ भाषा के साँझेपन का अहसास कई स्तरों पर होता है। 'दिलोदानिश' में हिन्दी और उर्दू की नजदीकियाँ अचंभित कर देने वाली हैं। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक चरण की पुरानी दिल्ली में हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृतियों में जो करीबीपन था, उसका एक प्रमुख तत्व भाषा है। हिन्दू और उर्दू दो सगी बहनों की तरह प्रतीत होती हैं– "जमुनाजी के किनारे से लगी–बँधी इस शहर की हस्ती ने सदियों तलक जाने किस–किस को अपनी ओर बुलाया, खींचा और औलाद समझकर अपनी मिट्टी और पानी से सींचा। ख़ुदा करे दिल्ली कभी वीरान न हो! अपने कमाल और कलाम में सरसब्ज बनी रहे! दिल्ली वालों के दीदा और दिल इन्हीं गलियों में चहलकदमी करते रहें। दिल्ली–दरीबे की भीड़ में अपने को भी ढूंढ लेने को किस दिल्लीवाले का दिल न मचलेगा। नुक्कड़ के रसिया बनारसी के हलक में घुल जानेवाले पान के लिए किसका दिल न तरसेगा! जियो प्यारे, जियो! तुम्हारे साथ–साथ हर घर के पानदान भी तरों–ताजा बनें रहें और तुम्हारी गिलौरियों के दाम बढ़ते रहे। इस दिलफ़रेब दिल्ली को छोड़कर हम कहाँ जा रहे हैं– इस लज्ज़त और जीने के लुत्फ़ को छोड़कर।"[48]

देश विभाजन के दौरान संस्कृति शब्द के दुरूपयोग को रेखांकित करते हुए कृष्णा जी कहती हैं – विभाजन के इतिहासों में संस्कृति एक ऐसा शब्द है जिसका दुरूपयोग लगातार और निर्दयतापूर्वक किया गया। विभाजन से पहले जिस तरह की जीवन–शैली मौजूद थी, उसे मैं मात्र 'सेक्युलर' से अभिव्यक्त नहीं करना चाहूँगी।

उस साँझा संस्कृति के ताने–बाने इतने मजबूत और सघन थे कि एक स्मृति के रूप में नहीं बल्कि अन्दरूनी शक्ति के स्रोत के रूप में आज भी शेष हैं।"[49] इस साँझी संस्कृति में राजनीति का कोई स्थान नहीं था,– "राजनीतिक रंगत के बावजूद लोग मिल–जुलकर रहते थे। हर कोई दूसरे के 'दूसरेपन' का सम्मान करता था। दोनों ही उस सूत्र को लेकर आश्वस्त थे जो उन्हें जोड़ता था। यह सूत्र एक भाषा, बोली और जीवन शैली का था और धार्मिक पहचान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं लगा।"[50] साँझी संस्कृति का व्यापक परिदृश्य, कृष्णा सोबती की रचनाधर्मिता की विशिष्टता है।

(ग) लोक परंपरा का चित्रण

समाज की जड़ें अतीत में स्थित होती हैं, वह वर्तमान में साँस लेता है, तथा भविष्य के प्रति प्रश्नानुकूलता का भाव रखता है। परंपराएँ, किसी भी समाज के लिए उस सेतु का काम करती हैं, जो अतीत को वर्तमान एवं वर्तमान को भविष्य से जोड़ता है। परंपराएँ, सामाजिक जीवन की निरंतरता को प्रवाहमान बनाती हैं, तथा उसके स्वरूप को निश्चित आकार देती हैं। परंपराएँ, प्रत्येक समाज तथा उसके समुदायों और समूहों की आत्म–छवि का अनिवार्य अंग होती हैं, तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में उनकी दिशा को संचालित करती हैं। परंपराएँ केवल प्रतीकात्मक नहीं होती, वरन कई महत्वपूर्ण प्रकार्यों से जुड़ी होती हैं। वे सामाजिक संगठनों के लिए आस्था का आधार बनती हैं जिससे जीवन के लक्ष्य एवं मूल्य निर्देशित होते हैं, तथा इस प्रकार समाज में समाकलन को बढ़ावा देती हैं। विश्व में कोई भी समाज ऐसा नहीं है, जो परंपरामुक्त हो।

परंपराओं का तीव्र गति से विश्रृंखलन समाज की जातीय अस्मिता के ह्रास का सूचक होता है। आधुनिक युग में विज्ञान और तकनीकी के प्रसार ने सामाजिक ढाँचे को गहरे तक प्रभावित किया है। परन्तु जड़ों की तलाश, समाज को पुनः परंपराओं की ओर ले जाती है। आधुनिकता का प्रवाह भी समाज को पूरी तरह परंपरामुक्त

करने में असफल होता है। परंपरा का कुछ अंश समाज में हमेशा जीवित रहता है तथा अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा के लिए समाज परंपरा के उन हिस्सों को संशोधित करता है, जो रूढ़ एवं जड़बद्ध हैं।

सामाजिक क्रांति भी समाज को परंपरा से अलग करने का प्रयास नहीं करती। सांस्कृतिक धरोहर की सुरक्षा का प्रश्न सामाजिक क्रांति के दौर में भी महत्त्वपूर्ण बना रहता है। उदाहरण के लिए, सोवियत क्रांति ने सामाजिक व्यवस्था के आमूल ढाँचे में परिवर्तन किया, पर लेनिन की सांस्कृतिक नीति ने देश की विभिन्न संस्कृतियों की विशिष्टताओं को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। लेनिन ने विभिन्न संस्कृतियों के सह–अस्तित्व को संभव बनाने का प्रयास किया, साथ ही परंपराओं के नये मानदण्ड निर्धारित किए। चीन में भी 'सांस्कृतिक क्रांति' की चर्चा हुई, परन्तु कुछ समय बाद परंपरा की पुनर्प्रतिष्ठा के प्रयास तीव्र हुए। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् विकासशील देशों में नियोजित विकास और आधुनिकीकरण का मार्ग अपनाया, परन्तु दो दशकों के भीतर ही अनेक जातीय आंदोलनों का जन्म हुआ, जिनकी गति और निर्देश ने सामाजिक ढाँचे को प्रभावित किया। यही वह समय था, जब चिंतकों एवं विश्लेषकों ने परंपरा और आधुनिकीकरण को दो विपरीत बिन्दु मानना बंद कर दिया। आज यह माना जा रहा है कि परंपरा और आधुनिकीकरण एक–दूसरे के पूरक हैं तथा एक को संरक्षित करने के लिए दूसरे को नष्ट करना आवश्यक नहीं है। परंपरा की सीमा रेखा विभिन्न स्थितियों और संदर्भों के अनुसार बढ़ती या धटती रहती है। लोक–परंपराएँ बदलते सामाजिक परिदृश्य के साथ अपना अनुकूलन भी करती हैं। परंपरा एवं उससे निर्देशित संस्कृति मनुष्य के सामूहिक अस्तित्व का अनिवार्य हिस्सा होती है। परंपरा से एकाएक अलगाव अस्तित्वहीनता की भावना को जन्म देता है। कई बार, जब विकास की प्रक्रिया को आवश्यक वेग एवं गति नहीं प्राप्त होती, तब परंपरा को इसके लिए उत्तरदायी मानकर उसे बदल डालने के प्रस्ताव रखे जाते हैं। लेकिन विकास की प्रक्रिया में मिली असफलता पुनः परंपरा की ओर लौटने को बाह्य

करती है। वर्तमान युग में भूमण्डलीकरण ने जहाँ एक तरफ सांस्कृतिक विभिन्नताओं को कम करने का प्रस्ताव रखा है, वहीं दूसरी तरफ परंपरा का आग्रह भी बढ़ा है।

परंपराएँ हमेशा रूढ़ या जड़ नहीं होतीं, वरन उनका चुनाव जीवन के बदलते संदर्भों और युगीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर समाज द्वारा किया जाता है। सामाजिक विकास या ह्रास से परंपराएँ संपृक्त होती हैं तथा उनके स्वरूप भी प्रभावित होते हैं। परंपराएँ अपना मूल्यांकन स्वयं कर बदलते परिवेश के साथ स्वयं को भी अनुकूलित कर लेती हैं। परंपराओं में इतिहास एवं मिथक का सही सम्मिश्रण होता है। सामाजिक प्रक्रियाएँ परंपरा द्वारा निर्देशित एवं नियंत्रित होती हैं। बाह्य दबाव से जब परंपराओं के स्वरूप में परिवर्तन होता है तब उसके विपरीत प्रतिक्रिया भी होती है। परंपराओं की रक्षा का प्रश्न तब जातीय–अस्मिता की रक्षा के प्रश्न से जुड़ जाता है। परंपरा जब रूढ़ एवं जड़ बन जाती है, तब वह समाज की स्वाभाविक गतिशीलता को मंद करती है।

भारतीय परंपरा को जहाँ एक तरफ वेद, पुराण और शास्त्रों से जुड़ा हुआ मानते हैं, वहीं दूसरी तरफ उसके अंतर्गत लोक–परंपरा के समायोजन को भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। भारतीय समाज के उद्‌विकास की प्रक्रिया कभी अवरूद्ध नहीं हुई तथा समय–समय पर मिलने वाली चुनौतियों के प्रति उसकी दृष्टि आलोचनात्मक रही। भारतीय समाज ने जहाँ एक तरफ शास्त्रीय परंपराओं का सम्मान किया, वहीं दूसरी तरफ संशय, विरोध और विद्रोह की परंपराओं को भी विकसित होने दिया। लोक, मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।

लोक जिस सहज, सरल तथा अविरल परम्परा के प्रवाह में रहता है, वह लोक–परंपरा किसी भूक्षेत्र, किसी जाति, या काल–खंड तक ही सीमित नहीं है, वरन्

उसका विस्तार विश्व के प्रायः सभी समाजों तथा संस्कृतियों तक है। लोक–परंपरा केवल लोकजीवन को ही समझने या जानने का माध्यम नहीं है, बल्कि अपने युग के इतिहास को भी स्वयं में समेटे हुए रहती है। किसी भी समय के समाज के इतिहास–लेखन में लोक–परंपरा का महत्त्वपूर्ण योग होता है।

भारत के किसी भी समाज के जीवन को जानने में उस समाज की लोक परम्पराओं का ज्ञान अतिआवश्यक है। डॉ. श्यामसुंदर दुबे के अनुसार, "भारतीय इतिहास की प्रामाणिक तलाश लोक के आधार पर ही की जा सकती है। इतिहास को प्रस्तुत करने वाली लोक–परम्परा भारतीय इतिहास के चिरन्तन को विकासशील संदर्भ में प्रस्तुत करने वाली रही है। अतः इतिहास की यह लोक–परम्परा हमारे जातीय जीवन की समग्रता को पहचानने में एक नई दृष्टि देती है।"[51] कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में लोक–परंपरा की जिस तरह से अभिव्यक्ति हुई है, वह पंजाब के जन–जीवन के इतिहास को उसकी संपूर्णता में उकेरने में सहायक बना है।

भारतीय समाज की पहचान लोक की समग्रता में निहित है। भारतीय संस्कृति को प्राणशक्ति देने वाली लोक–चेतना ही है। अपनी बोली, रस्मो–रिवाज, त्योहार, गीत एवं अनुष्ठानों के माध्यम से ही लोक अपनी इयत्ता को बनाये रखता है। पंजाब के लोक जीवन की सांस्कृतिक झाँकी को अपने रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत कर कृष्णा सोबती ने पंजाब के सांस्कृतिक इतिहास को उकेरा है। 'जिन्दगीनामा' के शुरूआत में कृष्णा सोबती कहती हैं कि केवल ऐतिहासिक खातों में दर्ज दस्तावेज ही इतिहास नहीं वरन् इतिहास वह भी है जो लोकमानस की भागीरथी के साथ–साथ बहता है, पनपता और फैलता है और जन–सामान्य के सांस्कृतिक पुख्तापन में जिन्दा रहता है। उपन्यास की शुरूआत होती है शरद पूनम की रात से, जिसका पंजाब के लोकजीवन में अत्यंन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। गाँव के बुजुर्ग बड्डे लाला के यहाँ बच्चे जाते हैं शरद पुण्या का प्रसाद खाने व कहानी सुनने तो गाँव के बड़े भी शामिल हो

जाते हैं उनके साथ। लोक–कथाएँ, लोक–परम्परा का एक महत्वपूर्ण अंग होती है। बड्डे लाला लोक–कथा एवं इतिहास का सुंदर सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं। कहानी का मूल होता है सृष्टि की उत्पत्ति, "हर वन्दा अपने पिता का अवतार है। याद रखो। अवतार वह जिसके दो हाथ हैं। अवतार वह जिसके दो पाँव हैं। अवतार वह जिसका मुँह–माथा है। धड़ है। आगा है। पीछा है। मेरे बच्चो, अवतार वह जो धरती हल से जोतकर पानी से सींचता है। तृप्त करता है। बीज बोता है। फसलें उगाता है।

"आगे सुनो।

"सबसे पहला अवतार हुआ आदि पुरूष प्रजापति।

"प्रजापति आप ही नर था। आप ही नारी था।

"उसने आप ही अपने को दो हिस्सों में बाँटा।

"एक हिस्से से पैदा हुए बल्द। दूसरे से उत्पन्न हुई गऊ माता।"

"....फिर पैदा हुआ रूख। सृष्टि–रूख।"[52]

बड़े लाला द्वारा सुनायी गई सृष्टि की उत्पत्ति की यह कहानी वस्तुतः लोक और शास्त्र के मध्य की आवाजाही को विश्लेषित करता है। डॉ. जया परांजये के अनुसार, "...हमारे यहाँ लोक और शास्त्र में निरंतर संवाद की स्थिति भी रही है। जो शास्त्रीय है वह कभी कालांतर में लोक प्रचलित बन जाता है तो कभी जो लोक है वही रूप बदल कर शास्त्र में स्थान पा जाता है। जब शास्त्रीय शक्ति कमजोर पड़ जाती है तब अस्तित्व की रक्षा हेतु 'लोक' से जीवनदायिनी शक्ति प्राप्त की जाती है तभी तो धर्मशास्त्र में ही लोकधर्म, लोकाचार, लोकमर्यादा का महत्व माना गया है।"[53]

लोकजीवन में तीज–त्योहारों का विशेष महत्व होता है। यही वह समय होता है जब लोग अपने दुःखों को कुछ समय के लिए भूल कर जीवन का आनंद उठाने का प्रयास करते हैं। 'त्रिंजन' एक ऐसा ही अवसर है, जिस पर गाँव की औरतें,

लड़कियाँ इकट्ठी होकर शाहनी के यहाँ चरखे पर सूत कातती हैं। सूत के साथ–साथ ही चलता रहता है हीर, घोड़ी और ठुमरी ठप्पे–

"डोली चढ्दया मारियाँ हीर चीकाँ"
मैनू लै चल बाबला लै चलो वे
मैनू रखलै बाबला हीर आरवे
डोली छत्त कहार नी लै चल वे।
साडा बोलना–चालना माफ करना
"पंज रोज़ तेरे घर रहे चले वे।"[54]

कृषक जीवन के अनेक त्योहार कृषि से संबंधित होते हैं। लोहड़ी एक ऐसा ही त्योहार है जिसमें नये अन्न का स्वागत किया जाता है। सारा गाँव जुटता है लोहड़ी की रात पर, "खुले आँगन में उपलों कें ऊँचे ढेर पर लकड़ियों के अम्बार सजने लगे। पहले मुंड, फिर कीकर–बेरी के गट्ठर। ऊपर कपास की सूखी मनछिट्टी।

खुशियोंवाले घरों से चंगेरें आने लगीं। मक्का के फूल। गुड़ की भेलियाँ। रेवड़ियाँ। चावल–तिल की त्रिचौली। कच्ची लस्सी के गड्डवे और मूलियों–भरी पच्छियाँ।"[55]

लोक जीवन को गति देने में बैसाखी, दीवाली एवं ईद जैसे त्योहारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बैसाखी के अवसर पर शाहजी पूरे गाँव को दावत देते हैं। ढोलों की गूँज के साथ ही शुरू होता है सामूहिक भोज, जिसमें सारे गाँव की शिरकत होती है और खाण्ड–चावल खिलाया जाता है। ईद के अवसर पर सेवईयाँ बाँटी जाती हैं तो नवरात्र के अवसर पर घर–घर में जौ और कनक की खेती बोई जाती हैं। "घर–घर गेहूँ की बालियाँ थम्मों पर सज गईं। मौली के लाल डोरे से बँधे अन्न महाराजा के सिट्टे ऐसे सजे कि देख–देख मन–आँखों की भूख मिटे।

....पहला न्योंदरा। शाहनी ने लीप–पोत चौंका सुच्चा किया। आसन बिछा चौंकियाँ रखीं। हल्की आँच पर खीर का देगबरा चढ़ाया। कड़ाही में सूजी भुनने लगी।"[56]

जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कारों के लिए लोक में विभिन्न प्रकार के नियम और अनुष्ठान बने हुए हैं। लोक में प्रचलित विश्वास, लोक–उपादान तथा पंजाब की अलिखित, मौलिक परंपरा के माध्यम से लोक–जीवन के विभिन्न संस्कारों को कृष्णा सोबती ने बखूबी व्यक्त किया है। शाहजी के यहाँ पुत्र के जन्म पर बधाईयाँ बाँटी जाती हैं, घोड़ी गायी जाती है, –

"हरिया री माए हरिया री बहनो"
हरिया ओ भागी भरया
जिस दिहाड़े मेरा लाडला जम्मया
"सो ही दिहाड़ा भागी भईया"[57]

पुत्र–जन्म पर नाते–रिश्तेदारों एवं नौकरों–चाकरों को नेग बाँटी जाती है। साथ ही चलती रहती है नोंक–झोंक, अधिक से अधिक इनाम पाने की, "लड़के की फूफियों ने बादामोंवाले दूध का कटोरा थमाया तो बसरा बीबी भारों पर पड़ गई– मुरादों की इस सोहणी घड़ी खाली बादामों की दस गिरियों से न चलेगा। सहक–सहककर भतीजड़ा मिला है। धूम–धड़क्के से लो और टंकारों से दो। मैंने कहा की फूफियों, कोटिप्पकोटि जूनियों बाद कुल–पूत घरों में उतरते हैं। हाँ!"[58] शाहजी के पुत्र लालशाही की पहली दीवाली पर सारे गाँव में मिठाई बाँटी जाती है। पहली बार मदरसे जाते वक्त, भिक्षा लेने का रिवाज पंजाब के ग्रामों में चला आ रहा है,– "मदरसे बैठने से पहले काँछ में मरगान ले हाथ में भिच्छया का पात्र ले, शाहों का बेटा सात घरों से भिक्षा माँगने निकला तो जनानियाँ रल–मिल सगुणों के गीत गाने लगीं।"[59] लाली राबयाँ से भी भिक्षा माँगने के लिए कहता है, तब उसे बताया जाता है

कि लड़कियाँ भिक्षा नहीं माँगती क्योंकि वे सदा देती आई हैं, एवं लेना नहीं जानती हैं।

जीवन में विवाह एक महत्वपूर्ण संस्कार है। लोक जीवन में इस संस्कार का अनेक तरह से वर्णन मिलता है। कृष्णा सोबती के साहित्य में भी विवाह की तरह–तरह की रीतियों का अनुपालन होता है। लड़की का विवाह तय होने पर जहाँ सात सुहागिनें आकर उबटन लगाती हैं, वहीं अन्य स्त्रियाँ सुहाग गाती हैं, एवं रोती जाती हैं–

"आले दवाले मेरी गुड्डियाँ"
मैंनू नहीं खेलन दा चाव रे
मेरी सखी सहेली बाबुल बिछुड़ी
मेरे सासरे घर चाव रे
माँ रोती का आँचल भिज गया
मेरा बाप रोए दरिया रे
मेरा वीर रोवे सारा जग रोए
मेरी भाभियाँ दिल चाव रे।"[60]

बारातियों का आतिथ्य भी लोक–प्रचलित परंपराओं में से ही एक है। "बारात के लिए हुक्के भर दिए गए। मंजियों पर बाराती ऐसे पसरे ज्यो कोई शाही डेरा हो। कोई पैर दबवाए। कोई मुक्कियाँ मरवाए। कोर्ठ नाइयों से सिर की चम्पी करवाए।

...पंच सयानों ने आ–आकर बारातियों के आगे हाथ जोड़े महाराज, जो रूखी–सूखी तैयार है, उसे स्वीकार करें।

...पाँत खाने बैठी तो पंच चौधरी ऐसे आदर–मान से परताने लगें ज्यों उनकी बारात में देवता पधारे हों।"[61]

लोक–परंपराओं में से एक है मृत पितरों के लिए करवाया जाने वाला भोज। लोक–आस्था पितरों की मुक्ति के लिए यह भोज करवाने का आयोजन करती है, "ब्राह्मण अंतिम श्राद्ध खा–पुजा चुके तो जनानियाँ पानी के कलश उठाए पितरों को बिदा कराने चलीं। राह में पानी के छींटे तरौकती रहीं।

सतियोंवाले तालाब पर पहुँच हाथ जोड़े। सीस नवाया– पितरा देवो, अब बैकुण्ठों को प्रस्थान करो अपने मुंड परिवार से तृप्त हो स्वर्गलोक को पधारो। आपजी के थान–घर परिवार इसी तरह अपनी जगह स्थित सलामत रहें।

पितर बिदा हो गए।"[62]

लोक–परंपराएँ किसी समुदाय की संगठन शक्ति को मजबूत करती हैं, जिससे समाज में स्वीकृत पद्धतियों को स्थिरता प्राप्त हो। साथ ही ये सामाजिक विरोध का माध्यम भी बनती हैं। लोक–जीवन में प्रचलित आचार या व्यवहार की शैली को बनाये रखने में भी लोक–परंपरा का महत्वपूर्ण स्थान है। लोक परंपरा तथा आभिजात्य परंपरा में विभाजन रेखाएँ भले ही मौजूद हों किन्तु वे एक दूसरे के सर्वथा विपरीत नहीं हैं। इन दोनों में कुछ अंतःसूत्र ऐसे हैं, जो एक–दूसरे में अनिवार्य रूप से विद्यमान हैं। आधुनिक युग में महानगरों में रहने वाला व्यक्ति भी लोक–परंपरा से किसी न किसी प्रकार जुड़ा रहता है। इसी प्रकार गाँव में रहने वाला व्यक्ति भी वैज्ञानिकता एवं तकनीकी परिवर्तनों से अछूता नहीं रह सकता।

किसी क्षेत्र–विशेष की लोक–परंपराएँ केवल लोक–गीतों, लोकनृत्यों एवं वाद्यों तक ही सीमित नहीं होती, बल्कि उस क्षेत्र के निवासियों के रहन–सहन, खान–पान से लेकर हँसने–रोने तक फैली होती हैं। कृषक संस्कृति में मनोरंजन के लिए लोक–नृत्य एवं लोक–गीतों के साथ–साथ तमाशे एवं करतब भी आते हैं। नट–नटनियों के करतब भी लोक–परंपरा की जीवंतता को चित्रित करते हैं–

"बेरियोंवाले खू पर आन उतरा नट–कंजरों का डेरा। गधों पर लदी खटोलियाँ, छाज, लुग्गड़, बाँस, रस्से और ढोल। आगे–आगे नट, पीछे–पीछे नटनियाँ।

बच्चरों को गोद में लगाए थन चुँघाती सरू के पेड़–जैसी लंबी–पतली। घघरियाँ घुमाती पिंडलियाँ। लम्बे–काले झग्गे। पेट पर झूलती काली फिरोज झालर। मींडियों–गुँथे सिरों पर ओढ़नी की भूँभलें। नाक में चौड़ा लौंगड़ा।"[63] लोक–जीवन में इन तमाशे–करतबों से ही मनोरंजन का साध्य पूरा होता है, "बब्बर ने गले में एक तख्ती लटका ली। पंचमुखी कौड़ी ली और पाँवों में सींग बाँध लिए।

गब्बर ने रस्सियाँ बाँटकर डंडों पर कस दीं।

बब्बर ने पाँव के सींगों को रस्सी की खूँट में फँसाया। दोनों पैरों का वजन सही किया और पहला कदम उठा लिया :

'कसर रह गई'

कसर रह गई।

"वाह–वाह–वाह!" किसी ने खुश हो अपनी पाग उतार नट की ओर उछाल दी। किसी ने झग्गा उतार दिया। कोई दौड़–दौड़ घरों से दाने ले आया।

खूब लहराते लहँगे के घेर में फुंबी लहरका नाचने को आ खड़ी हुई।"[64]

विश्वास मनुष्य की अनिवार्य प्रवृत्तियों में से एक है। विश्वास करने का भी एक मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक आधार होता है। विश्वास मनोविज्ञान (Faith Psychology) के विशेषज्ञ यह मानते हैं कि प्रत्येक विश्वास, चाहे वह लोकविश्वास हो या फिर अंधविश्वास वे आधारहीन या तर्कहीन नहीं होते। वस्तुतः लोकविश्वासों का भी एक तर्क होता है, एक आधार होता है। जब तर्क या बुद्धि साथ नहीं देती, तब विश्वास ही किसी समस्या के समाधान का आधार बनता है।

मनुष्य के विचार तथा बुद्धि को प्रभावित करने में इस लोक–विश्वास का अत्यंत महत्वपूर्ण योग है। लोक–विश्वासों की विषय–वस्तु, एवं क्षेत्र असीम एवं अनंत हैं। लोकविश्वासों की उत्पत्ति आदिम जीवन के साथ ही मानी जा सकती है। आदिम मनुष्य जब जंगल में जीवन व्यतीत करता था, तब प्रतिपल प्रकृति, ऋतुओं एवं ज्ञात–अज्ञात शत्रुओं से डरता था। इनसे अपनी सुरक्षा कर सुख–शांति के साथ जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा ने जहाँ उसे प्रकृति एवं देवताओं की आराधना के लिए प्रेरित किया, वहीं दूसरी तरफ उसे अपनी रक्षा एवं सफलता के लिए लोकविश्वासों का सहारा लेने को तत्पर किया। विश्व की प्रायः सभी संस्कृतियों में लोकविश्वासों का प्रचलन है।

कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में लोक परंपरा के जो चित्र प्रस्तुत हुए हैं, उनमें लोकविश्वास भी अपनी संपूर्णता में उद्धृत होकर आए हैं। लोक–विश्वासों के अंतर्गत आने वाले भूत–प्रेत तथा उनसे बचने के टोने–टोटके का वर्णन भी सोबती के यहाँ मिलता है। 'जिंदगीनामा' में डेरा जट्ट गाँव के लड़के जब खेल रहे होते हैं, तभी उन्हें कुएँ से निकलकर अरूढ़ियों पर गायब होने वाला चिट्टे बालों वाला लड़का दिखता है। उसकी रूह एक बच्चे पर आती है, "पंघड़े पर सोए सुक्खनी के पुत्तर ने खाँस–खाँसकर, दूध फेंक दिया। हाथ का बरतन परे रख जातक को गोद में उठा लिया और पीठ मल–मलकर कहा– खुरे खाँसी, खुरे, हट, हट...."

...सुक्खनी ने छाती पर हाथ धर साँस देखा और धाड़ मार दी, "अरी बरन सासड़ी, मेरा लाल तो कोई न!"

साथवाले कोठे से बूढ़ी बडेरी जमालो उठ धाई और दहलीज के बाहर खड़ी हो गरजी:

काली चरी, चार चरी
काट–काट देही को खाए

पानी बहाए समुद्र का भूत
चुड़ैल भस्म हो जाए।
काली चरी चार चरी काट–काट
"हट–हट, दुरे–दुरे....."[65]

जमालो के टोटके का तुरंत असर होता है, और लड़का होश में आ जाता है। जमालो लड़के की सुरक्षा के लिए फिर मंत्र पढ़ती है–

"लाल घोड़ा
लाल जोड़ा
लाल कलगी
लाल निसान।"[66]

यही नहीं, वह आगे सुरक्षा के उपाय भी बताती जाती है, "बक्शवा दिया री, बक़्शवा दिया अपने लाड़ले को। इसकी खेसी के नीचे निम्बू धरेक के पत्ते और लोहा रख डालना।"[67]

लोकविश्वासों के अनुरूप प्रायः घटनाएँ घट जाती हैं। यह माना जाता है कि मन की सहज प्रवृत्ति और संकल्प ही लोकविश्वासों के घटित होने के पीछे कार्य करते हैं। "जिन्दगीनामा' में ऐसे प्रसंग कई बार आए हैं। माँ–बीबी का पति जो उसे छोड़कर किसी कंजरी के पास चला गया है, जब वापस लौटकर आता है तो शाहनी के यहाँ उसका स्वागत किया जाता है। शाहनी माँबीबी को पति के साथ निभाने की नसीहत देती है, "मिएँ के साथ चटाक–पटाक न करना। बिचारा किसी टूने से बँधा है।"[68] चाची महरी, माँबीबी के पति इलाहिया का टोना उतारने के लिए बेबे करभरी को बुलाती है। बेबे करमरी टोना उतारती है, "ऊपर आकर पानी की कनाली भरवाई और चाकू से पानी काट दिया:

ईची मीची कोको खाय
कंजरी भड़वी जहन्नुम जाय।
ईची मीची कोको खाय
कंजरी भड़वी जहन्नुम जाय।"[69]

'जिंदगीनामा' का ही एक प्रसंग है, जिसमें शाहनी को अपनी मृत सौत की छवि दिखाई देती है। "शाहनी तबेले से बाहर निकली तो सिर पर अभी भी टिम–टिम तारों की लौ थी। ...एकाएक शाहनी के पाँव ठिठक गए। साक्खयात अंबड़यालवाली। ब्याह का लाल सुब्बर, गोटे वाला जोड़ा और नाक में सोने का लौंगड़ा!

भय की फाँस शाहनी के कलेजे आ खुबी। आज इतने बरसों बाद– वाह गुरू... वाह गुरू...

शाहनी ने सिर झुकाया और हाथ जोड़ दिए– "पुरखिन, तुम जीने–मरने से परे शाहों के घर की मालकिन। मैं तो चेरी तुम्हारे हुक्म से। शाहनी ने छन–भर बाद आँख खोली तो पहले दीखी पीठ अंबड़याल वाली की, फिर बिना पैरों की परछाईं वह जा और वह जा!"[70]

यह अंबड़यालवाली शाहनी का भ्रम नहीं, बल्कि हकीकत है, क्योंकि वह शाहजी को भी दिखती है। शाहजी कहते हैं, "शाहनी, सोचा, तुम भरम करोगी– तुमसे कहा नहीं। पिछले पक्ख गौरजा मुझे भी सपने में आई।"[71] गौरजा का यूँ प्रकट होना इत्तिफाक नहीं, वरन वह शाहजी को किसी बात का स्मरण कराने आती है, "जब सपने में दिखती है बस यही–शाहजी, मेरा जातक कहाँ है! कुल वंश में कौन आगे, कौन पीछे! कहकर हँसती है और ओझल हो जाती है!"[72]

जब तक शाहजी बेऔलाद हैं, गौरजा कभी सपने में आती है, तो कभी शाहनी के सामने साक्षात प्रकट हो जाती है। लेकिन शाहनी के गर्भवती होने के बाद से गौरजा किसी को दिखाई नहीं देती है। लोक–परंपरा में व्याप्त अलौकिक शक्तियाँ पर

विश्वास को कृष्णा सोबती के यहाँ वाणी मिली है। कृष्णा सोबती, विश्वास और अंधविश्वास की बहस में नहीं पड़ती। लेकिन 'समय सरगम' में नौकर बहादुर पर आने वाले देवता को वे आरण्या की तर्कपूर्ण दृष्टि से खारिज कर देती हैं।

स्वप्नों से संबंधित भी अनेक लोक–विश्वास पाए जाते हैं, लोक–जीवन में स्वप्न का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। ऐसी धारणा है कि स्वप्न में देखी गई वस्तु अथवा दृश्य के आधार पर शुभ और अशुभ का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। स्वप्नों की यथार्थता पर लोगों का विश्वास अटूट होता है। 'जिंदगीनामा' में शाहनी, जो बेऔलाद है, लालीशाह के जन्म से पूर्व एक स्वप्न देखती है, "शाहनी को पहले तो दीखे दो मिनारे। जगमग–जगमग। फिर दिखा लौ से छिपा हुआ एक सुच्चा आँगन। अँगना में घुटनों चलता एक लहुड़ा बालक। उसके कानों में काली सीलम की फुम्मनियाँ। कमर में काली तड़ागी। ऋषिकुमार उतर आया हो कहीं से। ठुमक–ठुमक। यह क्या? कृष्ण कन्हाई के पैरों में जैसे कोई घुँघरू बजते हों! पीछे–पीछे गउओं का झुंड। काली गाय आँख के आगे आई ही थी कि शाहनी की नींद खुल गई।"[73]

लोक–विश्वास यह मानता है कि स्वप्न में रोना आंनद और हर्ष की प्राप्ति का सूचक है जबकि विवाह एवं उत्सव का देखना किसी दुःखद घटना सूचक है। 'डार से बिछुड़ी' में पाशो की दिवानजी की मृत्यु से पूर्व एक स्वप्न देखती है। पाशो स्वप्न में अपने विवाह का दृश्य देखती है, "साज–सिंगार से सज–बनी किसी ऊँचे चौबारे चढ़ झरोखे में से देखती हूँ। बाजे–गाजे के साथ दिवानजी मुझे ब्याहने आते हैं। चिट्टी घोड़ी पर सेहरे बाँधे दूल्हे को देख सखी सहेलियाँ ठिठोली करती हैं– क्यों री पाशो, अपने राजे की झलक तो ले....।' मैं लजाई–शरमाई अपने चूड़ेवाले हाथ आँखों पर रख लेती हूँ कि कहीं से मौसी की कड़ी आवाज सुन पड़ती है–

"मालन, उठ जल्दी कर, मुहूर्त टला जाता है।"

तावली से उठ खड़ी होती हूँ कि सहेलियाँ कहीं दीखती नहीं। झरोखे से नीचे झाँकती हूँ कि घोड़ी पर दिवानजी नहीं।

घबराई–सी मौसी को पुकराती हूँ। ठुड्डी पर हाथ रखे मौसी पास आ कहती है–

'अरी, तेरी बाँहों के चूड़े क्या हुए?

दिवानजी कहाँ हैं.....मेरे चूड़े कहाँ हैं....

शौदाई–सी बनी इधर–उधर देखती हूँ। कुछ न पा ऊँची–ऊँची रोने लगती हूँ! दिवानजी...दिवानजी....!"[74]

लोक–परंपरा के चित्रण द्वारा कृष्णा सोबती ने मानवीय मूल्यों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दोहराई है।

सन्दर्भ सूची

---

[1] कृष्णा सोबती, सिक्का बदल गया, बादलों के घेरे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 136

[2] वही, पृ. 136

[3] वही, पृ. 136

[4] वही, पृ. 138

[5] वही, पृ. 138

[6] वही, पृ. 140

[7] वही, पृ. 140

[8] कृष्णा सोबती, मेरी माँ कहाँ (बादलों के घेरे), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 185

[9] वही, पृ. 186

[10] वही, पृ. 187

[11] वही, पृ. 187

[12] वही, पृ. 189

[13] कृष्णा सोबती, डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा, (बादलों के घेरे), राजकमल प्रकाशन, 2007, नई दिल्ली, पृ. 115

[14] वही, पृ. 115

[15] वही, पृ. 116

[16] कृष्णा सोबती खम्माघणी अन्नदाता (बादलों के घरे), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 127

[17] वही, पृ. 126

[18] वही, पृ. 127

[19] वही, पृ. 129

[20] वही, पृ. 129

[21] वही, पृ. 130

[22] वही, पृ. 131

[23] वही, पृ. 132

[24] वही, पृ. 133

[25] कृष्णा सोबती, आज़ादी शम्मोजान की, (बादलों के घेरे) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 141

[26] वही, पृ. 142

[27] वही, पृ. 143

[28] कृष्णा सोबती, जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 189

[29] वही, पृ. 190

[30] कृष्णा सोबती, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन, प्र. सं. 2005, पृ. 121–122

[31] कृष्णा सोबती, जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 46

[32] कृष्णा सोबती, जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 189

[33] वही, पृ. 64–65

[34] वही, पृ. 65

[35] वही, पृ. 71

[36] वही, पृ. 93

[37] वही, पृ. 135

[38] वही, पृ. 198

[39] वही, पृ. 209–210

[40] वही, पृ. 210

[41] वही, पृ. 210

[42] वही, पृ. 210

[43] वही, पृ. 252

[44] वही, पृ. 382

[45] श्यामचरण दुबे, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि. सं. 2000, पृ. 141

[46] कृष्णा सोबती, शब्दों के अलोक में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2005, पृ. 122

[47] कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 221

[48] वही, पृ. 234–235

[49] कृष्णा सोबती, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं., 2005, पृ. 131

[50] वही, पृ. 131

[51] डॉ. श्याम सुंदर दुबे, संस्कृति, समाज और संवेदना, ग्रंथलोक प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ. 62

[52] कृष्णा सोबती, जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 20

[53] (सं.) पीयूष दईया, लोक, भारतीय लोक कला मंडल, कवि प्रकाशन, बीकानेर, 2002, पृ. 414

[54] कृष्णा सोबती, जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 34

[55] वही, पृ. 38

[56] वही, पृ. 56

[57] वही, पृ. 137

[58] वही, पृ. 138

[59] वही, पृ. 343

[60] वही, पृ. 325

[61] वही, पृ. 332

[62] वही, पृ. 262

[63] वही, पृ. 234–235

[64] वही, पृ. 238

[65] वही, पृ. 171

[66] वही, पृ. 171

[67] वही, पृ. 171

[68] वही, पृ. 234

[69] वही, पृ. 234

[70] वही, पृ. 26

[71] वही, पृ. 29

[72] वही, पृ. 29

[73] वही, पृ. 73–74

[74] कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 62

छठा अध्याय

समकालीन स्त्री लेखन और कृष्णा सोबती

(क) स्त्री लेखन की चुनौतियाँ

(ख) स्त्री लेखन के अंतर्विरोध

(ग) समकालीन परिदृश्य और कृष्णा सोबती

(घ) कृष्णा सोबती की भाषा और शिल्प का वैशिष्ट्य

(क) स्त्री लेखन की चुनौतियाँ

आधुनिक युग का कोई भी समाज आज नारी-प्रश्नों की उपेक्षा नहीं कर सकता। स्त्री की संस्कृति, इतिहास एवं परंपरा पुरुष से सर्वथा भिन्न है। इस भिन्नता को साहित्य के इतिहास में स्वीकृति तो मिली है, लेकिन पहचान नहीं मिली। साहित्य, संस्कृति व इतिहास के पृष्ठों पर स्त्री की जो छवि उभरती है, उसका सर्जक भी पुरुष ही रहा है। स्त्री ने अपनी इच्छा-अनिच्छा, अपनी भावना, अपने इतिहास एवं अपनी परंपरा को कभी व्यक्त नहीं किया। उससे उसकी राय जानने का भी कोई प्रयास नहीं हुआ। डॉ. प्रभा खेतान के शब्दों में, "पुरुष की संवर्धित चेतना, आधिपत्य की भावना, स्त्री-देह के प्रति पूंजीकरण की प्रवृत्ति ने न केवल साहित्य जगत में स्त्री की नुमाईंदगी का प्रयास किया, उसके अनुभवों की प्रामाणिकता पर न केवल अपना मत-अमत जाहिर किया बल्कि अपने स्त्री-विरोधी दृष्टिकोण एवं लेखकीय विद्वेष से एक ऐसा पाठक वर्ग भी तैयार किया जो स्त्री की कमजोरियों पर चुहलबाजी से बाज नहीं आता। स्त्री लेखिका या पाठिका से यह अपेक्षा थी कि वह इन फतवों को निष्क्रिय से स्वीकारे।"[1] साहित्यिक जगत में भी औरत को पुरुषोचित विद्वेष एवं पूर्वाग्रहों को कदम-कदम पर झेलना पड़ा है। पितृसतात्मक सामाजिक व्यवस्था न केवल स्त्री की अभिव्यक्ति पर अंकुश लगाती है, वरन उसे हीनता बोध से भी ग्रस्त कर देती है।

साहित्यिक परंपराओं ने भी स्त्री को परिभाषित करने का जो प्रयास किया, वह वस्तुतः पूर्वनिर्मित धारणाओं का आरोपण ही था। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक, स्त्री को परिभाषित करने के जो भी प्रयास हुए, वे अत्यंत सीमित थे। कभी स्त्री के रूप-सौंदर्य को व्याख्यायित करने के प्रयास हुए तो कभी भक्ति की आड़ में उसके भावों को अभिव्यक्ति दी गई। लेकिन स्त्री के 'मैं' को कभी ईमानदारी से वाणी देने का प्रयास नहीं किया गया। डॉ प्रभा खेतान के अनुसार, "पारंपरिक नीतिशास्त्र चाहे पश्चिम का हो या फिर पूरब का, वह चाहे सुकरात, अरस्तू या प्लेटो द्वारा लिखा गया हो या फिर मनु द्वारा, इन सभी विचारकों के

लेखन में स्त्री के नैतिक अनुभवों का अवमूल्यन घोषित एवं अघोषित रूप से मौजूद है। इसमें संदेह नहीं कि पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को कमतर व्यक्ति माना गया, अतः स्वभाविक था कि स्त्री के नैतिक अनुभव, पुरुष के नैतिक अनुभवों की तुलना में कम महत्वपूर्ण माने जाते।"[2] स्त्री के अनुभवों को चर्चा योग्य भी नहीं माना गया, "सांस्कृतिक रूप से पुरुष गुणों का महिमा-मंडन किया गया। उदाहरणार्थ स्वतंत्रता, स्वायत्तता, विलगता, मानस, तर्क, संस्कृति, अतिक्रमण की क्षमता, युद्ध और मृत्यु से संबंधित आनुभाविक गुणों को पुरुषोचित माना गया। जबकि पारस्परिकता, समुदाय, संबंधता, देह, संवेग, प्रकृति सीमा में अंतर्निहित शांति और जीवन को स्त्रीयोचित गुण बताकर उनके महत्व को कमतर ठहराया गया।"[3] पुरुषोचित गुणों को स्वीकृति तथा स्त्रियोचित गुणों के अस्वीकार ने साहित्यिक समालोचना के सिद्धांतों को भी बुरी तरह से प्रभावित किया है। यह अकारण नहीं है कि स्त्री-लेखन पर पुरुषों द्वारा लिखी गई आलोचना पूर्वाग्रह-ग्रस्त है।

किसी भी संस्कृति के प्रचार-प्रसार में समाजिक संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसी प्रकार सांस्कृतिक सर्चस्व, जिसे ग्राम्शी ने 'हेजीमनी' कहा है, के प्रचार में विचारधारा का अत्यंत महत्वपूर्ण योग होता है। किसी भी समाज के सांस्कृतिक जीवन को समझने के लिए इस 'सांस्कृतिक सर्चस्व का ज्ञान अतिआवश्यक है। पुरुष की लेखकीय श्रेष्ठता को स्थापित करने में भी पितृसत्तात्मक विचारधारा का महत्वपूर्ण योगदान है। "पुरुष का मूल्यबोध उसका दमन इसलिए भी प्रचलित है क्योंकि पुरुष स्वयं को व्यक्ति, विचार और व्यवस्था का प्रतीक मानता रहा है और स्त्री को अन्या, वस्तु, भोग्या और अज्ञेय। ...अन्या के माध्यम से पुरुष ने अपने वर्ग का वर्चस्व स्थापित करने के लिए संस्था, व्यवस्था, जाति और समाज बनाया।.... स्त्री को कम शिक्षा मिली, लेखन के क्षेत्र में उसने डरते-डरते कदम रखा।.... सृजन जगत में भी स्त्री का दोहन हुआ।"[4] पुरुष की रचनात्मक श्रेष्ठता ने लेखन के क्षेत्रों में स्त्री के स्वतंत्र दृष्टिकोण को

अभिव्यक्त नहीं होने दिया। पुरुष के बौद्धिक स्तर को स्त्री से श्रेष्ठतर मानने की प्रवृत्ति प्रायः सभी आलोचकों एवं विचारकों में रही है। आलोचकों की इसी सामंतवादी मानसिकता एवं पूर्वाग्रहों ने स्त्री लेखन को या तो विरूपित किया है, या फिर अतिसंक्षिप्त किया है। सिमोन द बोउवार के शब्दों में, "अब तक औरत के बारे में पुरुष ने जो कुछ भी लिखा है, उस पूरे पर शक किया जाना चाहिए, क्योंकि लिखने वाला न्यायाधीश और अपराधी, दोनों ही है।"[5]

आज वस्तुस्थिति यह है कि शोधविज्ञ, इतिहासकार तथा आलोचक जितनी गंभीरता से पुरुष लेखन को लेते हैं, उतने ही हल्केपन से स्त्री-लेखन को। जितने शोध-कार्य पुरुष रचनाकारों पर हुए हैं, उसका एक तिहाई भी स्त्री-लेखन पर नहीं। महिला-लेखन के मूल्याँकन के साहित्यिक प्रतिमान भी पुरुषवादी वर्चस्व की उपज हैं, अतः ऐसी समालोचनाएँ निष्पक्ष नहीं रह जातीं। मृणाल पाण्डे के अनुसार, "महिलाओं के लेखकीय अवदान पर फतवा देने का अंतिम अधिकार पुरुषों के पास प्रायः पड़ा रहा। औसत मध्यवर्गीय हिंदुस्तानी पुरुष औरतों को लेकर अपनी मानसिकता के चलते लगभग स्कूल स्तर से ही ठिलठिलाक़र या फिर अहम्मन्यता-बोध के मारे दकियानूसी तिलमिलाहट के साथ ही देखते-जाँचते रहे।"[6] अधिकाँश पुरुष रचनाकार एवं आलोचक स्त्री-लेखन को पढ़ने की आवश्यकता नहीं समझते, बावजूद इसके, उनके ऊपर अज्ञानता का ठप्पा नहीं लगाया जा सकता। स्त्री-रचनाकारों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह प्रबद्ध साहित्यकारों (पुरुष) की रचनाओं का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करें, पुरुषों की संस्कृति से परिचित हो, लेकिन यही अपेक्षा पुरुष रचनाकारों या आलोचकों से नहीं की जाती।

स्त्री-लेखन की विषयवस्तु भी पुरुष आलोचकों की दृष्टि में अतिसीमित है। यद्यपि स्त्री-वर्ग की आशाओं, आकाँक्षाओं, तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण को जितनी संपूर्णता से स्त्री-लेखन में अभिव्यक्ति मिली है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अतः स्त्री-लेखन के सामने जो एक प्रमुख चुनौती है, वह है पुरुषवादी आलोचनात्मक

प्रतिमानों को नकार, एक नयी स्वस्थ आलोचना पद्धति का निर्माण, जिसे नारीवादी आलोचना कहा जा सके। स्त्री-लेखन जिन प्रश्नों और चुनौतियों से जूझ रहा है, उसके लिए एक ऐसी आलोचना-दृष्टि की निर्मित जरूरी है जो उन प्रश्नों की संवेदनात्मक गहराई को महसूस कर सके। नारीवादी आलोचना का यह दायित्व बनता है कि वह अपनी घोषणाओं के अनुरूप स्त्री-लेखन की विशष्टता को सामने लाए तथा पितृसत्तात्मक आलोचना के अंतर्विरोधों को भी सामने रखे। नारीवादी आलोचना उन प्रश्नों को उठाती है, जो अब तक हाशिए पर थे। नारीवादी आलोचना की तरफ विचारकों और आलोचकों का ध्यान केंद्रित करने का श्रेय सिमोन द बोडवार की 'द सेकंड सेक्स' को है। सिमोन के शब्दों में, "साहित्य में औरत के विरूद्ध जो बर्बर दोषारोपण हुआ है, उससे हम सब परिचित हैं।--- सच तो यह है कि औरत से बैर कहीं पुरुष की आत्मसंगति की इच्छा को जाहिर करता है।"[7] नारीवादी आलोचना पर विचार करने वालों में बेटी फ्रीडेन एवं केट मिलेट प्रमुख हैं। जहाँ केट मिलेट ने 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' में नारीवादी आलोचना पर नए ढंग से विचार किया, वहीं गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक ने 'फेमिनिज्म एण्ड डिकन्सट्रक्शन' में नारी शब्द को समस्याग्रस्त घोषित किया तथा इसे जेंडर सब आल्टर्न मानने की सिफारिश की। सिमोन द बोउवार, बेट्टी फ्रीडेन, केट मिलेट एवं गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक आदि लेखिकाओं ने पितृसत्तात्मक साहित्य शास्त्र एवं सिद्धांतों के अंतर्विरोधों को प्रस्तुत किया है, जो स्त्री विरोधी हैं।

हिन्दी आलोचना जगत में भी पुरुषवादी सर्चस्व कायम है। सुधीश पचौरी के शब्दों में, "हिन्दी के स्त्री-लेखन की एक बड़ी बाधा हिन्दी आलोचना का पुल्लिंगवाद है जो अपनी समूची खुराक आधुनिकतावादी विचारों से लेती है। हिन्दी क्षेत्रों में कुछ ऐसा आधुनिकतावाद ही सम्भव हुआ कि तर्कविद्या तो आधुनिक होगी, लेकिन चितवृत्ति की माँसपेशियाँ सामन्तीय तलवार मार्का मूछों वाली रहीं। इस आलोचना ने स्त्री लेखन को कभी अपना विषय ही न माना। मर्दों की मर्दशुमारी से फुरसत मिलती तो इधर देखते। यों, न देख पाने का एक कारण यह शब्दकोश था

जो आलोचकों ने शिश्न-केंद्रित बना लिया था, या कहें उन्हें वैसा बना-बनाया मिला था। यह शब्दकोश स्त्री केंद्र के अनुभवों की ओर झाँकने ही नहीं देता।"[8] प्रायः यह देखा जाता है कि स्त्री के सवालों, समस्याओं एवं अनुभूतियों को पुंसवादी आलोचना तरजीह नहीं देती।

स्त्रीवादी या नारीवादी आलोचना, पुंसवादी आलोचना के वर्चस्व को तोड़ कर, "स्त्री के साहित्य और स्त्री पर लिखे गये पुरुष के स्त्री विषयक केंद्रित 'साहित्य के मूल्याँकन का नजरिया"[9] प्रस्तुत करती है। स्त्रीवादी आलोचना पूर्ववर्ती साहित्यालोचना से इस अर्थ में भिन्न है कि यह बहुआयामी है जबकि वे एक आयामी थे। सुधा सिंह के अनुसार, "स्त्रीवादी साहित्यालोचना को प्रचलित साहित्यालोचना में कुछ हेरफेर करने के बाद निर्मित नहीं किया जा सकता है बल्कि इसके निर्माण के लिए समाज के प्रति बुनियादी रवैया बदलना होगा।-- स्त्रीवादी साहित्यालोचना क्रांतिकारी साहित्यालोचना है, इसका लक्ष्य है प्रचलित और प्रभुत्व बनाकर बैठे आलोचना स्कूलों को चुनौती देना, उन्हें अपदस्थ करना। प्रभुत्ववादी विमर्शों को चुनौती देना, उन्हें अपदस्थ करना। सभी किस्म के विमर्शों में स्त्रीवादी नजरिये से हस्तक्षेप करना।--- इसे विस्तार देने का काम सिर्फ औरतों का ही नहीं है, बल्कि इसमें पुरुषों को भी शामिल किया जाना चाहिए।"[10]

स्त्रीवादी आलोचना को अनदेखा करना आज मुश्किल है, बावजूद इसके अभी तक हिंदी साहित्य में स्त्रीवादी सैद्धांतिकी पाठ्यक्रमों में नहीं है। विश्वविद्यालयों में स्त्रीवादी आलोचना की पढ़ाई शुरू होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि यह एक विचार के रूप में प्रस्तुत किया जाए, न कि एक आस्था के रूप में। हिन्दी में स्त्रीवादी आलोचना के सामने एक गंभीर समस्या है स्त्री रचनाकारों का पुंसवादी नजरिया। कई महिला रचनाकार यह मानने को तैयार नहीं हैं कि स्त्रीवादी साहित्यालोचना भी एक स्वतंत्र अनुशासन है। "स्त्रीलेखिकाएँ यह तो मानने के लिए तैयार हैं कि स्त्रियों को यथार्थ जगत में जाकर संगठित किया जाना चाहिए, उनकी वास्तविक समस्याओं को उठाया जाना चाहिए। लेकिन यह

मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि स्त्रीवादी साहित्यालोचना का स्वतंत्र रूप से विकास किया जाना चाहिए।"[11]

प्रायः यह देखा गया है कि जब भी किसी स्त्रीवादी विचारक की आलोचना की गयी है, तो उसने इसे संपूर्ण स्त्रीवाद पर हमला सिद्ध करने का प्रयास किया है। जबकि होना यह चाहिए कि आलोचना को एक वैचारिक प्रक्रिया समझ कर ग्रहण किया जाए तथा उसके आलोक में अपने विचारों को तर्कपूर्ण बनाने की कोशिश की जाए। "स्त्रीवादी साहित्यालोचना में मर्दवादी नजरिए से यदि पुरुष समीक्षक दाखिल होते हैं तो वे स्त्रीवादी साहित्यलोचना का विकास नहीं कर सकते, ऐसे समीक्षकों को स्त्रीवादी समीक्षक कहना मुश्किल हैं।"[12]

स्त्रीवादी आलोचना मानती है कि स्त्रीलेखन अपने अंतर्पाठ से मुक्त नहीं है। इसलिए वह पढ़ने की गुंजाईश उत्पन्न करती है। सुधीश पचौरी के अनुसार, "स्त्रीत्व के हमदर्द बहुत से मर्द हो सकते हैं। लेकिन वे चाहकर भी उस लिंग भेदवादी अनुभव को पूरी तरह नहीं पढ़ सकते जो एक लिंग-भेदी समाज में स्त्री-लिंगी अनुभव का हिस्सा है। प्रजनन या छेड़छाड़ या बलात्कार का जो पाठ स्त्री बना सकती है वह मर्दवादी विमर्श नहीं ही बना सकता।"[13]

पुंसवादी आलोचना, स्त्री-लेखन में उपस्थित सौंदर्यबोध के नवीन स्वरूप, भाषा, शिल्प, विचार एवं अनुभवों को पहचानने से इंकार करती है। पुंसवादी आलोचकों ने स्त्री-लेखन को अन्या के रूप मे स्थापित करने को प्रयास किया । पूर्वनिर्मित अवधारणा का सहारा लेकर पुंसवादी आलोचना स्त्री-लेखन के दायरे को सीमित घोषित करती है। अतः नारीवादी आलोचना उस नये सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों की निर्मिति की माँग करती है, जिसके अंतर्गत स्त्री-लेखन के अनगढ़ कच्चेपन की भी समीक्षा हो सके। स्त्रीवादी आलोचना आत्मगत और वस्तुगत के भेद को भी गलत मानती है, क्योंकि यह मूलतः पुंसवादी विभाजन है। अर्थ की

एकआयामिता को नकार कर के ही स्त्री-अर्थ की उपस्थिति सिद्ध की जा सकती है।

स्त्री-लेखन की दूसरी बड़ी चुनौती पुल्लिंगवादी भाषिक संरचना को तोड़ कर एक नई भाषा के गठन का है। नारीवादी आलोचना ने यह स्पष्ट किया है कि भाषा का चरित्र भी पितृसत्तात्मक मूल्यों से प्रभावित होता है। डेल स्पेंडर की पुस्तक 'मैन मेड लैंगुएज' (1980) में यह स्पष्ट किया गया है कि, "अंग्रेजी भाषा शाब्दिक अर्थों में पुरुष रचित है। यह प्रमुख धरातल पर पुरुष अनुशासक अधीन है। भाषा के ऊपर एकाधिकार के साथ ही पुरुषों ने अपनी प्रमुखता निश्चित बनाई।"[14] भाषा संप्रेषण का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने निजी अनुभवों को समाज से जोड़ता है। प्रश्न यह उठता है कि स्त्री अपने अनुभवों को किस भाषा में व्यक्त करे? "अपने एक निबंध 'Can the Subaltern speak' में गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक ने एक बड़े महत्वपूर्ण सवाल में विस्तृत रूप से स्थापित किया कि तीसरी दुनिया की स्त्रियों को स्त्री मुक्ति से संबंधित विमर्शों में जिस रूप में प्रस्तुत किया गया उससे उनकी व्यक्तिकता अभिव्यक्त होने के बदले धुंधीकृत हुई, जबकि पाठ का लेखक यानि विमर्शक जरूर स्थापित हुआ। स्पीवॉक के अनुसार सती प्रथा को ब्रिटिश उपनिवेशकर्ता एक दकियानूसी, बर्बर प्रथा कहकर गलत ठहराता है जबकि बहुत से भारतीय पुरुष इसे भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण मानते हैं। किंतु दोनों ही स्थिति में स्त्री, जिससे सती प्रथा संबंधित है वह खामोश रहती है। वह स्त्री इस प्रथा को उचित मानती है या अनुचित इसे कोई जान नहीं पाता। इन बहसों के दौरान वास्तविक स्त्री अदृश्य रहती है।.... सबआल्टर्न स्त्रियाँ इसलिए खामोश हैं क्योंकि स्त्री शोषण के पाठ से अपरिचित होने की वजह से अपने शोषण के संदर्भ में वे अपना मत जाहिर नहीं कर पाती है।.... स्त्री जिस भाषा में बोलना चाहेगी बौद्धिकी उसे समझ नहीं पाएँगें और चूंकि उस स्त्री में शिक्षा का अभाव है अतः अपने शोषण के

प्रसंग में एक बौद्धिकी की भाषा में अपना विमर्श प्रस्तुत करने में वह स्वयं असमर्थ हैं।"[15]

स्पीवॉक के विचारों से सहमति व्यक्त करते हुए उमा नारायण कहती हैं, "सबआल्टर्न स्त्री के लिए जरूरी है कि वह अपनी भाषा का ईजाद करे और अपने उत्पीड़न से मुक्ति की आकाँक्षा को अभिव्यक्त कर सके ताकि एक अवधारणात्मक ढाँचे को निर्मित करना संभव हो।"[16] किसी भी समुदाय के अनुभवों की निर्मिति एवं अभिव्यक्ति में भाषा का महत्वपूर्ण योग होता है। अब तक के साहित्य जगत की भाषा पुल्लिंगवादी रही है, तथा अधिकाँश स्त्री लेखिकाओं ने अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति इसी पुल्लिंगवादी भाषा के द्वारा की है, जो उसे अशक्त एवं अप्रामाणिक बना देते हैं। भाषा की प्रेषणीयता पर चर्चा करते हुए इरिगारे कहती हैं, "भाषा अंतहीन रूप से अर्थ का स्थगन करती हैं। भाषा भाव और अभाव के बीच के संबंध को अभिव्यक्त करते हुए एक ओर जहाँ किसी एक विशेष अर्थ को प्रस्थापित करती है, वहीं उससे संबंधित प्रत्येक दूसरे अर्थ को स्थगित भी।"[17] भाषा की अनुपलब्धि किस प्रकार स्त्री-अनुभवों की संप्रेषणीयता को बाधित करती है, इस पर इरिगारे कहती हैं, "लेखन, अभिव्यक्ति एवं पाठ अपने आप में विरोधाभासी शब्द हैं। तर्क के दृष्टिकोण से उलझनों एवं वाक् वितंडाओं से भरे हुए, मुहावरों में बिखरे हुए, न समझे जाने लायक, मानो इनको सुनने के लिए हमें अलग से कान लगाने की जरूरत है। मानो भाषा की बुनावट में छिपा हुआ कोई दूसरा अर्थ भी है। पाठ के शब्दों से भय लगने लगता है कि कहीं मूल अर्थ ही व्यर्थ में इन गैर-जरूरी शब्दों से चिपके न रह जाएँ। ....स्त्रियों ने पुरुष-व्यवस्था द्वारा संप्रेषित अर्थों को तोड़ा है तथा इस प्रक्रिया के दौरान वे मुक्ति की ओर अग्रसर भी हुई हैं।"[18] हिन्दी साहित्य के विषय में भी यही बात लागू होती है। सुधीश पचौरी के अनुसार, "इस अर्थ में देखें तो हिन्दी साहित्य का इतिहास पुल्लिंग-केंद्रित भाषा का इतिहास है, चाहे वह रामचंद्र शुक्ल का ही क्यों न हो या हजारीप्रसाद द्विवेदी का मध्यकालीन विमर्श ही क्यों न हो। यदि कोई स्त्री उसे

लिखे तो निश्चय ही उसमें अब तक प्रच्छन्न शिश्न-केंद्रिकता प्रकट हो। समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में हिन्दी का स्त्री लेखन यदि एकदम हाशिए पर है तो इसीलिए कि प्रचलित वर्चस्ववादी भाषा स्त्री की वाणी नहीं बन पाती और बहुत कम लेखिकाएँ स्त्री के लिए निजी भाषा खोजने की चिंता करती है।"[19] भाषा का यह असामर्थ्य औरत के अनुभवों की अभिव्यक्ति में बाधक बनता है। पचौरी के अनुसार, "भाषा की यह शिश्न-केन्द्रिकता औरत को निर्वाक् बनाती है। दुनिया की तमाम बड़ी लेखिकाओं को प्रचलित भाषा अपूर्ण और लिंगभेदी लगी है और नई भाषा वे आसानी से बना नहीं सकी हैं।"[20]

भाषा मनुष्य के अस्तित्व का एक प्रमुख आधार है तथा व्यक्ति के स्वभाव और प्रकृति से एकाकार होने के पश्चात् ही वह अभिव्यक्ति के रूप में सामने आती है। विडंबना यह है कि स्त्री जिस भाषा का प्रयोग करती है, वह भी उसकी स्वयं की भाषा नहीं होती। राजेन्द्र यादव के अनुसार, "स्त्री विमर्श का सबसे जटिल पहलू यह है कि उसे पुरुष-भाषा के वर्चस्व में ही अपनी बात कहनी है क्योंकि उसकी अपनी कोई भाषा नहीं है। जो है उसे कोई सुनना, समझना नहीं चाहता। इसलिए वह अपने आपसे ही बातें करती हैं। दूसरे या तो उसे पागल समझते हैं या उस पर हंसते हैं – सिर्फ अपनी बात कहने वाली स्त्री आगे जाकर या तो 'चुड़ैल' कहलाती है या डायन---"[21] पुल्लिंगवादी भाषा का अधिपत्य स्त्री जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। घर हो या बाहर, स्त्री को पुरुष-वर्चस्व की भाषा का सामना करना ही पड़ता है। सुधीश पचौरी के अनुसार, "स्त्रियाँ जहाँ काम करती हैं, वहाँ उन्हें शिश्न-केंद्रित भाषा के अतिचार का सामना करना पड़ता है। यह स्थिति कितनी भयावह और सार्वजनिक है कि 'लेना', 'देना', 'लेंगी', 'देंगी' जैसी मामूली क्रियाओं तक को मर्दों द्वारा द्विअर्थी बना दिया जाता है। क्योंकि भाषा के इस ढंग से ही स्त्रियों पर शासन किया जा सकता है। दो-अर्थी भाषा के अनेक रूप हमारे घरों, बाजारों, दफ्तरों, बसों, ट्रेनों, फिल्मों, गीत-संगीत, टीवी, रेडियो, अखबारों में

फैले पड़े हैं, जिनमें एक लिजलिजी शिश्न-केंद्रिकता इतराती और स्त्री का अपमान करती है। यह भाषा पुरुष-वर्चस्व को टिकाउ बनाने के लिए जरूरी होती है।---"[22]

भाषाई राजनीति लिंगभेद से बुरी तरह प्रभावित होती है। भाषा कई बार स्त्री की हीनता को प्रमाणित करने का माध्यम भी बनती है। राजकिशोर के अनुसार, "मेरी रित्वी की ने स्त्री-पुरुष भाषा पर उल्लेखनीय काम किया है, जिससे पता चलता है कि इतिहास में स्त्री को किस प्रकार एक अजूबा चीज माना जाता रहा है तथा आज भी किस तरह उसे एक हीन प्राणी माना जाता है। की ने बताया है कि सैपिर ने 1815 में नुटका भाषा के असामान्य प्रकारों का अपना अध्ययन प्रकाशित किया, तो इस वर्ग में उसने इन लोगों की भाषा रखी थीः मोटे, बौने, कुबड़े, लँगड़े, बाँहत्थे, खतनाशुदा पुरुष, कायर, बच्चे और स्त्रियाँ"[23] यहाँ गौरतलब है कि स्त्री को कायर, अपाहिजों के मध्य रखने की मानसिकता उसी पुरुष वर्चस्व की है जो कि तुलसीदास के 'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारि, से द्रष्टव्य होता है। स्त्रियों की अवमानना की भाषा प्रयुक्त करने में सिर्फ पिछड़े और विकासशील राष्ट्र ही नहीं, वरन् विकसित राष्ट्र भी शामिल है। मेरी रित्वी की आगे बताती हैं, "....राष्ट्रीय चुनाव में विभिन्न समितियों में किसे-किसे लिया जाएगा, इस पर चर्चा हो रही थी, तो एक अमेरिकी सिनेटर ने अपना यह फैसला बताने के लिए कि अमुक समिति में किसी भी स्त्री को नहीं रखा जाएगा, सिर्फ यह कहा कि 'नो ब्रॉड्स' (चौड़ी चीजें नहीं चलेंगी) और चर्चा वहीं रोक दी।"[24] विश्व की प्रायः सभी सामाजिक एवं वैचारिक व्यवस्थाओं में स्त्री को उसके शरीर की भाषा में ही पहचाना जाता है।

भाषा, चाहे वह बोलचाल की हो या फिर वेद-पुराण और शास्त्रों की, स्त्री की पहचान उसके शरीर के द्वारा ही की जाती है। इस प्रसंग में राजकिशोर आगे कहते हैं कि जब दुर्योधन ने भरी सभा में द्रौपदी को विवस्त्र करने का प्रयास किया, तो इस प्रसंग का वर्णन करते हुए वेदव्यास ने द्रौपदी के लिए जो विशेषण

प्रयुक्त किया, वह था 'सुंदर कटिवाली द्रौपदी'। राजकिशोर भाषा के इस पुरुषवादी वर्चस्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि, "ठीक इसी अवसर पर वेदव्यास को क्यों याद आया कि द्रौपदी 'सुंदर कटिवाली' है? क्या इसलिए कि उनकी कल्पना में नग्न होती हुई द्रौपदी के बिंब तैर रहे थे और वे यहाँ इशारे से बता रहे हैं कि द्रौपदी को अब कमर तक नंगा कर दिया गया था, या इसलिए कि स्त्री के लगभग सारे विशेषण उसके शारीरिक गुणों, (और ऐसे मानसिक गुणों, जिनका आधार उसके स्त्रीत्व की जेल हैं, जैसे लज्जावती, शीलवती, सुभाषिणी इत्यादि) के आधार पर बनाये गये हैं और छंद में एक शब्द की कमी आ रही थी, तो व्यास ने उसे 'सुमध्यमा' से भर दिया?.... द्रौपदी की कमर में दुर्योधन की जितनी दिलचस्पी है, उससे जरा भी कम व्यास की नहीं।"[25]

भाषा न केवल सामाजिक संबंधों का प्रतिनिधित्व करती है, बल्कि निश्चित विचारधाराओं का भी वहन करती है। किसी भी समाज में स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषा, उनकी सामाजिक प्रस्थिति को भी दर्शाता है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने भाषा-विभेद के पीछे सामाजिक भेद को उत्तरदायी माना है। डॉ. पाण्डेय के अनुसार, "यह सामाजिक भेदभाव तब और अधिक स्पष्ट दिखाई देगा जब आप संस्कृत नाटकों में स्त्रियों की भाषिक स्थिति को सामने रखेंगे। उन्हें संस्कृत में बात करने की स्वतंत्रता नहीं है, प्राकृत में ही संवाद (?) की अनुमति है, वे चाहे स्वर्ग की अप्सराएँ हो या अभिजात समुदाय की सीता और शकुन्तला या फिर जनसमुदाय की स्त्रियाँ। यहाँ वर्ग भेद के ऊपर लिंग-भेद बैठा है। स्पष्ट है कि यहाँ वर्ग विषमता से अधिक कठोर और सर्वग्रासी है लिंग-भेद संबंधी विषमता। संस्कृत नाटकों में स्त्रियों की भाषा वही है जो दासों की है। क्या संस्कृत नाटकों में स्त्रियों की इस हीन भाषिक स्थिति से उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक दशा की हीनता का पता नहीं लगता है?"[26]

आज तक की भाषा संबंधी बहसें और खोजें पुरुष को केंद्र में रख कर की गई हैं। "कुछ भाषाविद् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हुए जान पड़ते हैं कि भाषा पुरुष

की होती है। यह एक पुंसवादी संरचना है। वे सहज ही यह मानते हैं कि पुरुष ही भाषा का निर्माता और आविष्कर्ता है। मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय दृष्टि से भाषा का अध्ययन करने वालों ने भी भाषा के निर्माण में स्त्री की किसी तरह की भूमिका को अस्वीकार किया।"[27] इस लैंगिक पूर्वाग्रह ने स्त्री को कभी भी भाषा के संदर्भ में पुरुष के समकक्ष खड़ा नहीं होने दिया। स्त्री द्वारा पुरुष भाषा का प्रयोग स्त्री की भाषिक क्षमता को और कमजोर करता है।

स्त्रीवादियों ने स्त्रीभाषा के निर्माण के लिए जो सुझाव दिए हैं, उनमें से, "एक दृष्टिकोण यह है कि प्रचलित पुरुष भाषा का 'शुद्धिकरण' करके अलग स्त्रीभाषा का निर्माण किया जाए। पुरुष भाषा को लेकर स्त्रीवादियों की सबसे ज्यादा आपत्ति भाषा के कामुक रूपों को लेकर है। इसकी एककेंद्रिता दूसरा बड़ा मुददा है। भाषा में स्त्री का प्रतिनिधित्व नहीं है। ...भाषा के प्रति रक्षात्मक रवैये के बावजूद इस सवाल से बचा नहीं जा सकता कि जिस भाषा की रक्षा की बात की जा रही है वह किसकी भाषा है? यदि नियम बदल जाएँगे तो किसी परंपराएँ ध्वस्त होंगी?"[28] स्त्री की भाषा न केवल भाषा-विज्ञान में अनुपस्थित है, बल्कि ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी नहीं पाई जाती। "नृतत्वशास्त्रियों ने अपने शोधों में इस बात को लक्ष्य किया है कि सैद्धांतिक तौर पर नृतत्वशास्त्र का आधा हिस्सा घेरने के बावजूद स्त्रियाँ यहाँ चुप ही हैं। ....स्त्रियों को बड़े पैमाने पर वैचारिक रूपों, छवियों और प्रतीकों जिसमें विचार अभिव्यक्त और व्यवस्थत होते हैं, के निर्माण से बाहर रखा जाता है। स्त्रियाँ चुप की गई हैं क्योंकि पुरुष नियंत्रणकर्त्ता हैं। स्त्री की भाषा, अर्थ और ज्ञान पुरुष नियंत्रण के बाहर नहीं निर्मिति किए जा सकते हैं।"[29]

स्त्रियों के लिए अलग भाषा की निर्मित पर जोर देते हुए वर्जीनिया वुल्फ़ ने अपने आलेख 'वूमेन एण्ड फिक्शन' में लिखा है, "लेकिन आज भी यह सच है कि इससे पहले के एक स्त्री वह लिख सके जो वह लिखना चाहती हैं, उसे कई तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ता है। सबसे पहले तो तकनीकी और शिल्प,

जो प्रकटतः बहुत सरल, वास्तव में बहुत अस्पष्ट हैं, के स्तर पर कठिनाई पेश आती है कि वाक्य के गठन के प्रचलित रूप उसे अनुकूल नहीं लगते। यह पुरुष निर्मित वाक्य है, जो स्त्री के उपयोग के लिहाज से बहुत शिक्षित, बहुत भारती, बहुत औपचारिक है।"[30]

यह स्पष्ट हैं कि स्त्री को अपनी भाषा की निर्मिति के लिए पुंसवादी भाषा-प्रतिमानों का सामना करना पड़ेगा। स्त्री की भाषा को परिभाषित कर पाना अत्यंत मुश्किल है क्योंकि अभी तक स्त्रीवादी लेखिकाओं की भी इसे लेकर एक सर्वमान्य राय नहीं बन पाई हैं। लेकिन इतना जरूर तय है कि स्त्री-भाषा की संरचना, उसका वाक्य -गठन, पठन की शैली तथा संदेश संप्रेषण की विधि पुरुषों से भिन्न होगी।

स्त्री की भाषा की खोज के लिए आवश्यक है कि, "स्त्री के पाठ को परंपरागत ढंग से न पढ़ा जाए। स्त्रीपाठ में निहित अस्पष्ट अर्थों को उद्घाटित करना चाहिए। स्त्री का पाठ पढ़ते समय परिवेश, मूल्यों और विश्वासों का बेहतर ज्ञान होना चाहिए, बगैर इसके स्त्रीपाठ समझ में नहीं आएगा।"[31] भाषा का प्रश्न, स्त्री एवं पुरुष की सामाजिक हैसियत को भी निर्धारित करता है। "स्त्री को शक्तिहीनता के केंद्र से जोड़ा गया है और पुरुष को शक्ति और सत्ता के। स्त्री की चुप्पी, उसकी भाषिक अपंगता को शक्तिहीनता के केंद्र से जोड़ा गया है।--- ऐसा नहीं कि स्त्रियाँ बोल नहीं सकतीं या बोलना नहीं जानती।.... कारण यह है कि उन्हें बोलने से रोका जाता, चुप कराया जाता है। कभी परंपराओं और रिवाजों के नाम पर कभी नैतिकता की दुहाई देकर।"[32]

स्त्री-लेखन के समक्ष तीसरी बड़ी चुनौती है अपनी एकांगिता को खत्म कर शिल्प और कथ्य की दृष्टि से नये प्रयोग, एवं नये अनुभवों को सामने लाने की। स्त्री-लेखन को परंपरागत सोच फुर्सत का शगल मानती है। "उन्नत से उन्नत समाज में स्त्री के लिखने के लिए आवश्यक संसाधन और जरूरी वक्त मुहैया नहीं थे। नहीं तो वर्जीनिया वुल्फ को 'अपना कमरा' लिखने की जरूरत न होती। स्त्री

का लिखना पूरावक्ती हो सकता है और इसे जीविका का साधन बनाया जा सकता है, यह सोचा नहीं गया था। इसका कारण केवल यह नहीं है कि सोचा नहीं गया बल्कि इसके उलट खूब सोची-समझी नीति के तहत ऐसा किया गया। इसके सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारण हैं। इसलिए स्त्री का लिखना निजी नहीं, राजनीतिक पहलकदमी है।"[33]

स्त्रीलेखन में सांप्रदायिकता, फासीवाद, राजनीति और धर्म के अंतर्संबंधों को उठाया जाना चाहिए। सांप्रदायिकता पर गीतांजलिश्री की "हमारा शहर, उस बरस' नामक उपन्यास एवं कमलेश बख्शी की कहानी 'आओ दंगा-दंगा खेलें', उल्लेखनीय हैं। इनमें दंगों के दौरान क्षरित हुए मानवीय मूल्यों एवं विश्वास का प्रश्न उठाया गया है। राजनीति का प्रश्न भी मैत्रेयी पुष्पा और चित्रा मुद्गल के यहाँ उठा है। बावजूद इसके, इन विषयों को व्यापक विस्तार देने की जरूरत है। स्त्री-लेखन की अधिकाँश लेखिकाएँ शहरी मध्यवर्ग से आती हैं, अतः प्रायः उनकी रचनाओं का फैलाव मध्यवर्ग के दायरे तक ही है। इस घेरे को व्यापक बनाना आवश्यक है। मजदूरों, किसानों, पिछड़े दलित वर्ग को भी रचनाओं में व्यापक स्थान मिलना चाहिए। सिर्फ प्रेम संबंध या जीवन के अकेलेपन तक ही स्त्रीलेखन का फैलाव नहीं होना चाहिए।

स्त्री लेखन की सबसे बड़ी चुनौती है 'सेंसरशिप' की। यह 'सेंसरशिप' किसी और द्वारा स्त्रियों पर नहीं थोपी गई, बल्कि उन्होंने स्वयं ही अपने ऊपर आरोपित किया है। सामाजिक असहमति, प्रतिष्ठाहानि और अस्वीकृत होने का डर, कुछ ऐसी वजहें हैं जो स्त्रीलेखन को सेल्फ-सेंसरशिप के लिए बाध्य कर देती हैं। इसका परिणाम होता है कि उनकी लेखनी का फलक सिमटा रह जाता है। साथ ही, लेखन का एक अन्य मकसद, जिसे 'कथार्सिस' भी कहते हैं, वह पूरा नहीं हो पाता।

स्त्री-लेखन का एक महतवपूर्ण उद्देश्य है स्त्री की विभिन्न भूमिकाओं के विषय में समाज को जानकारी देना तथा जो शिक्षा-दीक्षा से वंचित अंधेरे और गुमनामी की पतों में सिमटी हुई हैं, उन स्त्रियों की वाणी को स्वर देना।

(ख) स्त्री लेखन के अंतर्विरोध

स्त्री लेखन के अंतर्विरोधों को जानने से पूर्व यह आवश्यक है कि 'स्त्री-लेखन' को परिभाषित किया जाए। स्त्री-लेखन को परिभाषित करने की दो दृष्टियाँ हैं – पहली दृष्टि के अंतर्गत स्त्रियों द्वारा लिखे गए साहित्य को रखा जा सकता है, इसके मूल में है स्त्री की प्रामाणिक अनुभूति। दूसरी दृष्टि के अंतर्गत वह लेखन आता है जो स्त्री के सवालों पर आधारित हो या फिर किसी भी विषय पर स्त्री के दृष्टिकोण से लिखा गया हो। इसके अंतर्गत स्त्री और पुरुष दोनों द्वारा रचा गया साहित्य आता है। आधुनिक स्त्री-विमर्श की आधारभूमि तैयार करने के पीछे स्त्री-लेखन का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

स्त्री लेखन में मौजूद सबसे महत्त्वपूर्ण अंतःर्विरोध यह है कि स्त्री लेखन के अंतर्गत सिर्फ स्त्रियों द्वारा किए गये लेखन को रखा जाए या फिर पुरुषों द्वारा स्त्री-विषयक मुददों पर किए गए लेखन को रखें, इस पर कोई मतैक्य नहीं है। नामवर सिंह के अनुसार, ".....महिला लेखन (और दलित लेखन भी) में संपूर्ण समाज की अभिव्यक्ति नहीं होती। दरअसल इस प्रकार के लेखन छोटे समुदायों के हितों में रखकर किए जाते हैं। ....ऐसा साहित्य अर्ध-साहित्य को प्रतिबिंबित करता है। यह लेखन तात्कालिक प्रतिक्रिया का परिणाम है, जबकि साहित्य का मूल स्वरूप मानव को मुक्ति प्रदान करने वाला है। खंड-खंड में मुक्ति साहित्य का लक्ष्य नहीं है।"[34] कुछ उसी प्रकार का दृष्टिकोण निर्मला जैन का भी है। उनके अनुसार, "वर्ग के भीतर लिखने की बहुत बड़ी सुविधा है कि जो "साहित्य" के नाम पर भले ही उल्लेखनीय न हो, वर्गीय लेखन के रूप में चर्चा के केन्द्र में लाया जा सके। असुविधा यह है कि जो रचना के रूप में महत्त्वपूर्ण हो, वह भी कुछ रियायत देकर वर्गीय -लेखन के दायरे में 'किन्तु', परन्तु के साथ सराहा

जाए। ....महिला लेखन की आरक्षित दुनिया जिसमें कोई लेखक की हैसियत से भले ही प्रवेश न पा सके-- महिला लेखन के नाम पर घुसपैठ निश्चित रूप से हो सकती है।"[35] शायद यही वजह है कि वे 'कलिकथा वाया बाईपास' की आलोचना करते हुए कहती हैं, "इस उपन्यास की चर्चा महिला लेखन के दायरे के भीतर रख कर नहीं, उपन्यास के रूप में की जा रही है।"[36]

नामवर सिंह का यह मानना कि महिला लेखन संपूर्ण समाज को अभिव्यक्त नहीं करता, या अर्धसाहित्य को प्रतिबिंबित करता है, न केवल पूर्वाग्रह ग्रस्त, बल्कि एकांगी भी है। छोटे समुदाय का तात्पर्य हुआ हाशिए पर का वह वर्ग, जिसकी अनुगूँज अब तक के साहित्य में नहीं सुनाई पड़ी। दलित एवं महिला वर्ग इस लिहाज से अब तक के वे उपेक्षित समुदाय रहे हैं, जो साहित्य-जगत में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने के लिए अपनी अनुभूतियों को आकार दे रहे हैं। उनका लेखन सिर्फ अपने समुदाय के हितों को ध्यान में रख कर नहीं किया जा रहा, बल्कि केंद्र से हाशिए की दूरी को कम करने का प्रयास है। महिला लेखन, कोई तात्कालिक प्रतिक्रिया नहीं है, यह सदियों से उपेक्षित वंचित एवं लांछित उस स्त्री की अनुभूतियों एवं भावों की प्रामाणिक प्रस्तुति का प्रयास है, जिसे कभी देवी तो कभी दानवी बना कर सहज मानवीय गुणों से वंचित करने का प्रयास किया गया।

निर्मला जैन जिसे वर्ग के भीतर लिखने की सुविधा मानती हैं वह वस्तुतः, "मनुष्य नागरिक और सामाजिक प्राणी की हैसियत से स्त्री के मानवीय अधिकारों की संघर्षपूर्ण माँग करने वाला साहित्य है।"[37] महिला-लेखन को आरक्षित क्षेत्र घोषित करने का प्रयास आज इसलिए सामने आ रहा है, क्योंकि आज तक स्त्रियों ने स्वयं के विषय में कुछ नहीं कहा या लिखा है। उनके विषय में जो कुछ भी कहा या लिखा, वह पुरुषों ने ही। अतः स्त्री-लेखन एक स्त्री के दृष्टिकोण से स्वयं को देखने का स्त्रियों का प्रयास है, जिसे मात्र वर्गीय सुविधा के तहत किये जाने वाला लेखन, कहना आलोचकीय पूर्वाग्रह को दर्शाता है। 'कलिकथा वाया बाईपास'

को महिला लेखन सिर्फ इसलिए नहीं मानना क्योंकि यह गैर महिला-वषयक पर लिखा गया है, आलोचकीय पूर्वाग्रह का एक और नमूना है।

निर्मला जैन ने रचना और आलोचना के क्षेत्र में स्त्री दृष्टि का विरोध किया है। उनके अनुसार, "वर्गीय विभाजन से लेखन के समग्र मूल्याँकन में बाधा पड़ती है, वस्तुतः रचनाकार की न जाति होती है, न धर्म और वर्ग।"[38] एक तरफ तो निर्मला जैन अलग से नारी दृष्टि का विरोध करती हैं, दूसरी तरफ स्वीकार करती हैं कि "अनुभवों का एक क्षेत्र ऐसा भी है, जिसके प्रामाणिक लेखन की हकदार महिलाएँ ही हैं।"[39] यहाँ निर्मला जैन की आलोचनात्मक दृष्टि के अंतर्विरोध खुल कर सामने आते हैं।

आलोचकों के अतिरिक्त, महिला रचनाकारों में भी स्त्री-लेखन के सीमा-क्षेत्र को ले कर सर्वसहमति नहीं है। यदि एक तरफ कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी एवं मृदुला गर्ग जैसी लेखिकाएँ स्वयं को महिला रचनाकार कहे जाने पर ऐतराज प्रकट करती है, एवं साहित्य के वर्गीय विभाजन को गलत ठहराती हैं, तो दूसरी तरफ प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा एवं कात्यायनी जैसी महिला लेखिकाएँ हैं जो स्त्री-लेखन को एक अलग वर्ग के रूप में मान्यता दिए जाने पर जोर देती हैं। मृदुला गर्ग, नारी चेतना को लिंगभेद, जाति और वर्ग से जोड़कर देखे जाने का विरोध करती हैं। उनके अनुसार, "नारी चेतना स्त्री-पुरुष, दलित, गैर-दलित सब में हो सकती हैं। उसका संबंध वर्ग, वर्ण, धर्म या लिंग से नहीं, दृष्टि से है। यह दृष्टि अनुभूति की ऐतिहासिक, सामाजिक और वैयक्तिक यात्रा में विकसित होती है।"[40]

मृदुला गर्ग यहाँ एक तरफ साहित्य को वर्ग या लिंग के आधार पर बाँटने का विरोध करती हैं, वहीं दूसरी तरफ पुंसवादी आलोचना की भी आलोचना करती हैं। वे शायद इस बात को भुला देती हैं कि किसी भी रचनाकार की रचना दृष्टि को वर्ग, वर्ण, धर्म एवं लिंग के रास्ते से गुजर कर ही निर्मित होना पड़ता है। किसी भी रचनाकार की जीवन-दृष्टि एवं भाव-बोध के निर्माण में उसके सामाजिक परिवेश का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। जिस समाज में रचनाकार रहता है,

उसकी जीवन-संस्कृति एवं साहित्येतिहास को वह दरकिनार नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए, प्रेमचंद 'शूद्रा' और 'सती' सरीखी कहानियों में जब उच्चवर्गीय नैतिकता के प्रतिमानों पर दलित स्त्रियों को नापने का प्रयत्न करते हैं, तब एक सवर्ण लेखक के अंतर्विरोध प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार अमृतलाल नागर के 'नाच्यौ बहुत गोपाल' की निरगुनिया– जो कि भंगिन बन जाती है– जब भगवान की मूर्ति के समक्ष उपस्थित होती है, तब उसकी ब्राह्मणवादी श्रद्धा उसके भंगिन रूप पर हावी हो जाती है। अतः जिस प्रकार सवर्ण रचनाकारों के यहाँ आदर्श, यथार्थ पर हावी हो जाता है (जब वे दलितों से संबंधित रचना करते हैं), ठीक उसी प्रकार पुरुष रचनाकारों के अपने आग्रह, दुराग्रह एवं वर्गीय संस्कार स्त्री से संबंधित लेखन पर हावी हो जाते हैं।

कृष्णा सोबती का मानना है, "दलित लेखक की तरह ही स्त्री भी अपने अनुभव में सीमित और विशेष प्रकार के स्त्री-संवेदन से ग्रस्त है। लिहाजा उसके लेखन का सांस्कृतिक संस्कारी तथा रचनात्मक प्रस्तुतिकरण साहित्यिक मूल्यों पर हलका बैठता है।"[41] कृष्णा सोबती साहित्य के वर्गीय विभाजन से सहमत नहीं हैं, "यह सही है कि साहित्य के रचनात्मक क्षेत्र में तथाकथित महिला लेखन का प्रवेश नया है लेकिन यही एकमात्र कारण उन्हें अलग श्रेणी या क्रमांक देने का विकल्प नहीं होना चाहिए।"[42]

....कृष्णा सोबती, कृष्ण बलदेव वैद से स्त्री-लेखन पर बातचीत करते हुए कहती हैं, "के.बी. अन्यथा न लें – मेरे और आपके लेखन की विभिन्नता का कारण सिर्फ लिंग-भेद ही नहीं। ...आप पुरुष हैं तो अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति में मुझसे बेहतर नहीं है और क्योंकि मैं स्त्री हूं तो सर्जनात्मक स्तर पर आपसे कमतर नहीं हूं। लेखक के रूप में मुझमें और आपके दरमियान विभिन्नता महज़ इतनी मात्र ही नहीं कि मैं स्त्री हूं और आप पुरुष हैं। हम दोनों के अलग-अलग व्यक्तित्व को ढालने वाले कई और भी तत्त्व हैं। आनुवांशिक पारिवारिक स्थितियाँ, परिस्थितियाँ, वातावरण, शिक्षा, आजीविका यह सभी लेखक के रचनात्मक पर्यावरण

में दूरगामी हिस्सेदारी करते हैं।"[43] स्त्री लेखन को सीमित अनुभव का मानना, तथा उसके प्रस्तुतिकरण का साहित्यिक मूल्यों पर हल्का बैठना कुछ ऐसी बातें हैं, जो सोबती के पूर्व-निर्धारित दृष्टिकोण को ही प्रकट करते हैं। महिला लेखन को एक नई या अलग श्रेणी इसलिए नहीं चाहिए कि वह रचनात्मक रूप से नया है, बल्कि इसलिए अलग क्रमांक चाहिए क्योंकि महिला लेखन, अब तक के साहित्यिक जगत में अनुपस्थित स्त्री-सत्य को सामने ले कर आया है। अपेक्षाकृत नया वर्ग होने की वजह से पुंसवादी आलोचक यदि अपने सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों पर तौलें, तो महिला लेखन उन्हें हल्का लग सकता है, लेकिन यदि बिना किसी पूर्वाग्रह के यदि वे स्त्री-लेखन का मूल्याँकन करें, तो वह उन्हें इतना हल्का और एकाँगी नहीं लगेगा।

स्त्री-लेखन की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए राजेंद्र यादव कहते हैं, "साहित्य में स्त्री-पुरुष या दलित-सवर्ण के भेद से इनकार करना मीरा और सूरदास या कबीर और तुलसी को घिस-ठोक कर एक कर देना है। दूसरे शब्दों में यह वर्चस्ववादी सवर्ण मानसिकता या पुरुष व्यवस्था में सुर-में-सुर मिलाने का दबाव है। जिस तरह एक दलित को जन्म और जाति के अपमान से निरन्तर गुजरना पड़ता है या अल्पसंख्यक को बाहरी होने के दंश को झेलना पड़ता है उसी तरह न जाने कितनी यंत्रणाएँ हैं जिन्हें सिर्फ स्त्री ही भोगती है। मासिक धर्म, प्रजनन, बलात्कार, परनिर्भरता जैसे न जाने कितने अनुभव हैं जिन्हें स्त्री के सिवा कोई नहीं जानता। वे 'शेष समाज' से अलग होने के लिए मजबूर हैं। वस्तुतः मौखिक समानता के आश्वासनों की बजाय अपने 'अलगावों' के साथ ही दलित, स्त्री, पुरुष समाज में अपनी जगह बनाते रहे हैं"[44]

स्त्री-लेखन पर लगाये जाने वाले एकांगिता के आरोप का प्रत्युत्तर देती हुई प्रभा खेतान कहती हैं, "अधिकतर लेखकों के अनुसार स्त्री-लेखन की सीमा उसके स्त्री होने में निहित कारणों में हैं। चूंकि वह स्त्री है, अतः उसकी दृष्टि संकीर्ण होगी, उसके अनुभव का जगत संकुचित होगा, उसकी आलोचनात्मक क्षमता

तत्त्वमीमांसीय नहीं हो पाएगी। हिन्दी-जगत में कोई जूडिथ, जूलिया क्रिस्टोवा या गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक क्यों नहीं हुई? लेकिन इसके लिए जिम्मेदार कौन है? क्या इस पर विचार किया जाएगा? किस सामाजिक परिवेश में ऐसा घटा? किन-किन जोखिमों से हिन्दी समाज की स्त्री को गुजरना पड़ता है? क्या महिला-लेखिकाओं को दोष देने के बदले कोई लेखक-आलोचक इस पर और गहराई से सोचने की चेष्टा करेगा?"[45]

चित्रा मुद्गल के अनुसार "सिद्धांत रूप से लेखन लेखन होता है, नर-मादा नहीं। उसे नर-मादा के खाँचों में बाँटकर देखने वाली दृष्टि पूर्वग्रहग्रस्त है।"[46] यहाँ पर जानना आवश्यक है कि क्यों अपने लिए एक अलग जगह की माँग करना, स्त्री-लेखन के लिए अनावश्यक है एवं उसे संकीर्ण ठहराए जाने के लिए काफी? प्रभा खेतान जानना चाहती हैं कि, "आलोचना के भीष्म पितामह लोग भी नारी लेखन पर चुप्पी क्यों साधे रखते हैं?"[47] पुरुष लेखकों की पुंसवादी मानसिकता पर प्रकाश डालते हुए वे कहती हैं, "शरत ने देवदास की पीड़ा के बदले यदि पारो के ऊपर कुछ अधिक लिखा होता, या फिर इस बूढ़े पति को फेंककर देवदास के साथ नहीं तो किसी और के साथ पारो का ब्याह कर दिया होता तो शायद किसी अन्य 'पारो' को भी प्रेरणा मिलती। उसमें साहस जगा होता। .....मगर ऐसा हुआ नहीं। शरतचंद्र लेखक बाद में थे, पुरुष पहले और पुरुष व्यवस्था से अनुकूलित उनका मानस स्त्री समस्या की गहराई में बहुत दूर तक नहीं जा पाया। वे गृहदेवी और वेश्या के द्वैत में ही फँसे रह गए। पारो कभी नहीं कह सकी कि इस दुनिया का चुनाव मैंने नहीं किया, यह दुनिया मुझ पर आरोपित है। लेखक अपनी कलम से मेरे लिए विकल्प में एक और दुनिया की निर्माण क्यों नहीं करता?"[48]

समाज एवं संस्कृति द्वारा किए गए स्त्री के दोहन को वर्णित करती हुई प्रभा खेतान कहती हैं, "पुराण स्त्री-मुक्ति का कोई उदाहरण हमारे सामने नहीं

रखते। सीता और सावित्री की चर्चा करते हुए संस्कृतिवादी अघाते नहीं, पर माधवी की व्यथा पर वे खामोश रहते हैं।"[49]

स्त्री-लेखन का दूसरा अंतर्विरोध यह है कि पुरुषों द्वारा स्त्री के लिए किए गए लेखन को किस श्रेणी में रखा जाए? आज के दौर में राजेंद्र यादव, अरविन्द जैन, सुधीश पचौरी एवं राजकिशोर जैसे पुरुष रचनाकारों एवं आलोचकों द्वारा स्त्री के लिए काफी कुछ लिखा जा रहा है, एवं स्त्री-लेखन को गंभीरता से विश्लेषित करने का प्रयास किया जा रहा है। अतः इनके लेखन को किस खाँचे में रखा जाए, पुरूष या स्त्री-लेखन? यह प्रश्न गंभीर विश्लेष्ण की अपेक्षा रखता है।

स्त्री के लिए किया गया पुरुषों द्वारा लेखन आज नारीवादी रचनाकारों द्वारा महिला-लेखन के अंतर्गत नहीं रखा जाता। लेकिन गंभीरता से सोचें तो सिर्फ स्त्री के लिए रचा गया, या उसे केन्द्र में रखकर रचा गया साहित्य ही स्त्री-लेखन नहीं है। स्त्री लेखन के अंतर्गत वही लेखन आ सकता है, या आना चाहिए, जिसके मूल में स्त्री-दृष्टि हो। स्त्री-दृष्टि का तात्पर्य यहाँ स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखना है, किसी अन्य की दृष्टि से नहीं। 'मुझे चाँद चाहिए' सुरेन्द्र वर्मा द्वारा रचित एक चर्चित एवं प्रशंसित उपन्यास है, जिसके लिए रोहिणी अग्रवाल कहती हैं कि, "पुरुष द्वारा लिखा होने की वजह से हिन्दी आलोचना इसे महिला-लेखन नहीं मानती।"[50] लेकिन ऐसा नहीं कि सिर्फ यही एक कारण इस उपन्यास को महिला-लेखन के अंतर्गत नहीं रखे जाने का है। सुरेन्द्र वर्मा, जब एक मध्यवर्गीय परिवार एवं कस्बे की सिलबिल को सिने तारिका वर्षा वशिष्ठ बना देते हैं, तब उसके संघर्ष और सफलता के बीच एक रिक्तता रह जाती है। एक मध्यवर्गीय लड़की सिलबिल, जिस प्रकार से अपने प्रेमी बदलती है, एवं सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ती जाती हैं, वह बहुत विश्वसनीय नहीं है। सिलबिल के संघर्ष का यहाँ सिर्फ बाह्य चित्रण ही दिखता है, लेकिन उसके मन में उठनेवाले अंतर्द्वंद्वों की कोई सूचना सामने नहीं आती। वर्षा के सामने न तो नैतिक-अनैतिक का कोई प्रश्न है, ना ही

किसी प्रकार की कोई वर्जना। जिस उन्मुक्त भाव से वह हर्ष एवं सिद्धार्थ से संबंध बनाती है, वह यह सोचने पर विवश कर देता है कि सुरेंद्र वर्मा ने वर्षा के मनोभावों, उसके अंतर्द्वंद्वों को पकड़ने का कोई प्रयास क्यों नहीं किया। यहाँ वर्षा का संघर्ष एवं शोभा डे की 'स्टारी नाइट्स' की नायिका आशारानी का संघर्ष काफी साम्यता रखते हुए दिखते हैं। इन दोनों ही रचनाओं के मूल में वह स्त्री-दृष्टि नहीं दिखती, जो कि स्त्री लेखन की अनिवार्य शर्त हैं।

स्त्रीवादी लेखन के अंतर्गत पुरूष रचनाकारों द्वारा रची गई वैसी रचनाओं को भी रखा जाना चाहिए, जो स्त्री-दृष्टि को ध्यान में रखती हों। किसी रचना को स्त्री-लेखन में सिर्फ इसलिए शामिल नहीं करना, क्योंकि वह पुरूष द्वारा रची गई है, उसी पूर्वाग्रह का उदाहरण प्रस्तुत करना है, जिसके तहत पुरुष आलोचकों द्वारा स्त्री-लेखन को एकाँगी एवं हल्का साबित किया जाता रहा है। इसी प्रकार सिर्फ स्त्री द्वारा लिखी होने की वजह से कोई रचना 'स्त्री-लेखन' के अंतर्गत नहीं आनी चाहिए। रोहिणी अग्रवाल का मानना है कि महिला-केंद्रित हर रचना महिला-लेखन नहीं होती। उनके अनुसार, "सुहाग के नूपुर ठीक उसी प्रकार 'महिला लेखन' नहीं, जिस प्रकार झूला नट (मैत्रेयी पुष्पा) और एक पत्नी के नोट्स।.... सभी छोटी-बड़ी साहित्यिक पत्रिकाओं में इन दोनों उपन्यासों की चर्चा 'महिला लेखन' के बैनर तले ही हुई हैं। लेकिन पुरुष की क्रूरताओं, स्त्री की मजबूरियों, उन मजबूरियों के बीच अपने अस्तित्व-रक्षण के लिए जगह बनाने की कुटिल साजिशों या हताश समर्पण के अतिरिक्त इन उपन्यासों में क्या है? बेशक हवेलियों और हरमों में परवान चढ़ने वाली जालसाजियाँ कड़वी सच्चाईयाँ हैं जिनसे आँख नहीं मूंदी जा सकती। लेकिन उसके लिए जिम्मेदार व्यक्ति/संस्था/व्यवस्था को, सांकेतिक ढंग से ही सही, चित्रित करने की जरूरत पर बल क्यों नहीं? क्यों औरत ही औरत की दुश्मन होती है का मिथ खड़ा करके सच्चाईयों को गुमराह करने की कोशिशें की जाती है?"[51] साहित्य का उद्देश्य जड़ीभूत व्यवस्था में बदलाव का भी होता है। वह उन सबकी आवाज को स्वर देता है, जिन्हें हाशिए

पर धकेल दिया गया है। दमनकारी व्यवस्था के तंत्र को समझना, तथा उसके खिलाफ विद्रोह करना भी साहित्य के महती उद्देश्यों में से एक है। अतः रोहिणी अग्रवाल प्रश्न करती हैं, "शीलो (झूला नट) एक हद तक अपनी चालबाजियों के लिए बेगुनाह ठहराई जा सकती है, लेकिन आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और सुशिक्षित कविता (एक पत्नी के नोट्स) की लाचारगी और बेचारगी की ठोस वजह? आई.ए.एस. पति से मिलने वाली सुविधाएँ? अपनी निजी सामर्थ्य के प्रति शंका? समाज का भय?"[52]

रचनाकार को परकाया-प्रवेश करने वाला माना जाता है। स्त्री-लेखन और दलित-लेखन, दोनों ही स्वानुभूति पर जोर देते हैं। यह सच है कि सहानुभूति, स्वानुभूति का विकल्प नहीं हो सकती। लेकिन कई बार ऐसी स्थिति बन जाती है, जब लेखन के घोर क्षणों में रचनाकार स्त्री या पुरुष नहीं रहा जाता, एवं अशरीरी बन जाता है। उसकी लैंगिक पहचान तो खो ही जाती है, साथ ही वह वर्ग और वर्ण की सीमाओं का अतिक्रमण भी कर जाता है। उसकी सिर्फ एक ही भूमिका रह जाती है, वह है सर्जक की। उदाहरण के लिए, सूरदास की 'सूरसागर' पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल की यह टिप्पणी कि वात्सल्य के जिस महासागर को एक नारी के हृदय में लहराना था वह एक पुरुष के हृदय में इतने वेग और रफ्तार के साथ लहराया। इसी प्रकार 'A suitable Boy' में विक्रम सेठ ने किशोरावस्था के दौरान लता के अंदर गुजर रही शारीरिक एवं मानसिक हलचलों को जिस शिददत के साथ व्यक्त किया है, वह अचंभित कर देने वाला है। एक पुरुष हो कर भी स्त्री के आंतरिक अनुभवों का ऐसा यथार्थ वर्णन ढूंढना मुश्किल है। इन दोनों ही उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि रचनाकार कई बार वर्ण, जाति, लिंग, समय एवं स्थान जैसे पदों को लाँघ कर अशरीरी हो जाता है, चारों तरफ से मुक्त एक सर्जक, और तब रचना उस मनोस्थिति को बखूबी प्रकट करती है, जिन्हें चित्रित करने का उसका प्रयास होता है। यद्यपि ऐसी स्थितियाँ बहुत कम आती हैं, लेकिन उनके आने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में पुरुष द्वारा

स्त्री को केंद्र में रखकर किए गए लेखन को स्त्री-लेखन के दायरे से बाहर नहीं किया जा सकता।

स्त्री-लेखन का तीसरा प्रमुख अंतर्विरोध यह है कि जिस लेखकीय तटस्थता की उम्मीद रचनाकार से की जाती है, आज अधिकाँश महिला रचनाकारों के यहाँ वह अनुपस्थित है। एक तरह की आत्ममुग्धता की स्थिति सी बन गई है स्त्री-लेखन में। एक तरफ तो स्त्री की दृष्टि से स्वयं को देखने का प्रयास स्त्री-लेखन के मूल में हैं, लेकिन व्यवहार में केंद्र में होता है पुरूष। राजेंद्र यादव के अनुसार, "लेखन अपने को तटस्थ होकर देखने की निगाह देता है। औरत अपने आपको अपनी नहीं, पुरुष की निगाह से देखती है और उसी की दृष्टि में अपनी तृप्ति या होने का संतोष खोजती है। यह अपनी धुरी को छोड़कर 'दूसरे' की दृष्टि में खोजना है, 'दूसरा' हो जाना है। लेखकीय तटस्थता का अर्थ अपनी धुरी या केन्द्र पर बने रहकर दूसरे की दृष्टि से अपने को समझना है। ...नारी लेखन में 'दूसरे' यानि पुरुष की निगाह में अपना विसर्जन, एक विशेष पुरुष रवैये या रूढ़िवादी दृष्टिकोण का अनुमोदन है। यह अनुमोदनवादी या कन्फर्मिस्ट साहित्य लेखन रूढ़ियों के 'आस-पास' ही घूमता है, दयनीय विद्रोह का भ्रम देता हुआ। स्त्री जब तक 'अन्या' है या आत्मस्थ नहीं है, न वह अपने को अपनी निगाह से देख सकती है, न जी सकती है।"[53] पुरुषों की दृष्टि को केन्द्र में रखकर रचना करने का नतीजा यह होता है कि, "हिन्दी की लोकप्रिय लेखिकाएँ वही सब लिखती हैं जो हमें चाहिए– प्रेम और सपनों में डूबी हुई नायिकाएँ-यातनाओं के बीच आत्मबलिदान और त्याग की मूर्तियाँ, ममतामयी माएँ, गलतफहमियों के बीच मरती,-जीती, अनसमझी 'मासूम आत्माएँ' ....समाज के अत्याचारों की शिकार, गलत जगह जीनेवाली देवियाँ.... आत्मधिक्कार के काँटों की शैया पर शहीद।"[54]

एक तरफ स्त्री-लेखन पुरुष वर्चस्ववाद से मुक्ति की बातें करता है, दूसरी तरफ उसी पुरुष वर्ग से अपने लेखन का अनुमोदन भी चाहता है। ये दो विरोधी

स्थितियाँ, स्त्री-लेखन के दायरे को सीमित कर रही है। इसके कारण की विवेचना करते हुए राजेंद्र यादव कहते हैं, "सदियों की गुलामी, सामाजिक स्थिति और असुरक्षा में बने रहने ने, नारी के सारे आत्मविश्वास को छीन लिया है। उसे अपने 'होने' और बनने की हर स्थिति में पुरुष की स्वीकृति, समर्थन चाहिए।"[55] साथ ही, स्त्री-लेखन कई बार उन खतरों से भी बचने का प्रयास करता है, जो कि एक लेखक का प्रमुख रचनाधर्म होता है। एक तरफ सभी को खुश रखने का प्रयास, तो दूसरी तरफ अपनी 'सती सावित्री' की इमेज का ख्याल, बच्चों का लिहाज, सामाजिक स्थिति की चिंता, ये कुछ ऐसी बातें हैं, जो कि स्त्री-लेखन को एकांगी बना रही है, कमजोर कर रही हैं। राजेन्द्र यादव के अनुसार, "नैतिक, आर्थिक और सामाजिक सुरक्षाओं के बीच ईमानदार बने रहने की यह जोड़-तोड़ साहसिक की जगह महिला लेखन को एक खास चालाकी और चतुरता-भरा, नकली, आत्मपीड़क, आत्मछल या 'आत्मधिक्कार' का लेखन बना देती है। एक तो सदियों की कैद के कारण वैसे ही महिलाओं की बातचीत या लेखन का दायरा बहुत सीमित है, वहीं पति, बच्चे, सास, ननद, और पड़ोसी, नौकर, मेहमान, गहने-कपड़े, आत्मप्रशंसा, अकेले और अनसमझे होने की यातना और आत्मदया-और 'फिर वहाँ भी 'टुकड़ों में बँटी ईमानदारी' – सुरक्षित भूमियों में डरते-डरते बढ़ना और फिर सहमकर वापस अपने घोंसले में लौट आना...।"[56]

स्त्री-लेखन को कई बार देह-मुक्ति का पर्याय मान लिया जाता है। समकालीन महिला लेखन में देह की मुक्ति एक प्रमुख प्रश्न बन कर उभरी है। इसके पीछे के कारण यह है कि आज तक जिन दो मोर्चों पर पुरुष, स्त्री को मात देता आया है, वे हैं अर्थ और सेक्स। अतः यदि अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष, करती हुई, आत्मनिर्भर स्त्री महिला-लेखन में बार-बार उपस्थित हुई है, तो उतनी ही चित्रित हुई हैं उसकी देह भी। चूंकि पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था में स्त्री को हमेशा देह से जोड़कर देखा गया, इसीलिए नारीवादी आँदोलन में देह की

मुक्ति पर जोर दिया गया। स्त्री-लेखन ने भी अपनी प्रेरणा नारीवादी आँदोलन से ही ली, अतः देह का प्रश्न, लेखन में बार-बार उकेरा गया।

रचना तथा चिंतन, इन दोनों ही स्तरों पर, स्त्री-लेखन में देह को केंद्र में रखा गया है। मृदुला गर्ग के 'चित्तकोबरा' में पति-पत्नी के सहवास का लम्बा चित्रण है। यहाँ पति, पत्नी को एक शरीर से ज्यादा कुछ नहीं समझता, जबकि पत्नी स्वयं को उपयोग में आनेवाली चीज से ज्यदा कुछ नहीं मानती। 'चित्तकोबरा' पर अश्लीलता के आक्षेप भी लगे, तथा उस प्रसंग को उचित ठहराने के कई प्रत्युत्तर भी। लेकिन कई बार ऐसा लगता है, कि देह की मुक्ति के नाम पर एक संशय या भ्रम की स्थिति, साहित्यिक जगत में फैलाई जा रही है। एक बंधा-बंधाया सा पैटर्न दिखता है आज की कई स्थापित लेखिकाओं के यहाँ, जिसमें स्त्री-मुक्ति को देह- मुक्ति से ही जोड़ कर देखे जाने की प्रवृत्ति उभर कर आई है। कई बार यह लगता है कि मृदुला जी ने अगर यह प्रसंग संक्षिप्त कर दिया होता और अनावश्यक रूप से इतना लम्बा न खींचा होता तो इससे उपन्यास की पठनीयता पर तो कोई आँच नहीं आती। लेकिन हाँ, वैसे कई पाठक जरूर कम हो जाते, जिन्हें ऐसे 'बेडरूम प्रसंगों' में रूचि होती है। मैत्रेयी पुष्पा, चित्तकोबरा के डिफेंस में कहती हैं, "....पूछने का मन होता है कि मृदुला गर्ग के 'चित्तकोबरा' पर हाय-हाय क्यों मची? भई पति–पत्नी प्रसंग था। इस संबंध में अंतरंग दृश्य क्या होते हैं, कौन नहीं जानता? और वहाँ उससे ज्यादा था क्या? इतना ही न कि किसी संसर्गरत पति-पत्नी के बेडरूम का दरवाजा खुला रह जाए। अक्सर रह भी जाता है, क्योंकि उस संबंध में और कुछ हो या न हो, लेकिन निश्चिंतता, सामाजिक स्वीकृति भरपूर होती है। सो स्त्री द्वारा कहा जा सकता है कि वह किसी गैर मर्द के साथ नहीं थी। संभवतः पाठकों को उस वर्णन की भाषा पर ऐतराज रहा हो, जिसकी कोई जरूरत न थी। चलो पति के साथ ही सही, मृदुलाजी ने वर्णन करने की साहसिकता दिखाकर स्त्री-मुक्ति का संतोष हासिल कर लिया, जबकि वर्जना

के नाम पर औरत के जीवन में गैर मर्द ही अभिशाप है।"[57] यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्यों सहवास के लंबे, उन्मुक्त वर्णन को मैत्रेयी पुष्पा स्त्री-मुक्ति से जोड़ती है? क्या स्त्री-मुक्ति सच में इतने ही संकुचित दायरे में परिभाषित करने लायक शब्द हैं? पाठकीय ऐतराज न केवल वर्णन की भाषा तक ही सीमित है, बल्कि वर्णन की लंबाई को ले कर भी है। अनावश्यक रूप से लंबे किए गए बेडरूम प्रसंग की सार्थकता को किस प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है, यह प्रश्न अनुत्तरित है।

नैतिकता के तथाकथित प्रतिमानों के विषय में यह कहा जाता रहा है कि वे पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए अलग-अलग हैं। इतिहास एवं साहित्य, कहीं भी प्रतिमानों की इस भिन्नता को आसानी से देखा जा सकता है। प्रायः सभी युगों में शासक वर्ग के लिए स्त्रियाँ बहुलता में उपलब्ध होती थीं, अंतःपुर या 'हरम' में । लेकिन ऐसा सिर्फ पुरुषों के अधिकारक्षेत्र के अंतर्गत ही था। किसी स्त्री-शासिका के लिए ऐसा सोचना या करना असंभव एवं अकल्पनीय था, और अकल्पनीय है। साहित्य या इतिहास में यदि कोई स्त्री स्वतंत्र रूप में आई है, तो वह वेश्या ही है। यशपाल की 'दिव्या' को बौद्ध संघ में प्रवेश की अनुमति नहीं मिलती, क्योंकि वह स्वतंत्र नहीं है। उसके पिता की मृत्यु हो चुकी है, पति का पता नहीं, तथा पुत्र अभी गोद में है। भारतीय समाज में नारी की प्रस्थिति का पता चलता है 'दिव्या' से। धर्म के द्वार भी उस स्त्री के लिए बंद है, जो परतंत्र है। जाहिर तौर पर, स्त्री की इसी परतंत्रता की बेडियों को काटने का संकल्प लेकर स्त्री-लेखन सामने आया है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि नैतिक के जिन प्रतिमानों का पालन न करने की वजह से पुरुष वर्ग की आलोचना की जाती रही है, उन्हीं को तोड़ने का काम स्त्री-लेखन में भी हो रहा है।

मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' उपन्यास की सारंग अपने बेटे के शिक्षक, श्रीधर के साथ न केवल संबंध बनाती है, बल्कि संबंध की पहल भी करती है। गौरतलब यह है कि उसका पति रंजीत न तो उससे विमुख है ना ही किसी अन्य स्त्री से उसके

संबंध हैं। फिर ऐस स्थिति में सारंग का संबंध के लिए पहल करना कहाँ तक उचित है? पति को धोखा देकर वह कौन सा आदर्श उपस्थित कर रही है परिवार या समाज के समक्ष? इसके साथ ही, वह परिवार को छोड़ना भी नहीं चाहती, जाहिर सी बात है कि आर्थिक सुरक्षा एवं सामाजिक संरक्षण के निश्चित ठिकाने को छोड़ना सारंग को हितकर नहीं लगा। निर्मला जैन के अनुसार, "'चाक' के मास्टर श्रीधर और सारंग का मिलना परिस्थितियों की सहज परिणति है और सारंग का पहल करना जैसे सेक्स वृत्तान्त में उसके बराबर का हिससेदार होने का सबूत है।"[58] यहाँ श्रीधर पर हमला करवाने वालों में सारंग का पति रंजीत भी शामिल है। लेकिन क्या इस बिना पर सारंग इतनी छूट ले सकती है कि पति के रहते हुए भी किसी पर पुरुष से संबंध बनाए? क्या स्त्री-लेखन और पुरुष लेखन का यही फर्क है कि जहाँ एक स्त्री को अधिक से अधिक मर्यादित बनाने की कोशिश करे तो दूसरा अधिक से अधिक अमर्यादित? जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की मृणाल अपने विवाह पूर्व प्रेम संबंध के विषय में पति को बता देती है, जिसके बाद उसे लांछित कर घर से निकाल दिया जाता है। अंत में, तपेदिक की शिकार हो कर, वह एक कोयलेवाले के साथ चली जाती है और छिज-छिज कर मृत्यु को प्राप्त होती है। जैनेंद्र के ऊपर गांधीवादी होने का चस्पाँ लगाकर बड़ी आसानी से कहा जा सकता है कि मृणाल का सत्याग्रह एक यूटोपिया के सिवा कुछ नहीं। लेकिन क्या सारंग को कहीं इस बात का अंदेशा है कि उसका सच जानने के बाद पति उसे माफ करने वाला नहीं। इसलिए वह एक बड़ा ही व्यवहारिक निर्णय लेती है, अपने प्रेमसंबंध को छुपा कर एवं अपना घर न छोड़कर।

'अल्मा कबूतरी' में भी कदमबाई और मनसाराम के बीच का संबंध कुछ ऐसा ही है। मनसाराम, रात के अँधेरे का फायदा उठाकर कदमबाई के पास आता है, उसके पति के स्थान पर। कदम, जो कि अपने पति का इंतजार कर रही थी, मनसाराम को पहचान कर भी नहीं पहचानती है। कदमबाई, मनसाराम की मंशा को जान कर भी उससे संबंध बनाते नहीं हिचकती। इस तरह के प्रसंगों से स्त्री

की कौन सी मानसिकता सामने आती है? क्षणिक सुख या सुविधाओं के लिए तनिक इधर-उधर करने का खेल या फिर कुछ और? राजेंद्र यादव के अनुसार, 'गोमा हंसती है', 'मायामृग', 'इदन्नमम', 'चाक' की दुनिया की शायद ही कोई ईमानदार नारी कथा हो जो अंततः सेक्स-कथा न हो। जिस समाज में हजारों साल से नारी को सिर्फ सेक्स बनाकर रखा गया हो, वहाँ सेक्स-विहीन नारी-कथा या तो हवाई आदर्शवाद है या जान-बूझकर गढ़ा गया झूठ। पुरुष सेक्स की चर्चा उसकी मर्दानगी या पुरुषार्थ की शौर्यगाथा है, स्त्री-सेक्स अश्लीलता-श्लीलता की एकमात्र कसौटी।"[59] लेकिन प्रश्न यहाँ श्लील या अश्लील का नहीं है। नैतिकता के जिन प्रतिमानों का पुरुष-वर्ग जब पालन नहीं करता, तो उसकी आलोचना करने वाला स्त्री-लेखन जब स्वयं उन्हीं प्रतिमानों को तोड़ता है, तो स्त्री लेखन के अंतर्विरोध सामने आते हैं।

एक तरफ मृदुला गर्ग जैसे लेखिकाएँ यह कहती हैं कि 'स्त्री को सेक्स मुक्ति नहीं, सेक्स से मुक्ति'[60] चाहिए, लेकिन अपनी रचनाओं में वे सेक्स से मुक्ति का कोई प्रयास करती नहीं दिख पड़ती। आधुनिक स्त्री-लेखिकाओं के यहाँ देह का यह प्रश्न इतनी बार और इतनी प्रभुत्वता से उभरा है कि लगता है कि 'देह' के अलावे और कोई प्रश्न, स्त्री के लिए महत्वपूर्ण ही नहीं रह गया है। उषा प्रियंवदा की 'अंतर्वंशी' में राहुल और वाना का प्रसंग भी कुछ ऐसा ही है। वाना अपने पति को पसंद नहीं करती और पति के मित्र राहुल को पसंद करती है, जिसे उसने विवाह के पूर्व देखा भी है। लेकिन विवाहोपरांत जब वाना अमेरिका आती है, तो ऐसी स्थितियाँ बन जाती हैं, या फिर लेखिका द्वारा बना दी जाती है, कि वाना और राहुल को साथ रहने का मौका मिल सके। दोनों के बीच प्रबल शारीरिक आकर्षण है। यह आकर्षण इतना बढ़ जाता है कि दोनों के मध्य संबंध बन जाते हैं। वाना का पति शिवेश गोली मारकर आत्महत्या कर लेता है, जबकि वाना अपने दोनों बच्चों के साथ राहुल के पास चली जाती है। वाना के पति शिवेश का दोष इतना ही था कि वह राहुल की तरह व्यक्तित्ववान आकर्षक एवं

बुद्धिमान नहीं था। इस तरह के संबंधों द्वारा समकालीन स्त्री-लेखन उन्मुक्त यौन संबंधों की वकालत ही कर रहा है, नारी-स्वातंत्र्य के नाम पर । यह भी एक प्रकार का अतिवाद ही है, कि जिस नैतिक मर्यादा का पालन नहीं करने के लिए पुरुषवर्ग दोषी माना जाता है, उसी का उल्लंघन स्त्री-वर्ग करे।

यौन क्रांति का भविष्य क्या होगा, यह चित्रित हुआ है सातवें दशक के एक गीत में, जिसे सुधीश पचौरी ने उद्धृत किया है अपनी पुस्तक 'स्त्री-देह के विमर्श' में,

"मैंने गोली ले ली है।
मैंने अपनी स्कर्ट जाँधों के ऊपर उड़ा दी है
मैंने विश्वविद्यालय में विद्रोह किया है
अमेरिकी दूतावास को गाली दी है
दो मर्दों के साथ रह चुकी हूं
एक से शादी की है,
जो कमाती हूं सो मेरा है
मैंने अपनी अस्मिता बरकरार रखी है
और सच कहूं
मैं खो गई हूँ
"अपने को पृष्ठ 38 पर पाती हूं।"[61]

भूमण्डलीकरण एवं उपभोक्तावाद के वर्तमान दौर ने नारी-मुक्ति को देह-मुक्ति का पर्यायवाची बना दिया है। सुधीश पचौरी के अनुसार, "....पश्चिम में नारी मुक्ति के प्रश्न मूलतः सेक्स-क्रांति' का प्रयोग बना दिए गए। जाहिर है कि उसके पीछे पश्चिम के देशों के नए ताकतवर हो रहे विश्व पूंजीवाद और बाजारवाद का हाथ रहा। सेक्स के केंद्र में आने के बाद जो परिवर्तन हुए वे 'नारीमुक्ति' की ओर तो कम गए, पूंजीवाद के फलने-फूलने में ज्यादा मददगार

हुए। उपभोक्तावाद ने पूंजीवाद को मजबूत किया। पूंजीवाद ने मनुष्य के 'लिबिडो' को मुक्त किया, उसे कामनाओं के संसार में खोल दिया और मनुष्य को शुद्ध इंद्रियों का ढाँचा बना दिया।"[62]

स्त्री-लेखन को दैहिक-विमर्श तक ही सीमित कर देने के कई प्रयास आज दिख रहे हैं। ऐसे कई महत्वपूर्ण मुददे हैं, जिन्हें स्त्री-लेखन में जगह मिलनी चाहिए, मसलन पर्यावरण, बाल-श्रम, भूमंडलीकरण, सांप्रदायिकता इत्यादि। इस दिशा में कुछ महिला रचनाकारों के प्रयास सराहनीय हैं। नासिरा शर्मा की 'कुँईयाजान' उपन्यास में जल-संकट और अकाल से जूझते समाज की तस्वीर प्रस्तुत की गई है। धर्म एवं सांप्रदयिकता पर गीतांजलि श्री की 'बेलपत्र' कहानी तथा कमलेश बख्शी की 'आओ दंगा-दंगा खेलें' उल्लेखनीय हैं। परंतु इसके बावजूद ये प्रयास अभी व्यापक स्तर पर होने चाहिए। साथ ही, विज्ञान-कथाओं का भी अभाव रहा है स्त्री-लेखन में। विज्ञान कथा तथा रहस्य-रोमाँच से युक्त रचनाओं का भी सृजन किया जाना चाहिए।

एंडीबी रीच ने लिखा है, "स्त्री-संघर्ष का समस्त इतिहास सदियों से चुप्पी में डूबा हुआ है। किसी भी स्त्रीवादी लेखिका के लिए सबसे बड़ी सांस्कृतिक बाधा यह आती है कि प्रत्येक स्त्रीवादी लेखन शून्य से पैदा हुआ जान पड़ता है, जैसे कि हममें से प्रत्येक बिना किसी ऐतिहासिक अतीत संदर्भयुक्त वर्तमान के जीते, सोचते और काम करते है। यह उन कई रास्तों में से एक है जिनमें स्त्री के काम को विच्छिन्न, अनियमित और अपनी किसी भी परंपरा से यतीम मान लिया जाता है।"[63]

स्त्री-लेखन के सामने एक बड़ा प्रश्न है सांस्कृतिक शून्यता के इस यथास्थितिवाद का तोड़ने का।

(ग) समकालीन परिदृश्य और कृष्णा सोबती

समकालीन स्त्री लेखन पर नारीवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है। नारीवाद सिर्फ एक विचारधारा या आंदोलन नहीं है, बल्कि एक व्यापक जीवनदृष्टि है, जिसका दखल सिर्फ साहित्य तक नहीं, वरन, इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान जैसे सभी अनुशासनों में है। नारीवाद, समाज में स्त्री की स्थिति का विरोध करता है, तथा एक वैकल्पिक व्यवस्था की खोज पर बल देता है।

लिंग विभेदीकरण तथा पितृसत्तात्मक मानसिकता ने स्त्री-जीवन को इतना हेय माना, एवं उसे इतना दमित और शोषित किया कि वह मानव न रहकर कोई वस्तु या चीज बन गई, जिसकी गुणवत्ता, उपयोगिता की कसौटी थी। स्त्री को चीज़ के स्थान पर मनुष्य के रूप में स्वीकृति दिलाने का प्रयास नारीवादी विमर्श ने किया है। समाज में स्त्री की प्रस्थिति को सुधारने के लिए सामाजिक जड़ता को तोड़ना अतिआवश्यक है। इसके लिए सामाजिक जीवन तथा सोच में परिवर्तन अपेक्षित है। इस सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक बौद्धिक उष्मा की निर्मिति का मार्ग प्रशस्त किया है समकालीन स्त्री रचनकारों ने। इन रचनाकारों ने नारी-जीवन के अनेक अनछुए संदर्भों को अपनी रचनाओं को विषय बनाया है, तथा नारी की सामाजिक हैसियत के पुर्नर्निधारण का प्रयास किया है।

स्त्री के प्रति सदियों से चली आ रही सामाजिक विभेदीकरण की मानसिकता ने उसे सिर्फ एक देह के रूप में परिभाषित किया है। अधुनातन महिला-लेखन, नारी को उसकी देह परिधि से बाहर निकालकर उसे एक स्वतंत्र, सजग एवं सर्जनात्मक व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है। स्त्री की पहचान का केंद्र रही उसकी देह। राजेंद्र यादव के अनुसार, "पुरुष की अपेक्षा स्त्री अपनी देह में ज्यादा कैद है। वह अपने शरीर से ऊपर उठना या उसे भूलना भी चाहे, तो न प्रकृति उसे ऐसा करने देगी, न समाज। उसका सारा सामाजिक मूल्याँकन सबसे पहले उसके शरीर का मूल्याँकन है। गुण तो बाद में आते हैं। वह एक ऐसी 'दृश्य-वस्तु' है, जिसे अपनी सार्थकता पुरुष की निगाह से सुंदर और

उपयोगी लगने में ही पानी है।"[64] देह केंद्रित भाव की पुरुषवादी समझ की आलोचना सिमोन द बोउवार द्वारा 'द सेकेंड सेक्स' में कीग ई है। सिमोन के शब्दों में "औरत? औरत के लिए कोई स्वप्न द्रष्टा एक बड़ा ही सीधा फार्मूला उच्चारित करता है। औरत? औरत एक गर्भ है, अँडाशय है और एक औरत है, ये शब्द काफी है, उसको परिभाषित करने के लिए। पुरुष के मुँह से औरत शब्द एक अपमानजनक ध्वनि रखता है।"[65]

नारी को केवल उसके शरीर द्वारा पहचानने तथा इस आधार पर उसे पुरुष आधिपत्य में रखने की नीति और मानसिकता के विरूद्ध समकालीन महिला रचनाकारों ने प्रतिवाद दर्ज करने की कोशिश की है। स्त्री को देह के आधार पर परिभाषित करने के विरूद्ध विद्रोह का प्रथम स्तर देह का ही था। नारी देह विमर्श समकालीन महिला रचनाकारों की रचना दृष्टि का केंद्रित विषय रहा है। ऐसा माना जाता है कि चूंकि पुरुष ने सदियों से स्त्री की देह को अपना उपनिवेश बनाया, अतः पुरुष दासत्व से मुक्ति का प्रथम चरण हुआ देह की मुक्ति।

(1) देह-मुक्ति

समकालीन महिला लेखिकाओं ने नारी देह और उससे संबंधित राजनीतिक चालों को अपनी रचनाओं के माध्यम से सामने रखा है। स्त्री की यौनिकता के प्रश्न को उठानेवाली प्रमुख रचनाकार हैं मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा एवं प्रभा खेतान। यौन संबंधी सामाजिक मान्यताएँ और वर्जनाएँ किस प्रकार स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग निर्धारित की जाती हैं, यह इनकी रचनाओं में प्रमुख रूप से उभर कर आया है। यौन संबंधी परंपरागत नैतिकता को त्याग कर, स्त्री के अपनी देह से संबंधित अधिकारों एवं निर्णयों को स्त्रियों के अधिकारक्षेत्र में ही रहने देने का प्रयास इन रचनाकारों ने किया है। देह-धर्म की पूर्ति के लिए जड़, रूढ यौन मान्यताओं को वे तोड़ने का कार्य करती हैं।

मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' में यौन वर्जनाओं को तोड़ने का प्रयास हुआ है। उपन्यास के प्रायः सभी नारी पात्र-स्मिता, मारिया, असीमा एवं नीरजा मध्यवर्ग से

आते हैं, तथा शहरी पृष्ठभूमि के हैं। ये शिक्षित, एवं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हैं। नर्मदा निम्नवर्ग से आती है, एवं ग्रामीण पृष्ठभूमि की है। स्मिता एवं मारियान के विवाह असफल हो चुके हैं, जबकि नीरजा एवं असीमा अविवाहित हैं। नर्मदा का विवाह भी असफल है। इनमें से कोई भी स्त्री माँ नहीं बनती या बन पाती है।

स्मिता, अपने पिता की मृत्यु के पश्चात बड़ी बहन नमिता के घर रहती है। उसकी आर्थिक जिम्मेदारी, उसका जीजा उठाता है। वह उस पर अपना अधिकार समझता है। स्मिता को वह पाशविक रूप से अपनी हवस का शिकार बनाता है। स्मिता घृणा क्रोध एवं हिंसा की भावना से भर उठती है। बदला लेने के लिए वह अपने आपको मजबूत और आत्मनिर्भर बनाना चाहती है। उच्च अध्ययन के लिए जब वह अमरीका जाती है, तब उसका परिचय डॉ. जारविस से होता है। डॉ. जारविस एक मनोवैज्ञानिक है। यह परिचय परिणय संबंध में बदलता है। स्मिता अपने साथ हुई दुर्घटना से दुःखी जरूर थी, पर उसके अंदर कोई अपराध-बोध नहीं था। वह सोचती है, "क्या वाकई मेरे अंदर अपराध बोध नहीं है---। उस हादसे के बाद जब भी मैंने बलात्कृत औरत पर कोई फिल्म देखी या उपन्यास पढ़ा तो मुझे आश्चर्य हुआ, 'सूरजमुखी अँधेरे के' या 'इंसाफ का तराजू' की नायिका की तरह, मैं खुद को दूषित, पापी क्यों नहीं मानती? खुदकुशी करने को मेरा जमीर मुझे क्यों नहीं उकसाता? मेरा मन मुझे धिक्कारता था तो सिर्फ इसलिए कि मैंने प्रतिशोध नहीं लिया। भगोड़ों की तरह पलायन क्यों किया? पर क्या एक बेहतर जिंदगी जीने का ख्वाब देखना, बुजदिली है? उफ, कितना गुस्सा था मेरे भीतर! मैं माफ नहीं कर पाई थी, करना नहीं चाहती थी, कभी नहीं। मैं रतनू माली की तरह नहीं थी जो अपनी तमाम पीड़ा-यंत्रणा के लिए, खुद को दोषी मानकर, प्रायश्चित करती रहूं।"[66]

स्मिता उस आधुनिक स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके लिए यौन-शुचिता ही जीवन का पर्याय नहीं है, बल्कि जो अपने अस्तित्व के प्रति सजग है। डॉ. जारिवस के लिए स्मिता प्रयोग करने एवं भोगने की वस्तु से ज्यादा कुछ नहीं

है। उसने कभी स्मिता के अँदर की स्त्री को पहचानने की कोशिश नहीं की। स्मिता का मैं उसके लिए नफरत की वजह थी, "जो वह कहता, स्मिता कठपुतली की तरह कर देती। पर बोल-बोलकर खुशी और कृतज्ञता का इजहार न कर पाती। उसे प्यार करने के तरीकों से एतराज नहीं था। तरीका कोई हो, प्यार हो, तो केवल प्यार होता है। पर प्यार के नाम पर मनोविश्लेषण का माध्यम बनना, उसे बेहद हास्यास्पद लगता। ..... उसकी हर 'चुप', उससे, उसकी देह को भोगने का नया तरीका ईजाद करवा देती। पहले से ज्यादा तिरस्कारपूर्ण, अपमानजनक और अशालीन।"[67]

स्मिता, जारविस के चंगुल से बच निकलती है, एवं उससे तलाक ले लेती है। पुरुषों की भोगवादी मानसिकता के प्रति उसके विद्रोह का प्रथम स्तर है यह। स्मिता के अँदर कोई अपराधभाव नहीं है। वह स्वयं को दूषित या लांछित नहीं मानती।

उपन्यास में एक अन्य पात्र नीरजा है, जो कि अपने से काफी बड़ी उम्र के पुरुष विपिन के साथ संबंध बनाती है। नीरजा को बिना विवाह किए विपिन के साथ रहने में कोई अपराधबोध नहीं अनुभव होता। नीरजा, असीमा, स्मिता एवं नमिता, ये सभी स्त्रियाँ विपिन से किसी न किसी तरह जुड़ी हुई हैं। विपिन एक ऐसा पुरुष है जो एक तरफ मुक्त स्त्री को भी पसंद करता है, तो दूसरी तरफ स्त्री को परंपरागत रूप में भी पाना चाहता है। अरविंद जैन के अनुसार, "सामूहिक आनंद की खोज में निकला यह पुरुष सदियों से बने-बनाये सामाजिक-सांस्कृतिक नैतिक ढाँचे को नकारते हुए 'मुक्त प्रेम' भी करना चाहता है और चुनौती के रूप में 'स्वतंत्र स्त्री' पर विजय करके पुरुष अहं की तुष्टि भी।"[68]

तथाकथित सामाजिक नैतिकता और यौन-वर्जनाओं का प्रश्न 'कठगुलाब' के नारी पात्रों को कभी भी परेशान करता नहीं दिखता। सदियों से पुरुष ने स्त्री के ऊपर आचरण संबंधी नैतिकता की जो रूढ़ियाँ थोपी थीं, उनका प्रतिकार इस उपन्यास के स्त्री पात्र करते हैं। यौन-शुचिता के भंग हो जाने की वजह से स्मिता

आत्महत्या का प्रयास नहीं करती, बल्कि स्वयं को शक्तिशाली एवं आर्थिक रूप से सुदृढ़ बनाने का प्रयास करती है।

प्रभा खेतान की 'छिन्नमस्ता' की प्रिया भी एक ऐसी ही पात्र है। प्रिया का बड़ा भाई बचपन में उसके साथ बलात्कार करता है। बड़ी होने पर वह कॉलेज के प्रोफेसर द्वारा छली जाती है। लेकिन प्रिया आत्मविनाश का रास्ता नहीं अपनाती। वह जैनेंद्र के 'त्यागपत्र' की मृणाल नहीं, जिसे आत्मपीड़ा में ही मुक्ति खोजनी हो। वह उस आधुनिक स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है, जो शरीर की बेड़ियाँ तोड़कर अपनी अस्मिता को मुक्त कराने में विश्वास रखती है। प्रिया ने स्वयं को जिस तरह से गढ़ा है, यही वजह है कि अड़तालीस की उम्र में भी वह स्वयं को एक संपूर्ण औरत के रूप में बचाए रख सकी है। दस वर्ष की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते अपने ही बड़े भाई से मिला वह अनुभव उसे यह बतला देता है कि क्यों लड़की को जन्मते ही औरत बना दिया जाता है। बड़े हो जाने पर कॉलेज के प्रो. मुकर्जी के साथ चला छह महीने का संबंध उसे यह सोचने पर विवश कर देता है कि भारतीय वेदांत पढ़ानेवाला आदमी भी इस कदर क्रूर हो सकता है। प्रो. मुखर्जी प्रिया से अपने शादीशुदा होने की बात छिपा लेता है, और उसके साथ संबंध बनाता है। जिस दिन प्रिया को उसकी असलियत मालूम होती है, वह स्तब्ध रह जाती है, परंतु स्वयं को टूटने नहीं देती। स्वयं को संभाव कर वह अक्षुण व्यक्तित्व के निर्माण में जी-जान से जुट जाती है।

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों की नायिकाएँ भी यौन-शुचिता के दंश से आक्रांत नहीं दिखतीं। मैत्रेयी के नारी पात्र ग्रामीण पृष्ठभूमि से दलित या पिछड़े वर्ग से आते हैं। 'इदन्नमम' की कुसुमा भाभी पति द्वारा उपेक्षित होने पर अपने चचेरे श्वसुर दाऊजू से संबंध बनाती है, परंतु उसे इसके लिए कहीं कोई पछतावा या ग्लानिबोध नहीं है। दाऊजू का भी कुसुमा के प्रति अत्यंत गहरा प्रेम और लगाव है। प्रेम में देह की अनिवार्यता को दाऊजू स्वीकार करते हैं, – "अकेली सीताजू धरती में समा गई थी। हम तुम्हें भूमि-समाधि नहीं लेने देंगे। देह धरी है तो देह

का हक भी होता है कुसुमा। देह की जरूरत भी।"[69] ग्रामीण पृष्ठभूमि की कुसुमा को न सामाजिक मर्यादा की चिंता है न ही परंपरागत जड़ रूढ़ियों की। वह धर्म, पुराण, नीति एवं शास्त्रों की नये सिरे से समीक्षा करती है, तथा प्रेम को नये सिरे से परिभाषित करती है। मंदाकिनी की माँ प्रेम भी विधवा होने पर अपने जीजा रतनसिंह से शादी कर लेती है। जिसकी वजह से उसको परिवार एवं बिरादरी वालों की अवहेलना झेलनी पड़ती है। परन्तु मंदा को अपनी माँ का निर्णय गलत नहीं लगता, तथा वह उसका समर्थन करती है।

स्त्री की शारीरिक पवित्रता को उसके अस्तित्व से जोड़कर देखने की प्रवृत्ति की आलोचना मैत्रेयी के यहां भी दिखती है। जब मंदा को कैलास मास्टर अपनी हवस का शिकार बनाता है तो उसे अपना जीवन अँधकारपूर्ण लगने लगता है। लेकिन कुसुमा उसे संबल प्रदान करती है, "बिन्नू अपने मन में तनिक भय मत लाना जिन्दगानी में, इतनी बड़ी जिंदगी में अच्छा-बुरा घट जाता है। बिटिया, उसके कारण मन में गाँठ लगाने से क्या फायदा? जो तुमने किया ही नहीं उसके लिए अपने को दोषी क्यों मानो?"[70] कुसुमा का यह कथन उस आधुनिक नारी का दृष्टिकोण प्रकट करता है, जो स्वयं को शरीर की परिधि से ऊपर उठा चुकी है, एवं जिसके लिए उसका शरीर ही उसकी नियति नहीं है। एक अन्य पात्र सुगना, बलात्कार का शिकार होने पर अपराधी अभिलाख सिंह की हत्या कर स्वयं आत्महत्या कर लती है। सुगना का साहस तो प्रशंसनीय बन पड़ता है, परंतु उसकी आत्महत्या, मैत्रेयी के स्त्री पात्रों की जिजीवषा के कहीं विरूद्ध जा पड़ती है। मैत्रेयी पुष्पा के ही उपन्यास 'चाक' में भी यौन-संबंधों की शुचिता की व्यवहारिकता के धरातल पर जाँच की गई है। सारंग यहां अपने बेटे के शिक्षक के साथ संबंध बनाती है, पर उसे कोई अपराधबोध नहीं होता। वह अपने पति का घर छोड़कर भी नहीं जाती, क्योंकि उसका मानना है कि व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह करने के लिए व्यवस्था को छोड़कर जाना उचित नहीं है।

सारंग का यह दृष्टिकोण बहुत कुछ उस सुविधावादी प्रवृत्ति को दर्शाता है, जिसके अँतर्गत जीवन की प्राथमिकताओं के नियमन की गारंटी आवश्यक हो जाती है। सारंग और श्रीधर के संबंध के माध्यम से मैत्रेयी क्या संदेश देना चाहती हैं यह स्पष्ट नहीं है। देह की मुक्ति को एक फार्मूला बना कर बार-बार अपनी रचनाओं में उन्होंने प्रस्तुत किया है। यह प्रसंग इतनी बार मैत्रेयी के यहाँ रिपीट हुआ है कि नाटकीय लगने लगा है। 'अल्मा कबूतरी' की अल्मा भी बलात्कार एवं तरह तरह के अमानुषिक अत्याचार का शिकार होती है। प्रतिरोध के लिए वह जो रास्ता अपनाती है, वह भी शरीर से होकर ही जाता है। मैत्रेयी पुष्पा के यहां 'इदन्नमम' की मंदा को छोड़ा कर प्रायः सभी उपन्यासों एवं कहानियों में औरत, सिर्फ देह की भाषा ही समझती और बुझती दिख पड़ती है। देह एवं दैहिक जरूरतों के आगे सारा नारी-विमर्श बौना होता दिखता है।

देह एवं उससे संबंधित विमर्श कृष्णा सोबती के यहां भी मौजूद हैं, मगर एक दूसरे रूप में। 'डार से बिदुड़ी' की पाशो कई बार बेची-खरीदी जाती है, पुरुषों की हवस का शिकार बनती है। लेकिन स्वयं को दूषित या लांछित मानकर आत्महत्या करने का विचार उसके मन में कभी भी नहीं आता। यौन-शुचिता के दंश से वह आक्रांत नहीं है। जीवन को जीने की जिजीवषा पाशो के अँदर बची हुई है। इसी प्रकार 'मित्रो मरजानी' में सप्राण, संदेह वह कद्दावर औरत उपस्थित होती है, जिसे अपनी दैहिक जरूरतों का खुलासा करने में कोई संकोच नहीं। मित्रो की शारीरिकता पाप को जानती या मानती नहीं। अपने मायके में अवसर मिलने पर मित्रो परपुरुष के पास जाने के लिए तैयार हो जाती है, लेकिन माँ की दुर्दशा देख, पति के पास वापस लौट आती है। मित्रों यह देख पाती है कि बालो का शरीर किसी एक का न होने की वजह से, अशक्त होने पर बालों भी शरीर के साथ-साथ व्यर्थ होती गई है। मित्रो, यह देखकर अपना भविष्य भी भाँप लेती है, जिसमें श्मशान की सी नीरवता है, सूनापन है। दैहिक आवश्यकता को दरकिनार कर वह पारिवारिकता और सामाजिकता की तलाश में अपने पति के पास वापस लौट आती है।

मित्रो, जब सरदारीलाल को शराब के नशे में धुत कर डिप्टी बब्बर से टक्कर लेने जा रही होती है, तो उसके हृदय में लुके-छिपे ही सही, अपराधबोध का भाव पनपता है। निढ़ाल पड़े सरदारी को देख वह कह उठती है, "बेली ओ, तू ठहरा सच्चा-सुंच्चा मर्द पर आग तो लगी है इस भटकैया के मन।"[71] अपराध-बोध की इस भावना से मित्रो तब तक मुक्त नहीं हो पाती, जब तक वह वापस पति के पास लौट नहीं आती। इस प्रकार यह साफ होता है कि कृष्णा सोबती के नारी पात्र, सामाजिक व्यवस्था के भीतर रह कर ही विद्रोह का प्रयत्न करते हैं। देह, सोबती के यहां भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन कर उभरा है। लेकिन दैहिकता की ताप के तले पारिवारिक संबंधों की बलि उनकी नायिकाएँ नहीं देतीं। ऐसा कहीं भी नहीं लगता कि देह का प्रश्न, नारीवादी आँदोलन के प्रभाव में ही उठाया जा रहा है।

समकालीन स्त्री-लेखन, दूसरी तरफ देह-विमर्श को इतनी ज्यादा महत्ता दे रहा है, मानो देह के अलावा स्त्री के पास, अन्य कोई मुददा ही नहीं है। यह सच है कि स्त्री की देह को सदियों से उपनिवेश बनाया जाता रहा है, इसलिए देह से मुक्ति, स्त्री की मुक्ति के प्रयासों से कहीं-न-कहीं जुड़ती है। लेकिन अनावश्यक रूप से ठूँसे गए देह-विमर्श के प्रसंग, रचना की महत्ता तथा रचनाकार की जीव-दृष्टि को, प्रश्नांकित जरूर करते हैं। कृष्णा सोबती के लेखन में देह का प्रश्न जहाँ कहीं भी आया है, वह अत्यंत सधे, संतुलित रूप में है, जबकि आज के स्त्री लेखन को यह संयम सीखना पड़ेगा कृष्णा सोबती से।

(2) मातृत्व का प्रश्न

भारतीय समाज तथा संस्कृति में नारी को मातृत्व से जोड़ कर देखे जाने की प्रवृत्ति रही है। मातृत्व, नारी की प्रस्थिति में वृद्धि उत्पन्न करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक माना जाता रहा है। लेकिन आधुनिक युग में कई नारीवादियों ने प्रजनन की महत्ता पर प्रश्न चिहन लगाए हैं। सुलेमिथ फायरस्टोन ने अपनी पुस्तक 'द डायलेक्टिक्स ऑफ सेक्स' में मातृत्व की सार्थकता को प्रश्नांकित किया

है। उनके अनुसार, "महिलाओं के उत्पीड़न की आत्मा उनके द्वारा बच्चा पैदा करने तथा बच्चों के लालन-पालन में निहित है। ....समाज में स्त्री और पुरुष के बीच विभाजन के मूल में आर्थिक कारण नहीं बल्कि शारीरिक कारण है। इस कारण की जड़ें प्रकृति में निहित होने के बावजूद ऐसा नहीं है कि इसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं हो रहा। आज अनेक गर्भनिरोधकों तथा प्रजनन की नई विधियों के चलते इस बात की संभावना पैदा हुई है कि औरतों को उसकी शारीरिक बनावट के कारण पैदा होने वाली कठिनाइयों से मुक्त किया जा सकता है। ...भविष्य में कृत्रिम ढंग से औरत की योनि के बाहर ही प्रजनन की संभावनाओं में औरत की मुक्ति का आधार निहित है।"[72]

नारीवादी विमर्श ने स्त्री-लेखन को गहरे रूप से प्रभावित किया है। मातृत्व की सार्थकता या मातृत्व से मुक्ति का प्रश्न स्त्री-लेखन के समक्ष बराबर उपस्थित रहा है। जहां कुछ रचनाकार मातृत्व से मुक्ति को स्त्री-स्वातंत्र्य के लिए आवश्यक मानती हैं, वहीं दूसरी तरफ मातृत्व की सार्थकता को कुछ रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है। मृदुला गर्ग, मातृत्व से मुक्ति को स्त्री-स्वातंत्र्य से जोड़ कर देखे जाने की प्रवृत्ति की आलोचना करती हैं। मृदुला के अनुसार, "उग्र नारीवादियों ने स्त्री की मुक्ति के लिए मातृत्व के स्वीकार और गर्भपात को आवश्यक माना था, उसमें कई कमियाँ हैं। कोई आवश्यक नहीं कि मात्र माँ बनने से इंकार करने और गर्भ मात्र का विरोध करके औरतें स्वतंत्र और मजबूत ही बन जाएँ, उसके लिए आर्थिक और सांस्कृतिक मुक्ति भी प्राथमिक जरूरत हो जाती है।"[73]

मृदुला गर्ग ने 'कठगुलाब' में मातृत्व के इसी विविधात्मक पक्ष को व्यक्त किया है। नारीवाद की कई व्यापक अवधारणाओं की अभिव्यक्ति 'कठगुलाब' में चरित्रों और घटनाओं के माध्यम से व्यक्त हुई है। उपन्यास की एक पात्र मारियान है, जो माँ बनने की तीव्र इच्छा रखती है, लेकिन उसका पति इर्विंग उसके इस फैसले से खुश नहीं है, "इर्विंग शुरू से ही बच्चा पैदा करने के खिलाफ था।

उसका कहना था, एक महान साहित्यिक रचना के सामने, बच्चा क्या चीज है, एकदम तुच्छ, नगण्य डिसपेंसेबल। ...औरत भगवान की तरह आदिम स्रष्टा है, उसे छोटे-मोटे सृजन की जरूरत नहीं है। ...बच्चे की सृष्टि में तुम्हारी देह, भले समर्पित हो, तुम्हारी कल्पनाशक्ति या प्रतिभा को अभिव्यक्ति का मौका कहाँ मिलता है? आज, जब औरत हर क्षेत्र में काम कर रही है, सुबह से शाम तक व्यस्त रहती है, तो उसे इस आदिम प्रवृत्ति और मान्यता से मुक्त होना चाहिए, वरना किसी महान कलाकृति की रचना नहीं हो पाएगी।"[74] मारियान इर्विंग के कहने में आकर गर्भ से छुटकारा पा लेती है। दुबारा वह फिर कभी माँ नहीं बन पाती, और यह कष्ट उसे तब तक सालता रहता है, जब तक वह स्वयं को सृजनात्मक जगत से, जोड़ नहीं लेती। मारियान की तरह ही की स्थिति है स्मिता की, जिसे माँ न बन पाने का दुःख है। स्मिता जब गर्भवती होती है, तब जारविस उस पर बेल्ट से प्रहार करता है। स्मिता का गर्भपात हो जाता है, और वह अँदर से टूट जाती है, "फिर एक बलात्कार,। पहले अस्मिता पर, अब शिशु पर।"[75]

विपिन, जो इन सभी महिलाओं से किसी-न-किसी रूप में जुड़ा हुआ है, वह बाप बनने की अदम्य इच्छा रखता है। यद्यपि मानसिक रूप से वह स्वयं को स्मिता के ज्यादा करीब पाता है, परंतु स्मिता माँ बनने में असमर्थ है। इसलिए वह नीरजा के साथ विवाह करना चाहता है। अपने से आधी उम्र की नीरजा का चुनाव वह सिर्फ इसलिए करता है, क्योंकि, "उस प्रमुदित क्षुधा और आस्वाद को देख, अचानक विपिन के दिमाग में कौंधा था, हाँ, यह औरत मुझे मेरा अपना बच्चा दे सकती है।"[76] यह अलग बात है कि तमाम प्रयासों के बावजूद भी नीरजा माँ नहीं बन पाती। उसका और विपिन का संबंध टूट जाता है, या फिर नीरजा द्वारा ही तोड़ लिया जाता है, क्योंकि उसे अपने और विपिन के बीच के संबंध का आधार ही ढहा हुआ लगा था।

उपन्यास की ही एक अन्य पात्र नर्मदा, जोकि बाँझ है, मातृत्व का कोई विकल्प नहीं मानती। वह मानती है, कि, "बाँझ औरतों को रोना जरूर चाहिए। ना

रोओ तो अगले जनम में भी कोख वीरान जावे है।"[77] नर्मदा उस टिपिकल भारतीय नारी की मानसिकता को प्रकट करती है, जिसके लिए मातृत्व एक निर्वैकल्पिक स्थिति है। नीरजा, जोकि माँ नहीं बन पाती है, धीरे-धीरे संवेदनहीन होती चली जाती है। उसके सारे कार्य-कलाप पूर्वाभ्यास का परिणाम मालूम होते हैं। मृदुला गर्ग के अनुसार, "बरसों से एक विचार मेरे मन में था कि क्या धरती बंजर होते जाने और स्त्री की भावभूमि के ऊसर होने के पीछे, एक ही कारण काम नहीं कर रहा? प्रकृति पर पदार्थ का हावी होना।"[78] नीरजा की ऊसर होती संवेदना की वजह, मृदुला गर्ग के इस कथन से पता चलती है।

प्रभा खेतान ने 'छिन्नमस्ता' में प्रिया के माध्यम से मातृत्व के नकार को रेखांकित किया है। प्रिया अपने बेटे, संजू को बहुत चाहती है। लेकिन उसके सामने दुविधा इस बात की है कि यदि वह स्वयं को माँ की परंपरागत भूमिका में रखेगी, तो अपने अस्तित्व एवं अस्मिता के लिए किया गया उसका संघर्ष बेमानी हो जाएगा। अपना स्वतंत्र व्यवसाय शुरू करने के लिए प्रिया लंदन जाना चाहती है, लेकिन पति नरेंद्र उससे सहमत नहीं है। बेटे के प्रति प्रिया का मोह उसे पति का उत्पीड़न सहने के लिए मजबूर कर देगा, जो कि प्रिया को गवारा नहीं। साथ ही, वह यह भी सोचती है कि क्या पता बड़ा होकर संजू भी उन्हीं पितृसत्तात्मक मूल्यों का पोषक बने, जिनसे वह आज तक लड़ते आई है। प्रिया के लिए टक्कर बराबर की है। एक तरफ है उसका नारीत्व, तो दूसरी तरफ दाँव पर लगा है उसका मामृत्व। प्रिया अपने नारीत्व को मातृत्व के ऊपर बलिदान नहीं करती है। उसका प्रेरणा स्त्रोत रहा है दर्शन के प्रोफेसर डॉ. चटर्जी द्वारा गुरूदक्षिणा में माँगी गई सिर्फ एक चीज, "पहले अपने स्त्री होने की गुलामी को समझो..."[79] डॉ-चटर्जी का यह गुरूमंत्र उसके कानों में हमेशा गूँजता रहा है। वही कारण है कि अपने सारे अँतर्द्वंद्वों को खत्म कर, वह लंदन जाने का ठोस निर्णय ले पाती है।

मातृत्व का प्रश्न एक महत्वपूर्ण मुददे के रूप में उभरा है– चित्रा मुद्गल की 'आँवा' में। उद्योगपति संजय कनोई बाप बनना चाहता है। इसके लिए वह

चाहता है एक पवित्र, अनछुई कोख, और इस किराए की कोख को जुटाने के लिए अँजना वासवानी जैसे बिचौलियाँ के माध्यम से वह शिकार फंसाता है। नमिता से अपना बच्चा पाने की उम्मीद में वह सब तयशुदा रास्तों का सहारा लेता है। नमिता का गर्भपात हो जाने की स्थिति में वह अपना आपा खो बैठता है। संजय, नमिता पर अपना बच्चा गिराने की झूठी तोहमत लगाता है, "झूठी--- प्राण ले लूंगा मैं तुम्हारे..... मुझे मेरा बच्चा चाहिए--- बच्चा!

"मैं रंडियों से बाप नहीं बनना चाहता था, जिनके लिए बच्चा पैदा करना महज सौदा-भर हो और जो अनेकों से सौदा कर चुकी हों–मुझे नहीं गँवारा थी ऐसी किराये की कोख! मुझे सिर्फ उस लड़की से औलाद चाहिए थी जो पेशेवर न हो--- पवित्र हो, जो मुझसे प्रेम कर सके। सिर्फ मेरे लिए माँ बने।"[80] नमिता और संजय कनोई के प्रेम-संबंध एक झटके के साथ टूट जाते हैं, इस घटना के बाद। औरत को महज कोख समझने की पुंसवादी मानसिकता का अच्छा खुलासा हुआ है इस उपन्यास में। नमिता, मातृत्व का बोझ उठाने के लिए मानसिक रूप से तैयार नहीं है। इसके बावजूद उसके पास यह अधिकार तक नहीं है कि वह मातृत्व से संबंधित निर्णय स्वयं ले सके।

मातृत्व, स्त्री-लेखन एवं स्त्री-विमर्श के अत्यंत महत्वपूर्ण मुददों में से एक है। कृष्णा सोबती के यहाँ यह एक प्रश्न के रूप में नहीं उभरता है। मातृत्व के प्रश्न से कृष्णा सोबती सीधे-सीधे नहीं टकरातीं। पाशो, मित्रो एवं महक, इन सबके लिए मातृत्व एक निर्वैकल्पिक स्थिति है। माँ बनने या नहीं बनने की कोई कशमकश उनके यहां नहीं दिखती। पाशो, दर-दर भटकने के बावजूद अपने पुत्र की याद को सीने से लगाए हुए हैं, एवं इस उम्मीद पर जीती है कि एक दिन उसका बिछुड़ा पुत्र उसे मिल जाएगा। मित्रो की कुण्ठा की एक वजह यह भी है कि उसकी गोद सूनी है। माँ बनने की अदम्य इच्छा उसके अँदर है। महक का मानना है कि दुनिया की दो नेमतें, बेटा और बेटी, उसे वकील साहब की वजह से ही मिले हैं। अतः वह स्वयं को कृतार्थ महसूस करती है, लेकिन जब उसके बच्चों को उससे

छीन लिया जाता है, तो वह इसका प्रतिरोध ले कर ही दम लेती है। स्त्री की समाज द्वारा निर्धारित माँ की भूमिका को कृष्णा सोबती के यहां स्वीकृति मिली है। यदि इस तयशुदा भूमिका के विरूद्ध विद्रोह का हल्का-सा स्वर कहीं सुनाई पड़ता है, तो वह 'ऐ लड़की' में है। यहाँ लड़की अविवाहित है, परंतु आत्मनिर्भर एवं दृढ निश्चयी है। अम्मू विवाह न करने के उसके निर्णय की कभी तो आलोचना करती है, कभी उसकी स्वतंत्रता की सराहना करती है। मातृत्व की महिमा का बखान भी अम्मू के द्वारा किया जाता है। मातृत्व की कामना 'सूरजमुखी अँधेरे के' की रत्ती को भी है। माँ नहीं बन पाने की वजह से वह स्वयं को अधूरा महसूस करती है। लेकिन जब कृष्णा सोबती मातृत्व और नारीत्व की टक्कर दिखाती हैं तो जीत नारीत्व की ही होती है। मासूमा की शादी टलने का खतरा उठाकर भी महक द्वारा अपने जेवर वापस माँगे जाना इसी का एक उदाहरण है।

(3) आर्थिक स्वामित्व

सत्ता और पूंजी पर स्त्री के स्वामित्व का प्रश्न समकालीन स्त्री-लेखन के महत्वपूर्ण मुददों में से एक है। पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था मानती है कि सत्ता एवं पूंजी पर स्त्री के अधिकार का प्रश्न न केवल परिवार की अस्थिरता का कारण बनेगा, बल्कि समाज को भी विघटित कर देगा। समकालीन महिला रचनाकारों ने स्त्री को पूंजी एवं सत्ता पर अधिकार के लिए संघर्ष करते हुए दिखाया है। स्त्री यहां किसी भी तरह स्वयं को पुरुष से कमतर नहीं मानती।

मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' की मंदाकिनी का संघर्ष गांव, घर की जमीन, जंगल और अन्य प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के लिए है। मंदा के पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी माँ प्रेम अपने बहनोई रतन यादव के साथ भाग जाती है। जायदार का चूकि एक बड़ा हिस्सा मंदा के नाम है, अतः रतन यादव प्रेम को माध्यम बना कर मंदा को हस्तगत करने की कोशिश करता है। मंदा अपनी बऊ के साथ गांव सोनपुर की पूरी जायदाद छोड़ कर दूर के एक रिश्तेदार पंचमासिंह (दादा) के गांव श्यामली आ जाती है। रतन यादव द्वारा ढूंढ लिए जाने के भय से

वे वहां से ओरछा, बिरगंवा, तथा श्यामली जाते हैं और सात वर्ष बाद पुनः अपने गांव आते हैं।

इस बीच दूर का रिश्तेदार गोविंद सिंह बऊ की पुश्तैनी जमीन को क्रेशर के ठेकेदार अभिलाख सिंह को बेच देता है। मंदा गांववालों को एकत्र कर अभिलाख सिंह के विरूद्ध संघर्ष का निर्णय लेती है। सुगना से बलात्कार करने वाले अभिलाख की हत्या सुगना कर देती अैर स्वयं आत्महत्या कर लेती है। मंदा एवं गांववालों का संघर्ष रंग लाता है, एवं गांव की जमीन और संपत्ति पर से क्रेशर के ठेकेदारों का अधिपत्य हट जाता है। मंदा स्वयं भी क्रियाशील रहने में विश्वास रखती है। वह स्वयं को श्रमिक वर्ग से अलग नहीं मानती, इसीलिए संपत्ति का स्वामित्व हासिल होने के पश्चात् भी गांव के विकास हेतु किए जाने वाले कार्यों में खुल कर अपना योगदान देती है। मंदा का मानना है कि, "काम चलता रहे तो जीवन चलने का अहसास होता है। सांसें चलने की अनुभूति होती है। संसार क्रियाशील और चराचर लगता है।"[81]

प्रभा खेतान की 'छिन्नमस्ता' में पूंजी और संपत्ति पर स्त्री के अधिकार का अत्यंत यथार्थपरक चित्रण हुआ है। स्त्री जब पूंजी और संपत्ति पर अपने स्वामित्व के दावे ठोकती है तो इसकी गहरी प्रतिक्रिया देखने में आती है। परिवार में पति-पत्नी, बेटे-बेटी एवं माँ-बेटी जैसे पुराने समीकरण, तनावग्रस्त हो जाते हैं और अधिकांश प्रसंगों में तो टूट भी जाते हैं। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया, पिता की मृत्यु के पश्चात् घर में संपत्ति के बंटवारे को लेकर हुई गुटबंदी की प्रत्यक्षदर्शी बनती है। एक तरफ प्रिया का बड़ा भाई विजय, उसकी पत्नी तथा प्रिया की माँ हैं तो दूसरी तरफ छोटा भाई अजय और प्रिया हैं। प्रिया की माँ उसका विश्वास नहीं करती एवं उसका साथ नहीं देती। बड़ी होने पर प्रिया का विवाह एक बड़े परिवार में हो जाता है। पति नरेंद्र के उत्पीड़न से तंग आकर प्रिया स्वयं का व्यवसाय शुरू करने का निर्णय लेती है। शुरू में नरेंद्र को नहीं लगा था कि प्रिया का निजी व्यवसाय उस पर नरेंद्र के स्वामित्व को खत्म कर देगा। लेकिन व्यवसाय के प्रति

प्रिया का लगाव एवं समर्पण तथा रात-दिन मिलती सफलता नरेंद्र को परेशान कर देती है। वह प्रिया को व्यवसाय के मार्ग से हटा कर घर की चहारदीवारी में कैद करना चाहता है। लेकिन प्रिया इसका तीव्र विरोध करती है, "नरेंद्र, मैं व्यवसाय अपने लिए नहीं कर रही हूँ। चार साल पहले जब मैंने यह काम किया था तो मुझे रूपयों की जरूरत थी। पर आज मेरा व्यवसाय मेरी आईडेंटिटी है। विदेशों की उड़ान, यह मेरी जिंदगी के कैनवस को बड़ा करती है।"[82] नरेंद्र अपना अधिकार जताते हुए कहता है, "यह मत भूलो प्रिया कि मैं पुरुष हूं, इस घर का कर्ता। यहां मेरी मर्जी चलेगी, हां, सिर्फ मेरी..."[83] व्यवसाय के सिलसिले में प्रिया के लंदन जाने के फैसले को भी नरेंद्र बदलना चाहता है परन्तु ऐसा होने नहीं देती। वह लंदन जाती हे, और अपने व्यवसाय को स्थापित करती है।

प्रिया संपत्ति एवं पूंजी पर अपने आधिपत्य के लिए न केवल सामाजिक - पारिवारिक रूढ़ियों से लड़ती है, बल्कि अपने अधिकार को हासिल भी कर लेती है। प्रिया के अँदर की ऊर्जा और आत्मविश्वास नारी मुक्ति के प्रति नई आशा एवं विश्वास उत्पन्न करता है। प्रिया स्वयं को स्थापित करने के लिए लंबी लड़ाई लड़ती है– "मैं सारा अतीत भूल चुकी हूँ। पीछे से पुकारती हुई आवाजों के लिए मैंने कानों पर हथेलियाँ रख ली हैं और जिंदगी की लड़ाई में सक्रिय हूँ। हो सकता है ऐसे ही एक दिन चुपचाप मृत्यु मेरा दरवाजा खटखटाएँ। मैं बेझिझक उसकी आहों की घटियों में जाऊँगी और अपनी छोटी सी जिंदगी के बारे में उससे बात करूंगी।"[84] घर-समाज के शोषण एवं उत्पीड़न से बचने के लिए स्त्री को पूंजी पर अधिकार तथा उसके विभिन्न रूपों में भागीदारी करनी ही होगी, ऐसा इस उपन्यास का मंतव्य है।

अरविंद जैन ने 'छिन्नमस्ता' में अभिव्यक्त स्त्री चेतना को प्रश्नचिह्न के घेरे में डाला है। उनके शब्दों में, "प्रिया की जिंदगी विरोधाभासों का बंडल ही बनी रहती है। खोई हुई अस्मिता को पुनः प्राप्त करने के संघर्ष में प्रिया के सामने जो मॉडल है, वह उसे लगातार वही बनाता है, जिसके खिलाफ उसकी सारी 'लड़ाई',

'विद्रोह' या क्रांति है – यानि वह स्वभाव से मर्द बनती जाती है, अँततः अकेली और मृत्यु इच्छा के विषाद से घिरी हुई, अपनी व्यवस्था और जमीन होने का भ्रम लिए हुए।"[85] अरविंद जैन के अनुसार, "यह सब शायद इसलिए भी है कि सच में उसे नहीं मालूम कि वह पुरुष से चाहती क्या है? परिणामस्वरूप उसके सामने न कोई जीवित मॉडल है और न पूर्ण विकल्प। साथ रह नहीं सकती और अकेलापन से भय लगता है। अकेलापन असहनीय हो जाता है, तो फिर किसी पुरुष की उपस्थिति चाहिए--- और अँततः मृत्यु इच्छा की ओर बढ़ने के अलावा नायिका क्या कर सकती है?"[86] प्रिया का विद्रोह मर्द से नहीं है, पितृसत्तात्मक सामाजिक मूल्यों से है जो जन्म के साथ ही स्त्री की सामाजिक हैसियत का निर्धारण कर देते हैं। प्रिया का अकेलापन ओढ़ा हुआ नहीं है, तथा, "अपने व्यक्तित्व को असंतुलन से बचाने के लिए व्यवसाय के अँधड़ में वह सिर्फ एक 'मर्द' होकर ही नहीं जीना चाहती, जैसा कि वह फिलिप के आगे स्वीकार करती है, अपने मन को हरी-भरी डाल के कोमल पत्ते-सा ताजा और करूणा की ओस में भींगा हुआ भी पाती है। फिलिप और जूडी को देखकर एक बार फिर उसे एक सुखी दांपत्य जीवन की ललक और सिहरन एक साथ होती है।"[87]

प्रिया एक ऐसे पुरुष की आकांक्षा रखती है, जो उसे प्यार के साथ-साथ सम्मान भी दे सके। लेकिन ऐसा पुरुष न मिल पाने की स्थिति में वह स्वयं को बिखरने नहीं देती एवं संपत्ति तथा पूंजी के स्वामित्व का प्रयास कर एक आत्मनिर्भर एवं स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में हमारे सामने आती है।

सामाजिक हैसियत और संपत्ति के स्वामित्व का प्रश्न कृष्णा सोबती कि किसी रचना में अभिव्यक्त हुआ है, तो वह है 'दिलोदानिश'। इससे पूर्व के उपन्यासों या कहानियों में सोबती के पात्रों को अर्थ की चिंता नहीं सताती, जिससे यह प्रतीत होता है कि या तो वे अच्छी आर्थिक स्थिति में हैं, या फिर उनके अँदर संपत्ति के स्वामित्व का प्रश्न महत्त्वपूर्ण होकर उभरा नहीं है। 'दिलोदानिश' से पूर्व 'ऐ लड़की' में नारी स्वातंत्र्य के कारणों की पड़ताल आर्थिक धरातल पर की गई

है। अम्मू का मानना है कि स्त्री की नियति में बदलाव तभी आएगा, "उसका वक्त तब सुधरेगा जब वह अपनी जीविका आप कमाने लगेगी।"[88] तथा "जो हाथ अर्जित करता है वही मनचाहा वितरण भी करता है।"[89] आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना, स्त्री-स्वातंत्र्य के लिए बहुत जरूरी है, ऐसा अम्मू का मानना है।

'दिलोदानिश' में संपत्ति के स्वामित्व और सामाजिक हैसियत का प्रश्न तब उठता है, जब महकबानो, धीरे-धीरे वकील साहब द्वारा उपेक्षित की जाती है। महक की अम्मी के जेवरात, वकील साहब की निगरानी में हैं, इसके बावजूद महक और उसके बच्चों की देखरेख का उचित प्रबंध वकील साहब द्वारा नहीं किया जाता। महक एक समर्पिता रखैल की भांति सबकुछ बर्दाश्त करती है – कुटुम्बप्यारी और उसके बच्चों की लांछना, घर की बदहाली, अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा और उनके भविष्य से वकील साहब की बेरूखी, महक के प्रति उनका शुष्क एवं उपेक्षापूर्ण होता जाता व्यवहार, बदारू के जन्मदिन पर मिले कंगन का कुटुम्बप्यारी द्वारा झपटे जाना-सब कुछ। उसके सब्र का पैमाना तब छलछला उठता है, जब वह देखती है कि उसके बच्चे भी उससे छीन लिए जा रहे हैं। महक कराह उठती है, कि कोई कानून तो माँ के लिए भी होगा। लेकिन दूसरे ही झण स्वयं को टूटने से बचा कर, वह खड़ी हो जाती है अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध प्रतिकार लेने के लिए।

महक के प्रतिकार का पहला चरण होता है अपनी अम्मी के जेवरात को वकील साहब से वापस माँगना, "हमारे जेवर तो हम तक पहुँचाएँ। अब हम और इंतजार न करेंगे।"[90] महक यह देख पाती है कि आर्थिक संरक्षण एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का आकर्षण उसके बच्चों को उनके बाप की तरफ खींचता है, "यकायक भाई-बहन ने मिलकर कमरे में फैले एक वक्त के टुकड़े कर डाले। झक्क से कुछ टूटा और दो हिस्सों में बंट गया। मासूमा ने आँखें पोंछ लीं। चुन्नी ओढ़ ली। भाई ने कहा – छुन्ना बुआ गिरज़े के सामने खड़ी हो इंतजार कर रही होंगी। वक्त से न पहुँचे तो बेकार बदमज़गी होगी..... महक के जवाब का इंतजार किए बिना

बदरू और मासूमा घर से बाहर हो गए ..... दस्तरख़ान पर पड़ी पिरचों में मासूमा का आधा परौंठा पड़ा था..... महक ने सामने रखा प्याला उठा होंठों से लगा लिया। खाली था सो आहिस्ता से नीचे रख दिया।"[91]

महक को अब आर्थिक संरक्षण का प्रश्न परेशान करता है। न सिर्फ वह अपनी अम्मी के जेवरात हासिल करती है, बल्कि विद्रोह के द्वितीय चरण में खां साहिब के संरक्षण में चली भी जाती है। आर्थिक स्वतंत्रता को स्त्री की स्वतंत्रता से जोड़ने का प्रश्न कृष्णा सोबती ने 'ऐ लड़की' में उठाया है, तथा स्त्री को अपनी संपत्ति पर मालिकाना हक जताने का अधिकार 'दिलोदानिश' में दिया है। लेकिन इसके अतिरिक्त, और कहीं भी सत्ता और पूंजी पर अधिकार की बहस को कृष्णा सोबती केंद्र में नहीं लातीं। उनके पात्र प्रायः शहरी मध्यवर्ग या उच्चवर्ग से आते हैं। यदि ग्रामीण पात्र कहीं कहीं आए भी हैं, तो उनकी आर्थिक समस्या कहीं भी सामने नहीं आती। राजेंद्र यादव के अनुसार, ".....खुलकर बख्शीशें देते, होटलों और डाक-बंगलों में घूमते उनके पात्रों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति कभी भी उनके सोच का विषय नहीं रही।"[92] तथा, "काफी आसानी से कृष्णाजी को अनुत्पादक वर्ग या केवल उपभोक्ता समाज (जिसे लेजर समाज भी कह सकते हैं) की भावनात्मक समस्याओं का कहानीकार कहा जा सकता है– उनके पात्रों को न जीविका की चिंता है, न समय और समाज की।"[93]

शायद यही कारण है कि आर्थिक समस्याओं से जूझती जिस मजदूर वर्ग की औरत को चित्रा मुद्गल 'आवां' में प्रस्तुत करती हैं, या आर्थिक सुरक्षा से वंचित, दर-दर भटकती जिस औरत को लेकर मैत्रेयी पुष्पा 'अल्मा कबूतरी' में उपस्थित हैं, वह कृष्णाजी के यहां अनुपस्थित है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया जैसा स्वयं को आर्थिक रूप से संपन्न बनाने का साहस और प्रयास भी कृष्णा सोबती के यहाँ नहीं है। महकबानो यदि संघर्ष भी करती है, तो सिर्फ अपनी अम्मी के जेवरात के लिए। अन्यथा, वह पूर्णरूप से वकील साहब पर आश्रित रही है, आर्थिक रूप से। उससे ज्यादा विद्रोही चेतना तो छुन्ना बीबी में दिखती है, जो विधवा होने पर,

आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने का प्रयास करती है, एवं बच्चों के स्कूल में पढ़ाती है। महकबानो आत्मनिर्भर होने का ऐसा कोई प्रयास नहीं करती। वकील साहब का संरक्षण छूट जाने पर वह खाँ साहब का संरक्षण स्वीकार कर लेती है। आर्थिक असुरक्षा का प्रश्न कृष्णा सोबती के पात्रों को उस तरह नहीं सताता, या प्रमुखता नहीं पाता, जिस तरह समकालीन महिला-लेखन में यह उपस्थित है। कृष्णा सोबती की यह सीमा है, जिसका वह अतिक्रमण नहीं कर पाई है।

(4) राजनीति का प्रश्न

राजनीतिक सत्ता में स्त्री की भागीदारी का प्रश्न भी आज के प्रमुख प्रश्नों में से है, जिसका जवाब ढूँढने का प्रयास समकालीन स्त्री-लेखन ने किया है। राजनतिक सत्ता में स्त्री की भागीदारी का मार्ग कभी भी आसान नहीं रहा है। ऐसी स्त्रियों को तरह-तरह की लांछना का सामना करना पड़ता है। घर की मर्यादा तोड़ने का अभियोग लगाया जाता है। लेकिन इन सबके बावजूद, आज की स्त्री, पुरुष वर्ग के समक्ष अपनी समानांतर सत्ता के निर्माण के लिए राजनीति में हिस्सा ले रही है।

शहरी एवं मध्यवर्गीय औरतों को जहाँ शिक्षा एवं आर्थिक सुरक्षा उपलब्ध है, वहीं ग्रामीण या मजदूर वर्ग की औरतों को साधन के रूप में केवल राजनीति ही उपलब्ध है। मैत्रेयी पुष्पा ने 'चाक' की सारंग के माध्यम से राजनीति में स्त्री की भागीदारी के प्रश्न को उठाया है। 'चाक' में गांव में होने वाले प्रधानी के चुनाव में दो स्त्रियाँ आमने-सामने हैं—पहली, शहरी तथा टूटी-फूटी अँग्रेजी बोलने वाली पूर्वप्रधान भवानी प्रसाद की सीमा तथा दूसरी तरफ गजाधर सिंह की बहू सारंग। सारंग को प्रधानी को चुनाव लड़ने से रोकने वाला स्वयं उसका पति रंजीत है। लेकिन सारंग को प्रेरणा मिलती है अपने प्रेमी श्रीधर से। वह उभरती हुई नारी-शक्ति को समर्थन देने वाले पुरुष वर्ग का प्रतिनिधि है, "यह बताओ जब घर-परिवार में औरत का दखल हो सकता है तो राज-काज में क्यों नहीं? तुम पढ़ी लिखी हो, खूब जानती हो, हमारे संविधान में औरत को बराबरी का दर्जा मिला है।

तुम कब तक औरत के पत्नी होने की दुहाई देती रहोगी? मैं निमित्त बनूंगा तुम्हारे खड़े होने का। भले कितना ही रोको। उसी तरह का निमित्त जैसे कुम्हाड़ घड़ा बनाने का होता है। तुम्हें प्रधान बनना होगा हर हालत में..... सतियों के सिंहासन पर देवी की तरह पधराई जा सकती हो, लेकिन पुरुषों की बराबरी में जगह पाना असंभव। 'बराबरी' शब्द खतरों की ईंटों से बना है, इसे हासिल करना–मेरे खयाल में साहस की दुनिया की अमूल्य चीज है।"[94]

सारंग, घर की मर्यादा के नाम पर चुनाव लड़ने से इंकार नहीं करती। वह उस आधुनिक स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके लिए उसकी पहचान भी उतना ही महत्त्व रखती है, जितना कि उसका परिवार। सारंग की साहयता करने वालों में उसके ससुर गजाधर सिंह, देवर भंवर तथा मास्टर श्रीधर आदि हैं। सारंग की प्रतिबद्धता उसके पति को भी अपना निर्णय बदलने के लिए बाध्य कर देती है। रंजीत बूथ कैप्चरिंग की योजना बनाते लोगों की धुनाई कर सारंग के प्रति अपने दायित्व और प्रेम का परिचय देता है।

किसी स्त्री का राजनीतिक सत्ता में भागीदारी के लिए आगे बढ़ना पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के लिए एक चुनौती बन कर आता है। जिस सामाजिक व्यवस्था ने स्त्री को सत्ता से हमेशा वंचित रखा, वह स्त्री द्वारा अपना हक माँगे जाने पर उसे यह कह कर डराती है कि ऐसा करने पर घर परिवार की एकता बिखर जाएगी। वस्तुतः स्त्री का यह निर्णय परिवार के विघटन का कारण नहीं बनता, बल्कि पुंसवादी व्यवस्था का अंहकार इसके लिए जिम्मेदार होता है। मैत्रेयी पुष्पा की ही 'अल्मा कबूतरी' की अल्मा एवं 'इदन्नमम' की मंदा भी राजनीतिक सत्ता में भागीदारी कर न केवल शोषण और दमन के चक्र से स्वयं को निकालती हैं, बल्कि गाँव एवं समुदाय के विकास के भी प्रयत्न करती हैं।

'आवां' में चित्रा मुद्गल, नमिता के माध्यम से मजदूर संघों की राजनीति, तथा उसमें स्त्री के प्रतिनिधित्व जैसे प्रश्नों को उठाती है। नमिता, जो कि अन्ना साहब के अभद्र व्यवहार की वजह से 'कामगार आघाड़ी' को छोड़कर चली गई

थी, उनकी मृत्यु के पश्चात् वापस उसमें शामिल हो जाती हैं। लेकिन नमिता का यह लौटना इसलिए इतना विश्वसनीय नहीं लगता क्योंकि यह निर्णय वह तब लेती है, जब उसका गर्भपात हो जाता है एवं उसके तथा संजय कनोई के संबंधों में दरार आ जाती है। प्रश्न यह उठता है कि यदि संजय और नमिता के संबंध पहले जैसे ही बने रहते, तब नमिता क्या करती? क्या वह हैदराबाद में आभूषण डिजाइनिंग का कोर्स ही पूरा नहीं कर रही होती?

क्या नमिता का मजदूरों की दुनिया में वापस लौट आना एक संयोग नहीं है,ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार इस दुनिया को छोड़कर ग्लैमर, एवं पूंजी की दुनिया में उसका जाना भी एक संयोग ही था। इस उपन्यास को संयोग-प्रधान उपन्यास कहना अधिक उचित हुआ, क्योंकि प्रायः सभी घटनाएँ संयोगों पर ही आधारित हैं।

राजनीति के प्रश्न को कृष्णा सोबती ने लगभग उठाया ही नहीं है। 'सिक्का बदल गया' कहानी में अवश्य भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य है, अथवा 'खम्माघणी अन्नदाता' कहानी में भी राजतंत्र के खात्मे और जनतंत्र के उदय की उद्घोषणा है, परंतु सोबती राजनीति को केंद्र में रखकर किसी रचना की निर्मित नहीं करती हैं। राजनीतिक सत्ता में भागीदारी का प्रयास उनके यहां नारी पात्र करते नहीं दिख पड़ते।

कृष्णा सोबती जिन मुददों पर चर्चा नहीं करतीं, वे है–आर्थिक स्थिति एवं पूंजी के स्वामित्व का प्रश्न, मातृत्व का प्रश्न एवं राजनीति का प्रश्न। समकालीन स्त्री-लेखन में ये प्रश्न महत्वपूर्ण होकर उभरे हैं। आज के रचनाकार राजनीति को जीवन से अलग कर के नहीं देख पा रहे। वह एक आवश्यक प्रश्न बन चुका है जनजीवन के लिए। दूसरी तरफ कृष्णा सोबती ने राजनीति को केंद्र में रखकर कोई रचना नहीं की है। राजनीति पर यदि कुछ छिट-पुट सी चर्चा है भी तो वह केवल 'जिंदगीनामा' एवं, 'समय-सरगम' में।

इसी प्रकार, नारी के लिए आर्थिक स्वतंत्रता एवं पूंजी पर स्वामित्व जैसे प्रश्न भी उन्हें परेशान नहीं करते। महकबानो एवं 'ऐ लड़की' की लड़की को छोड़ दें, तो आर्थिक प्रश्न तो कहीं उठते ही नहीं। जहां कहीं उनके उठने की गुंजाइश भी है, ('गुलाब जल गंडेरियाँ', या 'जिगरा की बात' जैसी कहानियाँ) वहाँ भी उन्हें दबा दिया जाता है। उनके पात्र गरीबी या भूख से संघर्ष करते नहीं दिख पड़ते। 'जिंदगीनामा' में भी जटट किसानों के सूद के भार तले पिसते जाने का हल्का सा उल्लेख जरूर है, मगर सिर्फ उल्लेख ही है। वह उपन्यास का मूल स्वर नहीं बन पाया है, क्योंकि, सोबती की सहानुभूति धनाढ्य शाह परिवार से है। अपने डिफेंस में सोबती कहती हैं, "मैंने अपने लेखन में कोशिश की है कि जिस वर्ग विशेष को मैं नहीं जानती उसे मैं अपने लेखन के लिए नहीं चुनती।"[95] यह डिफेंस कमजोर-सा है क्योंकि रचनाकार को परकाया-प्रवेश की क्षमता से संपन्न माना जा सकता है। यहां पर उनकी दृष्टि का चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा एवं प्रभा खेतान की दृष्टि से फर्क जरूर दृष्टिगत होता है।

जिन मुददों पर कृष्णा सोबती की पकड़ आज भी जबर्दस्त है, एवं जिनकी बजह से वे आज भी उतनी ही प्रासंगिक है,, जितनी की कल, वे हैं – सामाजिक संस्थाओं के महत्त्व का प्रतिपादन तथा भारतीय स्त्री का नितांत अपनी जमीन पर खड़े हो कर संघर्ष करने का संकल्प। यदि समकालीन स्त्री-लेखन पर एक दृष्टि डालें तो कई बार ऐसा लगने लगता है, कि नारी के विद्रोह की पृष्ठभूमि या फिर सामाजिक संस्थाओं के बिखराव के जो चित्र उभर कर सामने आ रहे हैं, वे किसी-न-किसी रूप में नारीवादी आँदोलन से प्रभावित हैं। कई बार तो ऐसा लगता है कि आँदोलन के विषय में पढ़कर ही रचना की जा रही है। 'चितकोबरा' में मनु और रिचर्डस के संबंध या फिर 'चाक' में सारंग और श्रीधर के संबंध आखिर क्या सिद्ध करने के लिए डाले गए हैं? सिर्फ यही कि नारी अपनी देह से संबंधित निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र हैं? ऐसी स्थिति में पारिवारिक विघटन अवश्यंभावी हो जाएगा। यदि मनु और सारंग के पतियों के भी विवाहेतर संबंध होते, तब तो संभावना थी कि दोनों ही अपनी स्थितियों से समझौता करके रह लेंगे। लेकिन

जब पति के कहीं कोई अवैध संबंध नहीं हो, तो ऐसे प्रसंग बुनना क्या सिर्फ पाठकों की भीड़ इकट्ठा करने का प्रयास नहीं लगता?

कृष्णा सोबती की मित्रो, हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहली बार एक ऐसी नायिका के रूप में उपस्थिति होती है, जिसे अपनी दैहिक अतृप्ति का खुलासा करने में कोई शर्म या हिचक नहीं। लेकिन मित्रो अपनी अतृप्ति, सिर्फ परिवार वालों के ही सामने प्रकट करती है, गैरों के सामने नहीं। परिवारिकता एवं सामाजिकता जैसे जीवन मूल्यों के निर्वाह के लिए मित्रो पर पुरुष की देहरी पर से वापस लौट आती है। कृष्णाजी चाहतीं, तो बड़ी आसानी से मित्रों के संबंध किसी गैर-पुरुष के साथ दिखा सकती थीं। लेकिन उन्होंनें ऐसा नहीं किया, क्योंकि मित्रों को कहीं-न-कहीं यह अहसास जरूर है कि उसका पति तो सच्चा-मुच्चा मर्द है, भटकन उसी के अँदर है। यही वजह है कि मित्रो वापस लौट आती है। यहां पर समकालीन स्त्री-लेखन की नारी संबंधित दृष्टि तथा कृष्णा सोबती की नारी-दृष्टि का फर्क पता चलता है। कृष्णा सोबती के नारी पात्र जिस जमीन पर रह कर संघर्ष करते हैं, यह जमीन उनकी अपनी है, विदेशी नहीं। उनके पात्र नारीवाद की अवधारणाओं को प्रस्तुत करने के लिए नहीं रचे गये हैं। घर-परिवार जैसी सामाजिक संस्थाओं के महत्त्व की जाँच, सोबती के नारी पात्र, उनकी रूढ़गत मान्यताओं को परे ले जाकर करते हैं। संस्थानिक मूल्यों का महत्त्व, कृष्णा सोबती के स्त्री एवं पुरुष, दोनों वर्गों के पात्रों के लिए समान है। कृष्णा सोबती के नारी पात्र इस मायने में समकालीन स्त्री-लेखन के स्त्री पात्रों से अलग दिख पड़ते हैं कि जहाँ आज का स्त्री-लेखन, नारीत्व से मुक्ति के सिद्धान्त पर चलता दिख रहा है, वहीं सोबती के यहां नारीत्व से मुक्ति नहीं, बल्कि सदियों से स्त्री को शोषित करते आ रहे पुरुष-आधिपत्य से मुक्ति का प्रश्न प्रमुख होकर उभरा है।

(ध) कृष्णा सोबती की भाषा और शिल्प का वैशिष्ट्य

किसी रचना के मूल अर्थ को वहन एवं संप्रेषित करने में शिल्प की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। रचना के वक्तव्य को संप्रेषित करने के लिए भाषा और

शिल्प के साथ जो प्रयोग कृष्णा सोबती ने किए हैं, वह उनके सर्जनात्मक व्यक्तित्व को एक नया आयाम देता है।

नयी कहानी आँदोलन के अँतिम दौर से कथाकार रचनाकार के रूप में स्थापित कृष्णा सोबती ने कथ्य एवं शिल्प के साथ विभिन्न प्रयोग किए हैं, तथा यही प्रयोगशीलता उनकी रचनाओं की प्राणवस्तु है। कृष्णा सोबती के कथा-साहित्य की भाषा तथा शिल्प, प्रयोगशीलता की वजह से विशिष्ट बन पड़े हैं। उनके उपन्यासों और कहानियों में जो कथ्यगत वैविध्य है, उसी के अनुकूल शिल्प का प्रयोग भी सोबती के यहाँ हुआ है।

प्रेमचंद पूर्व तथा प्रेमचंद युगीन कथासाहित्य में कथानक हेतु सार्थक क्रमबद्धता,आरंभ-विकास चरम बिंदु, चरित्र-चित्रण एवं वातावरण इत्यादि आवश्यक तत्त्व माने जाते थे। लेकिन नई-कहानी ने कथा-लेखन के परंपरागत ढाँचे एवं फामूलाबद्ध लेखन को अस्वीकार किया, एवं जीवन के यथार्थ को ही रचना में प्रस्तुत करने का आग्रह किया, जिसका प्रभाव तत्कालीन कथा-साहित्य पर भी पड़ा। कथानक में अब घटनाओं और पात्रों से अधिक महत्त्व स्थितियों एवं पात्रों के अँतःसंघर्ष को दिया गया। कृष्णा सोबती के यहां भी जीवन के यथार्थ को अँकित करने के लिए भाषा एवं शिल्प की नवीनता दृष्टिगत होती है।

कृष्णा सोबती की रचनाओं के वस्तु-संघटन में परंपरागत एवं आधुनिक दोनों ही प्रकार की तकनीकों का उपयोग हुआ है। यदि एक तरफ 'मित्रो मरजानी' जैसा सरल एवं सुसंगठित कथानक है तो दूसरी तरफ 'जिंदगीनामा' का गुंफित कथानक भी । 'डार से बिछुड़ी' में जहां घटनाएँ त्वरित गति से घटती हैं, वहीं 'ऐ लड़की' में प्रायः घटना का अभाव है। कथारहित रचना का उदाहरण 'सूजरमुखी अँधेरे के' तथा 'यारों के यार' है। 'समय-सरगम' का कथा-तत्त्व अत्यंत क्षीण है। 'जैनी मेहरबान सिंह, को चलचित्रीय-पठकथा कहा जा सकता है।

'डार से बिछुड़ी' में कृष्णा सोबती ने कथानक-विकास के शास्त्रीय नियमों का पालन किया है। डॉ. गीता सोलंकी के अनुसार, "उपन्यास का प्रथम अध्याय

'आरंभ' है जहाँ पाशो एवं उसके परिवार को सामाजिक मान्यताओं और संस्कारों के संदर्भ में देखा गया है। परंपरागत संस्कारों वाला परिवार अपने सम्मान को बचाए रखने के लिए पाशो के प्राणों की बलि चाहता है तो पाशो सुरक्षित स्थान की तलाश में भाग खड़ी होती है। दूसरी अवस्था 'यत्न' के बीच प्रथम अध्याय के अंत में पड़ चुके हैं। यहाँ पाशो का अपनी माँ और शेखजी से मिलना और फिर दिवानजी की दुल्हन बनकर गृहस्थी में सुख तलाशने लगना है। फिर अकस्मात दिवानजी की मृत्यु के साथ तीसरी अवस्था 'प्राप्तयाशा' शुरू होती है जो तीसरे अध्याय से शुरू होकर अंत तक चलती है। चौथी अवस्था 'नियताप्ति' के रूप में पाशो के मन की वह आस है जहाँ वह बिछुड़े बेटे से मिलने का स्वप्न देखती है, उसके दूल्हा बनने का अरमान सजाती है, घर-परिवार की याद करती है। अँतिम अवस्था 'फलगम' एक धमाके के साथ उपन्यास के अंतिम पृष्ठ पर प्रकट होती है जहाँ बिछुड़ी बिटिया पाशो अपनी डार से आन मिलती है।"[96]

'तिन पहाड़' में पाश्चात्य काव्यशास्त्र में स्वीकृत कथा-विकास की तीन अवस्थाएँ दृष्टिगत होती हैं। प्रथम अवस्था के अँतर्गत रहस्यात्मकता का वातावरण व्याप्त है। उपन्यास के आरंभिक पन्नों में खामोश वातावरण में सिसकियाँ भरतीं जया के प्रति पाठक जिज्ञासु हो उठता है। वह जानना चाहता है कि जया कौन है? क्या दुःख है उसका? दूसरी अवस्था में श्री के आगमन की कथा है। जया और श्री का प्रेम, विवाह की सहमति, श्री का विदेश-गमन, जया और माँ को इस घटना से होने वाले आघात त्वरित गति से उभरते चले जाते हैं। तीसरी अवस्था में होता है जया का विलुप्त होना, जया की तलाश में तपन का भटकना, जया की उद्वेलित मनःस्थिति एवं अँत में आत्महत्या।

कृष्णा सोबती की रचनाओं में कथा-प्रस्तुतिकरण की प्रायः सभी शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं। 'डार से बिछुड़ी', 'बादलों के घेरे', तथा 'कुछ नहीं कोई नहीं' में फ्लैशबैक तकनीक का प्रयोग किय गया है। 'डार से बिछुड़ी' में वर्तमान कथा के सूत्र को विगत् घटना सूत्र से प्रासंगिक रूप से जोड़ दिया गया है। उपन्यास में

पाशो के मानस पटल पर उसका अतीत घूमता रहता है, "पर जो मैं थी, वह क्या फिर से लौट आई हूँ? भरे उठान अकड़कर, आँखों से रंगीन डोरे बिखेरते राह पर से चली जाती! ठहरने को न कपड़ा ठहरता, न नजर! और बाँहें किन्हीं प्यासी गलबहियों-सी हर अँगड़ाई के संग उठतीं, खिलतीं और अपने में सिमट जातीं।"[97] टुकड़ों-टुकड़ों में पूर्वदीप्ति प्रणाली के माध्यम से अतीत और वर्तमान की आवाजाही उपन्यास के वस्तु–संघटन को अत्यंत रोचक और युक्तिसंगत बनाती हे।

'ऐ लड़की' में सोबती कहीं भी कहानी कहती नहीं दिखतीं। पूर्णतः संवाद शैली में लिखे गये इस उपन्यास में स्थितियों और प्रसंगों के तनाव में पूरी कहानी बुनी गई है। कथ्य सिर्फ इतना ही है कि अम्मू मृत्युशैय्या पर पड़ी है और अर्द्धचेतनावस्था और चेतनावस्था में आती-जाती, लड़की से अतीत, वर्तमान और भविष्य के कई मुद्दों पर संवाद करती है। समय के जिस बिंदु पर अम्मू, लड़की के साथ खड़ी है, वह मृत्यु के आगमन का समय है। अम्मू के जीवन का अँत हो रहा है, जबकि लड़की के आगे पूरा जीवन पड़ा है। समय के इस बिन्दु पर अम्मू और लड़की की प्रतिक्रियाएँ अनेक वाक्यों में फैली पड़ी हैं। पारंपरिक अर्थ में कथानक का अभाव होने के कारण इसमें आदि, मध्य और अंत का अभाव है। उपन्यास के प्रारंभ में ही पाठक को यह पता लग जाता है कि लड़की की माँ मृत्युशय्या पर है, "मेरी देहरी की साँकल तो खुल चुकी।"[98] अम्मू की मृत्यु भी पाठक के लिए आश्चर्य का कारण नहीं बनती। 'ऐ लड़की' में कथानक का चरम बिंदु अनुपस्थित है क्योंकि इसमें घटनाएँ नहीं हैं, बल्कि एक स्थिति का निरूपण है। इस उपन्यास के पात्रों का वातावरण स्वायत्त होते हुए भी वे बाह्य जगत से कटे हुए नहीं हैं। कहानी में प्रमुख रूप से भले ही तीन पात्र हैं, अम्मू, लड़की और नर्स, फिर भी रसोईया, डॉक्टर तथा अपेक्षित आगंतुक (जिसकी प्रतीक्षा अम्मू को है) की उपस्थिति संपूर्ण वातावरण में बनी रहती है। संवादों के माध्यम से उपन्यास की कथात्मक-अन्विति बनी रहती है। अम्मू कहती है, "देखो दरवाजे की घंटी बज रही है..... कौन है?

.....अम्माजी, कोई नहीं!

.....फिर से देखो, शोभाराम के आने का वक्त है।"[99]

इसी प्रकार, अम्मू फिर कहती हैं, "हाँ एक कुर्सी और रख जाओ। मेरा बेटा आने वाला है। दफ्तर से सीधा यहीं आता है।"[100] इन छोटे-छोटे ब्यौरों से अम्मू की प्रतीक्षारत मनःस्थिति के साथ यह भी ज्ञात होता है कि उनका बेटा, जिससे वह बहुत स्नेह करती हैं, उनके साथ नहीं रहता। इस उपन्यास में वर्णनात्मकता प्रायः नहीं है तथा सोबती ने दृश्यात्मक विधान ग्रहण किया है। दृश्यात्मकता का क्रम उपन्यास के आरंभ से अंत तक चलता रहता है। दृश्यात्मकता की उपस्थिति के लिए सोबती ने छोटे-छोटे ब्यौरे दिए हैं, "अम्मू लंबे क्षण तक दरवाजे की ओर देखती चली जाती है। फिर संकेत से लड़की को पास बुलाती है, जैसे कान में कुछ फुसफुसाती हो।"[101] ऐसे विवरण पाठक के सम्मुख अम्मू और लड़की का चित्र उपस्थित कर देते हैं, जिससे रचना, पाठक के अनुभव संसार की सीमा में आ जाती है।

'यारों के यार' तथा 'सूरजमुखी अँधेरे के' जैसे उपन्यासों की प्रतीकात्मक शैली उन्हें प्रभावी बनाती है। 'तिन पहाड़' में वर्णनात्मकता के साथ-साथ प्रतीकात्मकता भी है। इस उपन्यास का आरंभ प्रतीकात्मक शैली में होता है, "साँझ की उदास-उदास बाँहें अँधियारे से आ लिपटीं।--- हरियाली के बिखरे आँचल, पत्थरों के पहाड़ उभर आये।.....परछाई का सा सूना स्टेशन, दूर जाती रेल की पटरियाँ और सिर डाले पेड़ों के काले उदास साये।"[102]

कथा प्रारंभ करने में भी कृष्णा सोबती ने विविधता अपनाई है। 'यारों के यार', 'मित्रो मरजानी', 'सूरजमुखी अँधेरे के', 'दिलोदानिश' एवं 'समय सरगम' का प्रारंभ वर्णनात्मक है तो 'डार से बिछुड़ी' और 'ऐ लड़की' का प्रारंभ ही पात्रों के संवादों के माध्यम से हुआ है। 'जिंदगीनामा' का प्रारंभ भूमिका के साथ हुआ है, तथा कथानक गुंफित है। 'ऐ लड़की', 'डार से बिछुड़ी' एवं 'मित्रो मरजानी' में कथा आरंभ होने के बाद पूरी तरह पात्रों के मनोसंघर्ष, उनके संवादों एवं

प्रतिसंवादों के माध्यम से आगे बढ़ती है जबकि 'दिलोदानिश' 'समय सरगम', 'जिंदगीनामा' इत्यादि में सोबती की दखलअंदाजी भी है।

रचनाओं के शीर्षक पर नजर डालें, तो पता चलता है कि सोबती एक तरफ परंपरागत दृष्टि का निर्वाह करती हैं, तो दूसरी तरफ आधुनिक दृष्टि का भी। 'मित्रों मरजानी' एवं 'जैनी मेहरबान सिंह' जैसे उपन्यास एवं 'नफीसा' तथा 'लामा' जैसी कहानियों में परंपरागत दृष्टि का निर्वाह हुआ है, जहाँ रचना का नाम नायक या नायिका के नाम पर होता था, जबकि 'जिंदगीनामा' में शीर्षक पंजाब के जटट डेरा गांव को ध्वनित करता है। 'डार से बिछुड़ी' एक बिंब की रचना करता है, जिसके अंतर्गत पाशो का अपने परिवार का साथ, उससे बिछराव, उसका भटकना तथा पुनः अपने परिवार से आ मिलना उस चिड़िया की याद दिलाता है जो अपनी कतार से बिछुर कर भटकती है तथा अनेक संघर्षों के बाद पुनः अपनी डार से आ मिलती है। 'तिन पहाड़' तथा 'सूरजमुखी अँधेरे के' जैसे शीर्षकों में प्रतीकात्मकता है जो जया और रत्ती की मानसिकता को दर्शाते हैं। 'ऐ लड़की' शीर्षक उपन्यास की कथन -पद्धति को निरूपित करता है, तो 'दिलोदानिश' से उपन्यास का कथ्य प्रकट होता है।

कृष्णा सोबती की रचनाओं का वस्तु-संघटन अत्यंत संश्लिष्ट है। यहाँ संपूर्ण तत्त्व इस प्रकार अंतःर्गुफित हुए हैं कि कथा के पंरपरागत नियमों के पालन के साथ-साथ आधुनिक प्रस्तुति-तकनीक का भी जीवंत अहसास होता है। पठनीयता का तीव्र आग्रह रचनाओं के वस्तु-संघटन की श्रेष्ठता को प्रकट करता है।

कृष्णा सोबती की रचनात्मक प्रयोगशीलता को निरूपित करने वाला एक प्रमुख तत्त्व 'भाषा' है। किसी रचनाकार का जितना धनिष्ठ संबंध अनुभव और संवेदना से होता है, उतना ही भाषा से भी। अनुभव और संवेदना को संप्रेषित करने में भाषा की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यथार्थ की रचनात्मकता का सबसे महत्वपूर्ण पहलू भाषा है। भाषा के माध्यम से ही हम यथार्थ को देखते और पहचानते हैं। समकालीन यथार्थ की खोज वस्तुतः भाषा की खोज बन जाती है।

प्रत्येक लेखक को अपनी भाषा की तलाश करनी पड़ती है क्योंकि भाषा एक वैचारिक संवाद है। भाषा के द्वारा रचनाकार पाठकों से तादात्म्य बिठाता है। भाषा की उत्पत्ति समाज के भीतर ही होती है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, "समाज भाषा की जन्मभूमि है और कर्मभूमि भी। यही से नये शब्द पैदा होते हैं, पुराने शब्दों में नया अर्थ भरता है और उन्हें नया जीवन मिलता है। समाज ही भाषा की शक्ति का मुख्य स्रोत है और समाज के कर्ममय जीवन में भाषा की क्रियाशीलता सार्थकता पाती है। समाज के जीवन कर्म से भाषा की शक्ति, गति और क्रिया के गतिशील संश्लिष्ट संबंध की अभिव्यक्ति त्रिलोचन की इन पंक्तियों में है:

भाषा की लहरों में जीवन की हलचल है
ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है।"[103]

समाज के प्रत्येक वर्ग की भाषा एकसमान नहीं होती है। भाषा का रंग-रूप भी सामाजिक वर्गों से बराबर प्रभावित होता है। भाषा के प्रति सजगता के इस आग्रह को सोबती ने ध्यान में रखा है, "भाषा और भाषा में फर्क है। भाषा का मुहावरा, लहजा और उसकी सँवरन हर वर्ग के चौखट्टे के साथ बदलते हैं। मजदूर किसान की भाषा अपने तेवर से सफेदपोश शिक्षित वर्ग और अभिजात के मुलायम मँजे हुए मिज़ाज और परिष्कार से अलग जा पड़ती है। जो हाथ की मेहनत से जुड़ी है उसमें संघर्षों की टकराहटों से तल्खी पैदा होती है। तरेर और तुर्शी भी। चिंतन की भाषा अपने बौद्धिक संस्कार से परिष्कृत होती चली जाती है, स्थूल से सूक्ष्म भी। इस प्रक्रिया में जहाँ भाषा की गरमाहट कम होती है, वहां गहराई का तेवर और ज्यादा फैलता है। जो परंपरागत मूल्यों और आस्थाओं की दावेदार होती है उसका विशिष्ट पंडताऊपन और क्लिष्ट शब्दावली जनसामान्य की सीधी-सादी अभिव्यक्ति के आड़े आते हैं। सृजन की भाषा अपनी व्यापकता में ऊपर से जितनी सहज और लचकीली लगती है या खुलेपन का आभास देती है – लेखक से वह उतने ही कड़े संयम की माँग करती है।"[104]

भाषा का प्रयोग इसी वजह से एक जोखिम का काम माना जाता है। भाषा को लेकर अनेक समस्याएँ आज के सर्जक के सम्मुख हैं क्योंकि बदलते सामाजिक परिदृश्य ने सामाजिक अनुभवों में भी बड़े पैमाने पर बदलाव किया है। बोलचाल की भाषा में इस सामाजिक बदलाव को व्यक्त करना ही आज के रचनाकार के सम्मुख एक बड़ी चुनौती है। भाषा प्रयोग की समस्या दो स्तरों पर आती है – एक तो गद्य की सामान्य प्रकृति के हिसाब से उसे वर्णित करना और दूसरा, यथार्थ के सूक्ष्म और जटिल अनुभवों को संप्रेषित करना। भाषा संबंधी प्रयोग करने वाले रचनाकारों में कृष्णा सोबती का एक महत्वपूर्ण स्थान है। समसामयिक यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए कृष्णा सोबती ने अनुभव की भाषा को माध्यम बनाया है। प्रायः रचनाकार की समस्या यह होती है कि उसका प्रेरक समाज समान्यतः उसका पाठक समाज नहीं होता। जिस वर्ग की संवेदना को वह प्रकट करना चाहता है, उसकी बहुत बड़ी संख्या उसे पढ़ने की स्थिति में नहीं होती। ऐसी स्थिति में संवादहीनता का खतरा रचनाकार के समक्ष उपस्थित हो जाता है। कृष्णा सोबती के समक्ष ऐसी समस्या इसलिए नहीं आती कि वे जिस समाज या वर्ग का चित्रण करती हैं, उसी समाज से उसकी भाषा ग्रहण करती है।

बोलचाल की भाषा को अपनाकर सोबती ने जनसामान्य से अपना तादात्म्य स्थापित किया है। 'जिंदगीनामा' में उन्होंने पंजाब के गांवों में बोली जाने वाली भाषा को बिना किसी मिलावट के प्रस्तुत किया, क्योंकि उनका मानना है कि, "जिंदगीनामा की भाषा उसके संवाद की भावभिव्यक्ति में जिंदगीनामा के वातावरण, धरती और लोक की गंध को, अगोचर और अमूर्त को उसकी समग्रता में सँजोने और पकड़ सकने के लिए उस कालखंड के डिक्शन को साधे रखना जरूरी था। लोक और उसके संवाद के भाषायी ध्वनि-संस्कार को अपनाकर ही उसे बरकरार रखा जा सकता था।"[105] सोबती यह मानती हैं, कि जिस भाषा को लेखक रचना में प्रस्तुत करता है, उसे वह जीता भी है, "जिस भाषा को लेखक जीता नहीं, जिससे उसे लगाव नहीं, संबंध-सरोकार नहीं-उन्हें सृजन के स्तर पर वह रचना की बुनावट में सार्थक रूप में गूँथ नहीं सकता। सच तो यह भी है कि भाषा के

साथ गहरे में जुड़ा है लेखक का व्यक्तित्व, उसकी सोच, चिंताएँ और उसकी समूची जीवन दृष्टि।"[106]

'जिंदगीनामा' की भाषा, यथार्थ को उसके वास्तविक एवं कलात्मक रूप में चित्रित करते हुए भी एक प्रकार की आत्मीयता से संपृक्त करती है। चाहे वह व्यक्ति हो, या फिर प्रकृति की निराली छटा, कृष्णाजी अपनी भाषा एवं वर्णन करने की विशिष्ट शैली से उस दृश्य को न केवल मूर्त करती है बल्कि गति भी प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए शीरीं का यह परिचय, "चूल्हे की अँगियारी में दमदम दमकता शीरीं का मुखड़ा देख आँखों में ऐसी सोहनी झलक पड़ी ज्यों लड़की न हो बत्तर लगी खेती हो,"[107] या शाहों और मेहरअली का यह वर्णत; "अरबी-घोड़े सा लश-लश करता शाहों का चचेरा भाई तारेशाह। तीखे-तराशे नक्श शाहजी के और मुगल तातारी रंग।"[108] या फिर, "गबरू जवान मेहरअली धूप में भख-भख पड़ता था। गंधमी रंग पर अनोखी चमक जवानी और मेहनत की।"[109] मुहावरों का प्रयोग भी स्थान-स्थान पर हुआ है, "पच्छी पकड़ाते पकड़ाते नूरा ने जालिम अँखियों से सुलेमान को हड़प्प कर डाला।"[110] या फिर 'ठानेदार को देख जनानियों को हाथ पैर पड़ गये।"[111] इन मुहावरों से भाषा जीवंत हो उठी है। भाषा के जितने रूप और स्तर जिंदगीनामा में हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ है। अदालत में झूठी गवाही देने वालों को शाहजी 'भजनिए' कह कर संबोधित करते हैं, "मुकददमें में रंग भरने को यही भजनिए काम आते हें। ..... इन्हें खड़ा किया कचहरीयाँ और गाने लगे भजन।"[112] उर्दू का भी जगह-जगह पर प्रयोग हुआ है "आसमानों की हकीकत रव्वा कुछ भी समझी जाए, मगर उनके वजूद और उनकी मजबूती में किसी को शक नहीं। आसमानों की हर एक चीज अपनी मुर्फरा जगह के अँदर निहायत मजबूती से कायम है।"[113] रेशमा राबयाँ के मनोभावों को पढ़कर कह उठती हैं, "अपनी आँखों में देख- एक नहीं दो-दो चनाब तेरी आँखियों में लिशकारे मारते हैं।"[114]

भाषा के कलात्मक उपयोग का प्रत्यक्ष उदाहरण है मोटी औरतों को 'थुल्लकुमारी' और बुजुर्गों की हंसी को 'खुश्क गलों की खाँसियाँ मंजी पर फुदकने लगीं, कहना। भाषा की वक्रता और चपलता का एक अन्य उदाहरण है, अचानक आई मौत को, 'एक ही झटके में खंदक पार कर गया कहना। निर्मला जैन के अनुसार जिंदगीनामा की, "भाषा सिर्फ जिंदगी की बोलती धड़कती भाषा है; अपनी समूची लय, मुहावरेदानी और जिंदा शब्दावली के साथ सबरंग भाषा। 'दूध-मक्खन की तरह दिल के दर्पण में भी बल आ जाए तो ख्याल मैला हो जाता है–"जैसी मुहावरेदानी के सामने विशुद्धता और आभिजात्य के लिस किया गया शीर्षासन कितना निरर्थक हो सकता था, कहने की आवश्यकता नहीं। 'जिंदगीनामा, की भाषा ज़बाने खलक है।"[115]

भाषा वैविध्य कृष्णाा सोबती की प्रयोगशीलता का परिचायक है। सोबती के अनुसार, "एक ही मुखड़े और तेवर वाली भाषा में सोचना और लिखना मुझे उबाऊ लगता है।"[116] 'मित्रो मरजानी' में जहाँ सोबती ने गांव-कस्बे के साधारण मध्यवर्गीय परिवार की भाषा को अपनाया है, वहीं 'तिनपहाड़' में रोमानी अभिजात्य शैली की भाषा का प्रयोग किया है। 'डार से बिछुड़ी' में पाशो की भाषा, तत्कालीन भारतीय समाज में नारी की स्थिति को व्यंजित करती है–"आँगन के बीचो-बीच छोटे कुँए की चरखड़ी पर लज लटकती थी। गागर उठा नीचे बहा दी तो जान पड़ा, मैं भी चरखड़ी पर चढ़ी लज हूं। कभी इस गागर, कभी उस गागर!"[117]

'ऐ लड़की' में कृष्णा सोबती की रचनात्मक ऊर्जा ने भाषा को जीवंतता प्रदान की है। पंजाबी जनसंस्कृति से कृष्णा सोबती की गहरी संपृक्तता है। इसी संपृक्ति ने रचना की भाषा को अँकुरित एवं पल्लवित किया है। परंपरागत पंजाबी परिवेश की झलक, "अम्मीजी, बाहर से चौंध आएगी" तथा 'मुझे तो चुटले की एक ही गूँथ भाती है", जैसे वाक्यों से प्रकट होती है।

कृष्णा सोबती की भाषा उनके स्वयं के जीवनानुभवों को भी संप्रेषित करती है। भाषा को उन्होंने जीवन की प्रक्रिया से ग्रहण किया है, "किसी के धकेलने से

कोई धावक नहीं होता। खुद अपनी दौड़ दौड़ने से धावक कहलाता है।"[118] सर्जनात्मक भाषा के विकास एवं अनुभव को रूपांतरित कर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास 'ऐ लड़की' उपन्यास में मिलता है। काव्यात्मकता, इस उपन्यास की विशिष्टता है। वर्णन की भाषा काव्यात्मक होकर उभरी है, "आकाश में उड़ते पाखी तो देखे हैं न तुमने! टहनियों से फूटती-हरी-हरी कोपलें भी देखी होगीं। बदलती रूत की हवाएँ महसूस की होंगी। ओस जड़ी घास पर नंगे पाँव तो चली हो न। सरदियों की गुनगुनी धूप भी सेंकी होगी।"[119] जीवन को उसकी संपूर्णता में जीना तथा इस लोक को ही सत्य मानना, यही अम्मू का जीवन दर्शन है जो इन पंक्तियों से प्रकट होता है। कृष्णा सोबती सपाट लेखन में विश्वास नहीं रखतीं। उनके अनुसार, "जो बचा वह इतना ही कि अच्छी कविताओं की पंक्तियाँ आस-पास मंडराती रही। अपने ही ढंग से उन्हें अपने लिए दोहराती भी रही।"[120]

'ऐ लड़की' की भाषिक सर्जनात्मकता की सफलता में बिंब एवं प्रतीकों का भी योगदान है। कृष्णा सोबती ने जो बिंब उठाए हैं वे जीवन से जुड़े हुए हैं, "मछली तड़प रही है, जीवन हिरण है हिरण, लगे चीड़ का पेड़ ही मेरे अँदर उग आया है, जैसे बिंब प्रकृति और आस-पास के वातावरण के वातावरण से लिये गये हैं। प्रतीकों के प्रयोग से अर्थव्यंजना बढ़ गई है। "यह मौत बड़ी कटखनी है। अगला-पिछला सब वसूल कर लेती है।"[121] तथा 'पानी बरसने के आसार हैं कि नहीं'[122] जैसे प्रतीक अम्मू की मनोदशा की ओर संकेत करते हैं।

'यारों के यार' में कृष्णा सोबती ने जिस प्रवाहमयी और बेलौस भाषा का प्रयोग किया है, वह दफ्तरी जीवन के भीतरी माहौल को, उसके यथार्थ को उकेरने में सक्षम सिद्ध हुई है। 'यारों के यार', में "गूं के बालशाही', 'माँ के पोदनो, चूतिया आदि भददी देसी गालियाँ के खुले प्रयोग के कारण आलोचकों ने इसे अश्लील ठहराया है। लेकिन कृष्णा सोबती इन्हें आम बोलचाल का हिस्सा मानती है। इनके अनुसार , "गालियाँ भी भाषायी संस्कृति और सभ्याचार का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। ...गालियाँ समाज के विद्रूप और विसंगतियों को ही प्रकट करती हैं। गालियों

की अपनी सत्ता है। हिंसा, विरोध, घृणा, धिक्कार, रोष, तिलामिलाहट, या उत्पीड़न और शोषण के खिलाफ़ अपने घावों को खोल देने को ही कर्कश सटीक आवाजें इन्सानी सहनशक्ति को फाड़कर फूट पड़ी होगी। हिंसा-प्रतिहिंसा को उभारती छोटी बड़ी वजनी गालियाँ अपने भाषायी अधिकार से विश्व की तमाम भाषाओं में अपनी जगह सुरक्षित किए हैं। उन्हें किसी भी संहिता के अनुसार मानवीय शब्दावली से बाहर नहीं किया जा सकता।"[123] कृष्णा सोबती यह मानती हैं कि, " साहित्य अपनी रचनात्मक नैतिक संहिता में धर्म शिक्षा नहीं। जीवन में जो कुछ भी है, साहित्य उसका दर्पण है।"[124]

कृष्णा सोबती लम्बे-लम्बे ब्यौरों और वर्णनों से बचने का प्रयास करती रही हैं। शब्दों की फ़िजूलखर्ची उन्हें मंजूर नहीं। राजेंद्र यादव के अनुसार, "मोती चुनना, पच्चीकारी या ज़रदोजी की महीन-नफीस कारीगरी..... शब्दों को कोई भी ऐसा नाम दिया जा सके तो हिंदी में यह सिर्फ कृष्णाजी ने किया है। एक-एक शब्द, वाक्य, कॉमा, फलस्टॉप जैसे हफ्तों के परिश्रम से आया है। वे भयानक परफैक्शनिस्ट हैं।"[125] एक-एक शब्द को जतन से संजाने की लगन ही है जो कृष्णा सोबती की भाषा को विशिष्ट बनाती है। 'समय सरगम' में कृष्णा सोबती की भाषा, कई स्थलों पर गद्य और कविता का संश्लिष्ट रूप दिख पड़ती है। ऐसा लगात है जैसे गद्य को तोड़कर कविता लिखी गई हो, "अपने-अपने एकांतों की निस्तब्धता की वायलिन पर तरंगित होती लग रही है। अनचाहे को आतंकित करती, असमय ही यह अनबूझी समय सरगम।"[126] गद्य की भाषा में कहीं कोई अमूर्तन नहीं है। स्थतियों, एवं प्रकृति के परिवर्तित रूपों को गहरी चित्रात्मकता के साथ अँकित किया गया है– "उदात्त, अनुदात्त और त्वरित। इस जीवन की अनेकों-अनेक स्वर संज्ञाएँ, स्वरावलियाँ और श्रुतियाँ। और हर एक के आलाप में से बहते भक्ति-भाव, राग-विराग, प्रेम-अनुराग, पीड़ा-दर्द, स्मृति-विस्मृति, तृप्ति-तन्मयता, उल्लास, दुख-सुख, शोक-विषाद, आनंद-आह्लाद।

संचित जीवन का यही राग।"[127]

कृष्णा सोबती की भाषिक सर्जनात्मकता में उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का महत्त्वपूर्ण योग है। तत्सम, तद्भव, देशज एवं विदेशज, प्रायः सभी शब्दों का प्रयोग उन्होंने रचना के भावजगत के अनुरूप किया है। प्रयोगधर्मी शिल्प, एवं भाषिक सर्जनात्मकता कृष्णा सोबती के रचनाकार व्यक्तित्व की प्रमुख पहचान है।

संदर्भ सूची

---

[1] डॉ. प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृ. 36-37

[2] (सं) राजेंद्र यादव, हंस, प्रभा खेतान का लेख, पुरुषवादी नैतिकता, नारीवाद और भूमंडलीकरण,
दिल्ली, अगस्त, 2005, अक्षर प्रकाशन, पृ. 56

[3] वही, पृ. 56

[4] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 36

[5] सिमोन द बोउवार, दि सेकेंड सेक्स का हिन्दी रूपांतर स्त्री उपेक्षिता, प्रभा खेतान, हिंद पॉकेट
बुक्स, दिल्ली, 2004, पृ. 26

[6] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 41

[7] सिमोन द बोउवार, दि सेकेंड सेक्स का हिन्दी रूपांतर स्त्री उपेक्षिता, प्रभा खेतान, हिंद पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 2003, पृ. 27

[8] सुधीश पचौरी, उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1996, पृ. 122

[9] सुधा सिंह, ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008, प्र.94

[10] वही, पृ. 95

[11] वही, पृ. 98

[12] वही, पृ. 95

[13] सुधीश पचौरी, स्त्री-देह के विमर्श, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्र.सं.2000, पृ. 59

[14] Joril Mois, Sexual/Jexual Politics, London, 1988, p. 156

[15] प्रभा खेतान, पुरुषवादी नैतिकता, नारीवाद और भूमंडलीकरण (आलेख), हंस, अगस्त, 2005, दिल्ली, पृ. 60

[16] वही, पृ. 60

[17] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2003, पृ. 49

[18] वही, पृ. 49

[19] सुधीश पचौरी, उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1996, पृ. 124

[20] वही, पृ. 122

[21] राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय सं. 2007,

पृ. 254

[22] सुधीश पचौरी, उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.1996,

पृ.121

[23] राजकिशोर, स्त्री.पुरुष कुछ पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय सं. 2007, पृ.71

[24] वही, पृ.71.72

[25] वही, पृ.72.73

[26] डॉ. मैनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, बाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.2005, पृ. 147

[27] सुधा सिंह, ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, गंथशिल्पी प्रकाशन, प्र.सं. 2008, नई दिल्ली, पृ.102

[28] वही, पृ.103

[29] वही, पृ.104

[30] वही, पृ. 255-256

[31] वही, पृ. 257

[32] वही, पृ. 258-259

[33] वही, पृ. 73

[34] रोहिणी अग्रवाल, आकाश चाहने वाली लड़की के सवाल, हंस, मार्च, 2001, पृ.170-171

[35] निर्मला जैन, कथा प्रसंग : यथा प्रसंग, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2000, पृ. 114

[36] रोहिणी अग्रवाल, आकाश चाहने वाली लड़की के सवाल, हंस, मार्च, 2001, पृ. 170

[37] वही, पृ.170

[38] निर्मला जैन कथा और नारी संदर्भ, हंस, जुलाई, 1994, पृ.33

[39] वही, पृ.33

[40] मृदुला गर्ग, हंस, मई, 93, पृ.34

[41] कृष्णा सोबती, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2005, पृ.186

[42] कृष्णा सोबती एवं कृष्णा बलदेव वैद्य, सांबती.वैद संवाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2007, पृ. 149

[43] वही, पृ. 149

[44] राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि.सं.2007, पृ.167-168

[45] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रा.सं.2003, पृ.44

[46] वही, पृ. 44-45

[47] वही, पृ. 45

[48] वही, पृ. 47

[49] वही, पृ. 123

[50] रोहिणी अग्रवाल, आकाश चाहने वाली लड़की के सवाल, (लेख), हंस,मार्च, 2001, पृ. 172

[51] वही, पृ. 174

[52] वही, पृ. 174

[53] राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2007, पृ.115

[54] वही, पृ. 115

[55] वही, पृ. 112

[56] वही, पृ. 113

[57] मैत्रेयी पुष्पा, खुली खिड़कियां, सामायिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 205

[58] निर्मला जैन, कथा प्रसंगः यथाप्रसंग, वाणी प्रकाशन, प्र. नई दिल्ली, प्र.सं. 2000, पृ. 128

[59] राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि.सं. 2007, पृ.170

[60] राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि. सं. 2007, पृ.170

[61] सुधीश पचौरी, स्त्री.देह के विमर्श, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्र.सं.2000, पृ.69

[62] वही, पृ.65

[63] सुधा सिंह, ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, ग्रंथवादी पाठ, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008,

पृ. 47

[64] राजेंद्र यारव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि. सं. 2007,

पृ.114-115

[65] प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता – दे सेकेड सेक्स, (सिमोन द बोडबार) का हिंदी रूपांतरण, हिंद पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 2004, पृ. 31

[66] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, चतुर्थ सं. 2004, पृ. 32

[67] वही, पृ. 49

[68] अरविंद जैन, बंजर परिप्रेक्ष्य और बाँझ अनुभव (आलेख), हंस, अप्रैल, 1997,पृ. 32

[69] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम किताबघर प्रकाशन, 1994, दिल्ली, पृ. 86

[70] वही, पृ. 99

[71] कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, पं.सं. 2007, नई दिल्ली, पृ. 94

[72] सरला माहेश्वरी, नारी प्रश्न, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 1998, पृ. 48

[73] मृदुला गर्ग, प्रजा और गर्भाशय के बीच (आलेख), हंस, जनवरी 2002, पृ. 167

[74] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, 2004, पृ.74

[75] वही, पृ. 56

[76] वही, पृ. 210

[77] वही, पृ. 194

[78] निर्मला जैन, कथा प्रसंगः यथा प्रसंग, वाणी प्रकाशन दिल्ली, प्र.सं. 2000, पृ. 128

[79] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.1993, पृ. 117

[80] चित्रा मुद्गल, आंवा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 539

[81] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, किताबघर प्रकाशन, प्र.सं. 1994, दिल्ली, पृ. 242

[82] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.1993, पृ. 10

[83] वही, पृ. 13

[84] वही, पृ. 224

[85] अरविंद जैन, औरतःअस्तित्व और अस्मिता, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2000, पृ. 55

[86] वही, पृ. 63

[87] मधुरेश, हिन्दी उपन्यासः सार्थक की पहचान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.2002, पृ. 167

[88] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1991, पृ. 78

[89] वही, पृ. 37

[90] कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.2007, पृ. 203

[91] वही, पृ. 198

[92] राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, द्वि. सं. 2007, दिल्ली, पृ. 132

[93] वही, पृ. 133

[94] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, राजकमल प्रकाशन, प्र.सं. 1997, दिल्ली, पृ. 400-401

[95] कृष्णा सोबती, सारिका, जनवरी, 1979, पृ. 8-9

[96] डॉ. गीता सोलंकी, नारी चेतना और कृष्णा सोबती के उपन्यास, भारत पुस्तक भण्डार, दिल्ली,

2004, पृ. 79-80

[97] कृष्णाा सोबती, डार से विछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2005, पृष्ठ 16

[98] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1991, पृ. 8

[99] वही, पृ. 72

[100] वही, पृ. 82

[101] वही, पृ. 83

[102] कृष्णा सोबती, तिन पहाड़, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छठा संस्करण 2004, पृ.7

[103] डॉ. मैनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्र. नई दिल्ली, प्र.सं.2005, पृ. 95-96

[104] कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्र. नई दिल्ली, 1989, पृ. 411

[105] वही, पृ. 410

[106] वही, पृ. 411

[107] कृष्णा सोबती, जिंदगीनामा, राजकमल प्र. नई दिल्ली, 2007, पृ. 68

[108] वही, पृ. 68

[109] वही, पृ. 85–86

[110] वही, पृ. 73

[111] वही, पृ. 65

[112] वही, पृ. 78–79

[113] वही, पृ. 134

[114] वही, पृ. 206

[115] निर्मला जैन, कथाप्रसंगः यथाप्रसंग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.2000, पृ. 96

[116] कृष्णा सोबती, कथन, समास, अक्टूबर, 1992 सं अशोक वाजपेयी, पृ. 52

[117] कृष्णा सोबती, डार से विछुड़ी, राजकमल प्र., 2005, नई दिल्ली, पृ. 83

[118] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, प्र.सं. 1991, पृ. 65

[119] वही, पृ. 64

[120] कृष्णा सोबती, कथन, समास, अक्टूबर 1992, पृ. 52

[121] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, 1991, पृ. 38

[122] वही, पृ. 86

[123] कृष्णा सोबती, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.2005, पृ. 313

[124] वही, पृ. 314

[125] राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि. सं. 2007, पृ.125

[126] कृष्णा सोबती, समय सरगम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.2000, पृ. 138

[127] वही, पृ. 53

उपसंहार

उपसंहार

समाज से अलग साहित्य की कोई दुनिया नहीं होती। किसी भी युग का साहित्य, समाज–निरपेक्ष नहीं होता है। आधुनिक युग में साहित्य एवं समाज का जैसा अन्योन्याश्रित संबंध दृष्टिगत होता है, वैसा पहले कभी नहीं था। आज साहित्य की दुनिया समाज की आर्थिक संरचनाओं, सामाजिक ढाँचों, और राजनीतिक–सांस्कृतिक परिवेश से गहरे स्तर तक प्रभावित होती है। सामाजिक परिदृश्य को प्रतिबिंबित करने की वजह से ही आज का साहित्य युगीन यथार्थ से गहराई तक जुड़ा हुआ है। रचनाकार सामाजिक प्राणी होने की वजह से व्यक्ति और समाज से प्रभावित होता है। समाज के व्यापक विवेचन के साथ ही रचनाकार मानवीय जीवन के विविध रूपों एवं गतिविधियों को भी रचना में अभिव्यक्त करता है। वही रचनाकार सशक्त एवं प्रामाणिक अनुभूतियों से युक्त रचना की प्रस्तुति कर सकता है, जो सामाजिक एवं राजनीतितक परिस्पंदनों कोा व्यक्त कर सके।

आधुनिक हिन्दी रचनाकारों में कृष्णा सोबती का एक विशिष्ट स्थान है। सामाजिक यथार्थ की प्रामाणिक अनुभूति एवं जनसामान्य से संवादधर्मिता कृष्णा सोबती की रचनाधर्मिता की विशिष्टता है। सोबती ने लगभग छह दशकों तक फैले रचनाकाल में सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों के एक लंबे दौर का साक्षात्कार किया है। बदलते सामाजिक परिवेश ने उनकी रचनात्मक दृष्टि में भी बदलाव किया है, एवं उसे एक गुणात्मक ऊँचाई तक पहुँचाया है। कृष्णाजी ने जब लिखना आरंभ किया, वह द्वितीय विश्वयुद्ध के पास का समय था। आधुनिकीकरण के प्रभावस्वरूप वैचारिक स्वातंत्र्य, बुद्धिवाद तथा मानवतावाद को इस युग में प्रमुखता मिली। व्यक्ति की अस्मिता का प्रश्न, इस युग में महत्त्वपूर्ण होकर उभरा। व्यक्ति के अस्तित्व तथा अस्मिता का प्रश्न कृष्णा सोबती के यहाँ अपनी संपूर्णता में प्रस्तुत हुआ है। एक तरफ वह व्यक्ति–स्वातंत्र्य की जबर्दस्त पक्षधर हैं, तो दूसरी तरफ समाज भी उनकी चिंता

का विषय रहा है। व्यक्ति और समाज का समायोजन कृष्णा सोबती की रचनाओं का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है। अतः यदि कृष्णा सोबती की रचनाओं में अकेलेपन और स्वतंत्र जीवन दृष्टि को स्थान मिला है, तो वह सामाजिकता की शर्त पर नहीं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं सामाजिकता के मध्य एक प्रकार का संतुलन कृष्णा सोबती की रचनाधर्मिता की विशिष्टता है।

रचना में 'आत्म' कितना होना चाहिए और कितना नहीं, आज यह प्रश्न विचारणीय हो गया है। साथ ही, उस 'आत्म' को अभिव्यक्त करने के लिए लेखकीय तटस्थता भी एक अनिवार्य शर्त मानी जाती है। 'नई कहानी आंदोलन' ने रचना में आत्मपरकता को महत्वपूर्ण स्थान दिया। लेकिन 'नई कहानी' के अंतिम दौर से रचनाकार के रूप में स्थापित हुई कृष्णा सोबती की रचनाओं में, उनके अनुभवों को आधार बनाकर प्रवेश की छूट नहीं ली जा सकती। लेखकीय तटस्थता एवं निर्वैयक्तिकता, कृष्णा सोबती की रचनात्मक दृष्टि के महत्वपूर्ण अंग हैं। सोबती यह मानती हैं कि लेखकीय धर्म का अर्थ साहित्य के माध्यम से मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा ही है। इसलिए लेखक को अपने लेखन के दायरे में सामाजिक परिवेश में आ रहे बदलाव को रखना चाहिए। जीवन के सम तथा विषम का चित्रण लेखन को व्यापक फलक प्रदान करता है, ऐसा सोबती का मानना है।

कृष्णा सोबती का रचनाकर्म यथार्थबोध से अनुप्राणित है। सामाजिक यथार्थ को जीवन से जोड़कर सोबती ने अपने लेखन को प्रामाणिक एवं विश्वसनीय बनाया है। जीवन और लेखन के अंतर्संबंध को सोबती ने गहराई से समझा है और यही समझ उनके लेखन को सशक्त एवं प्रामाणिक बनाती है। कृष्णा सोबती की रचनाधर्मिता न तो व्यक्ति के अंतर्मन के साक्षात्कार तक सीमित है, न ही बाह्य परिवेश के स्थूल विवरण चित्रित करने तक। सोबती की रचनादृष्टि का केन्द्रबिन्दु रहा है– भारतीय समाज तथा इसमें आ रहे बदलाव।

कृष्णा सोबती की रचनाओं में उपस्थित कथानक भारतीय समाज के व्यापक एवं विस्तृत चित्रफलक को अभिव्यक्त करते हैं। स्वतंत्रतापूर्व तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक रूपरेखा, सामाजिक संवेग तथा नियंत्रक शक्तियों के वैविध्यपूर्ण चित्र उनके कथा–साहित्य में शामिल हैं। कृष्णा सोबती की रचना–यात्रा की शुरूआत पंजाब के जनसमाज के चित्रण से हुई है, जिसमें उत्तरोत्तर अन्य समाज भी शामिल होते चले जाते हैं। समाज के उच्च, मध्य तथा निम्न तीनों ही वर्ग अपनी परिवेशगत संपूर्णता के साथ सोबती की कथा–यात्रा मे सम्मिलित हैं। औपनिवेशिक भारत की टूटती सामंतवादी सामाजिक व्यवस्था से लेकर स्वातंत्र्योत्तर भारत की परिवर्तित होती हुई सामाजिक व्यवस्था की यथार्थ एवं सशक्त अभिव्यक्ति कृष्णा सोबती की रचनाओ में हुई हैं।

सामाजिक संस्थाएँ, किसी भी समाज की व्यवस्थित क्रमबद्धता को स्थिर रखने के लिए अनिवार्य मानी जाती हैं। संस्थाओं का कभी अंत नहीं होता, चाहे उनके स्वरूप में परिवर्तन हो जाए। सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप को प्रभावित करने में राजनीतिक, सामाजिक एंव आर्थिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योग होता है। आधुनिक युग में तीव्र औद्योगीकरण, प्रबल नगरीकरण ने जिस उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिय है, उसने विवाह एवं परिवार जैसी सामाजिक संस्थाओं के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप में आ रहे इस बदलाव को सोबती की रचना दृष्टि ने बखूबी व्यक्त किया है। 'डार से बिछुड़ी' की पाशो की सारी दौड़ अपनी बिछुड़ी 'डार' अर्थात् परिवार में मिल जाने की है, वहीं 'समय सरगम' तक आते–आते, आरण्या एवं कामिनी जैसे पात्रों के माध्यम से कृष्णा सोबती संस्थाओं की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगा देती हैं।

जीवन का स्वरूप कैसा है, अथवा कैसा होना चाहिए, यह साहित्यिक जगत में बहस का विषय रहा है। सुधारवादी रचनाकार जहाँ जीवन कैसा होना चाहिए, पर जोर देते हैं, वहीं यथार्थवादी रचनाकार जीवन कैसा है, का प्रस्तुतिकरण रचना में

करते हैं। कृष्णा सोबती के यहाँ यथार्थ को केन्द्र में रख कर ही पात्रों एवं उनके जीवन को प्रस्तुत किया गया है। अंतर्विरोध आधुनिक युग के मनुष्य के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गया है। आज का मनुष्य जीवन को दो स्तरों पर जीता है, एक उसका व्यक्तिगत जीवन तथा दूसरा उसका सामाजिक जीवन। जीवन के इन दो स्तरों में सामंतजस्य न बैठा पाना, मनुष्य के अंतर्विरोधों को व्यक्त करता है। कृष्णा सोबती की रचनाओं में उपस्थित पात्र भी चारित्रिक अंतर्विरोधों को जीते हैं।

व्यक्तियों के बगैर समाज का कोई अस्तित्व नहीं होता तथा समाज से अलग व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं होती। एक ही समाज के लोग, विभिन्न स्तरों की वजह से अनेक वर्गों से विभक्त हो गए हैं। वर्ग–भेद की यह भावना अनादि काल से समाज में विद्यमान है। समाज के उच्च, मध्य तथा निम्न वर्गों के जीवन के चित्रण का प्रयास कृष्णा सोबती ने अपनी रचनाओं में किया है, लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि सोबती की रचनादृष्टि उच्चवर्ग तथा मध्यवर्ग को ही केन्द्र में रखती है। समाज के निम्नवर्ग के जीवन का एकसमान चित्रण सोबती के यहाँ नहीं है। समाज के निम्न वर्ग के अंतर्गत आने वाली वेश्याओं के जीवन की त्रासदी का सम्यक विवेचन सोबती के यहाँ मिलता है, परन्तु किसानों एवं मजदूरों के जीवन–संघर्ष का प्रश्न अनुत्तरित रहा है। 'जिंदगीनामा' में यद्यपि स्थान–स्थान पर भूमिहीन मजदूर एवं कर्ज की चक्की में पिसते किसान दिखाई देते हैं, परन्तु उनके व्यवहार में भूपति शाहजी के विरुद्ध विद्रोह का कोई स्पष्ट स्वर नहीं दिखता। कई स्थलों पर ऐसा लगता है कि कि सोबती की पक्षधरता, भूपति शाहजी के साथ है। यदि वे चाहती तो किसानों एवं मजदूरों के आक्रोश को स्वर दे कर भूपति शाहजी के विरुद्ध एक समानांतर सत्ता के निर्माण का प्रयास कर सकती थीं, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है। समाज के निम्न वर्ग का चित्रण, कृष्णा सोबती की रचनाओं में बहुत ही कम हुआ है, एवं जहाँ हुआ भी है, वहाँ उनके आक्रोश को प्रतिरोध का स्वर देने का कोई

सार्थक प्रयास नहीं किया गया है। यह कृष्णा सोबती की रचनादृष्टि की सीमा है, जिससे वे स्वयं को मुक्त नहीं कर पाई है।

सामाजिक–राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों से समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन–स्तर तो प्रभावित होते ही हैं, साथ ही, जीवन मूल्य भी प्रभावित होते हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् शिक्षा के प्रचार–प्रसार, औद्योगीकरण, विकास योजनाओं, संचार क्रांति एवं भूमंडलीकरण तथा उदारीकरण ने जनसामान्य की जीवन शैली एवं सोच में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है। युगीन परिवर्तन, सामाजिक संबंधों एवं संदर्भों को प्रभावित करता है, परिणामतः जो जीवन–मूल्य किसी समय विशेष में सार्थक माने जाते थे, वे ही बदलते समय के साथ अपना अर्थ खोने लगते हैं। किसी भी रचनाकार का एक जीवन दर्शन होता है, जिसके अनुकूल जीवन–मूल्यों को वह रचना के माध्यम से स्थापित करता है। वर्तमान युग में परंपरागत तथा आधुनिक जीवन–मूल्यों का द्वंद्व प्रमुख होकर उभरा है। कृष्णा सोबती ने मूल्यों की इस टकराहट को अपनी रचनाओं में बखूबी व्यक्त किया है। कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में समाज की जड़ मान्यताओं, रूढ़ियों एवं जड़ जीवन मूल्यों का अस्वीकार है तथा व्यक्ति–स्वातंत्र्य को परिभाषित करने वाले नवीन जीवन मूल्य, जैसे चयन–स्वतंत्रता, अस्तित्व–संघर्ष एवं यौन–स्वच्छंदता की स्वीकृति है।

किसी रचनाकार की जीवन दृष्टि के निर्माण में उसके परिवेश, उसकी विचाराधारा एवं अनुभूतियों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। रचनाकार की सार्थकता इस बात में है कि किस हद तक अपने निजी एवं वैयक्तिक अनुभवों का साधारणीकरण कर सकता है। इस लिहाज से कृष्णा सोबती अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती हैं, क्योंकि उनकी रचनाओं पर 'आत्मपरकता' का आरोप 'चस्पाँ' नहीं किया जा सकता है। कृष्णा सोबती के लिए कोई भी रचना, जीवन के परिस्पंदनो की प्रस्तुति का माध्यम है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में, जिस व्यापक सामाजिक परिवर्तन की उम्मीद की गई थी, उसके पूरा न हो पाने की स्थिति ने आम आदमी को गहरे असंतोष भाव से

संपृक्त कर दिया। स्वतंत्रता के पश्चात सभी सामाजिक आदर्शों एवं जीवन मूल्यों के मापदण्ड बदल दिए। सामाजिक आयोजनों को लेकर जनता की जो भी आशाएँ थीं, उनका स्थान शीघ्र ही निराशा ने ले लिया। समस्त मानवीय मूल्यों व नैतिक प्रतिमानों पर से मनुष्य का विश्वास हटने लगा। संस्थागत संघर्षों एवं व्यक्तिवादिता ने सामाजिक नियंत्रण को कमजोर कर रख दिया। आज का व्यक्ति अपने सामाजिक–राजनीतिक परिवेश से सामंजस्य नहीं बैठा पाने की छटपटाहट की वजह से पीड़ित है। मनोनुकूल जीवन न जी पाने की विविशता ने उसे जीवन से परे धकेल दिया है, जीवन के प्रति एक ऊब पैदा कर दी है। 'यारों के यार' उपन्यास में मध्यवर्गीय व्यक्ति की इसी छटपटाहट, पीड़ा एवं ऊब को कृष्णा सोबती ने वाणी दी है।

आधुनिक युग में बढ़ते औद्योगीकरण, तीव्र नगरीकरण तथा उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य को उसकी जड़ों से बेगाना कर दिया है। निराशा, कुण्ठा, असुरक्षा एवं असंतोष ने मनुष्य को न केवल समाज से, बल्कि अपने आप से भी अलग कर दिया है। परन्तु इसके बावजूद अपनी परिस्थितियों से लड़ने का माद्दा भी आज के मनुष्य के अंदर है। कृष्णा सोबती की रचनाओं में उपस्थित पात्र भी जीवन संघर्ष से गुजरते हैं, परन्तु परिस्थितियों के आगे समर्पण नहीं करते। चाहे वह पाशो हो, या रत्ती या महकबानो या फिर आरण्या, जीवन को जीने की जिजीवषा इनके अंदर भरपूर है। जीवन के प्रति किसी प्रकार की निषेधात्मक सोच इनके यहाँ नहीं मिलती। कृष्णा सोबती अपने कथा–साहित्य के माध्यम से जीवन को उसकी संपूर्णता में जीने का आग्रह प्रस्तुत करती है।

भारतीय समाज तथा साहित्य में नारी की प्रस्थिति हमेशा से ही जटिल तथा परिवर्तनशील रही है। भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति की परिवर्तनशीलता को तद्युगीन साहित्य में अभिव्यक्ति मिली है। स्त्री के व्यक्तित्व विकास के आधारों में आ रहे परिवर्तन को कृष्णा सोबती ने अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है। इनके नारी

पात्र अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक हैं, अधिकारों के प्रति सजग हैं तथा जड़ सामाजिक–धार्मिक रूढियों एवं परंपरागत मूल्यों के प्रति संघर्षशील है। कृष्णा सोबती की नारी, नारीत्व से मुक्ति की आकांक्षी नहीं बल्कि पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था की बेड़ियों को तोड़ने की आकांक्षी है। नारी जीवन के विविधात्मक पक्षों का यथार्थ वर्णन कृष्णा सोबती की रचनाधर्मिता की विशिष्टता है। सोबती के नारी पात्रों का व्यक्तित्व बहुआयामी है। एक तरफ समाज की अपेक्षित एवं शोषित वर्ग की स्त्रियाँ जैसे वेश्या एवं रखैल हैं तो दूसरी तरफ नौकरी पेशा सुशिक्षित स्त्रियाँ एवं घरेलू स्त्रियाँ है। वे पत्नी हैं, तो प्रेमिका भी हैं, सहनशील हैं तो दबंग भी हैं, परंपराबद्ध हैं तो परंपरामुक्त भी हैं। कृष्णा सोबती की रचनाओं में उपस्थित नारी सामाजिक रूढ़ियों एवं दोहरे नैतिक प्रतिमानों का अतिक्रमण कर अपनी अस्मिता की खोज का प्रयास करती है।

सामाजिक–राजनीतिक परिवेश में बदलाव के साथ ही जीवन–मूल्य तथा मानवीय संबंधों में भी जबर्दस्त बदलाव आया है। संबंधों के जिस क्षेत्र को सबसे अधिक परिवर्तन को देखना पड़ा है, वह है स्त्री एवं पुरूष के आपसी संबंध। इस परिवर्तन के पीछे प्रमुख कारण रहा है नारी का शिक्षित एवं आत्मनिर्भर होना। कृष्णा सोबती की रचनाओं में स्त्री–पुरूष संबंधों को नैतिकता का आवरण चढ़ा कर प्रस्तुत नहीं किया गया है। सोबती के नारी पात्रों में नारी होने का कोई हीन भाव नहीं है। वे आत्मपीड़क नहीं, पुरूष की दया पर आश्रित नहीं है, एवं अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखती हैं। कृष्णा सोबती के यहाँ स्त्री–पुरूष संबंधों में प्रमुख होकर उभरा है पति–पत्नी संबंध। नवीन जीवन मूल्यों ने पति–पत्नी के आपसी संबंधों को भी प्रभावित किया है। यदि सोबती के यहाँ पति–पत्नी के परंपरागत संबंध दृष्टिगत होते हैं, जहाँ पति ही सभी निर्णयों का अधिकारी होता है, एवं पत्नी की स्वतंत्र इच्छा कोई मायने नहीं रखती, तो दूसरी तरफ परंपरागत संबंधों से हट कर वैसे संबंध भी हैं जहाँ पति

से बराबरी का हक माँगनेवाली पत्नी मौजूद है। स्त्री एवं पुरूष के मध्य मैत्री संबंध के विभिन्न स्थितियाँ भी सोबती की रचना–परिधि के अंतर्गत आती है।

सामाजिक एवं राजनीतिक परिदृश्य में बदलाव ने नारी की सामाजिक प्रस्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया है। शिक्षित एवं आत्मनिर्भर होने की वजह से उसके रहन–सहन एवं आचार–विचार में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया है। नारी–आंदोलनों ने नारी की सोच को भी गहरे तौर पर प्रभावित किया है। आज स्त्री, पुरूष से समानधिकार की अपेक्षा रखती है एवं जीवन से जुड़े कई मुद्दों, जैसे विवाह और प्रेम इत्यादि को प्रश्नात्मकता की दृष्टि से देखती है। प्रेम और विवाह आज जन्म–जन्मांतरों का बंधन नहीं रहा, बल्कि अपनी सुविधानुसार परिवर्तित किया जाने वाला संबंध बन गया है। प्रेम संबंधी दृष्टिकोण में आये परिवर्तन को कृष्णा सोबती की रचनाओं में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया गया है। प्रेम यहाँ वायवी या अशरीरी ही नहीं, बल्कि शारीरिक संतुष्टि का भी माध्यम बन गया है। मित्रो के लिए प्रेम में शरीर भी अनिवार्य है, तथा शारीरिक एवं मानसिक संतुष्टि के मध्य तादात्म्य न मिल पाने की स्थिति में वह अपने असंतोष को खुलकर व्यक्त करती है। मित्रो के ठीक विपरीत है मन्नो या जया का प्रेम, जिसे न पा सकने की स्थिति में उनके पास स्वयं को घुला–घुलाकर मारने या आत्महत्या के सिवा कोई विकल्प नहीं बचता।

कृष्णा सोबती की रचनाओं में विवाह की विसंगतियों एवं विकल्प की तलाश को उकरने का प्रयास भी मिलता है। आधुनिक नारी, सिर्फ 'विवाह के लिए विवाह' नहीं करना चाहती है और तब तक इंतजार करना चाहती है जब तक उसे मनोनुकूल जीवनसाथी नहीं मिल जाता। 'समय सरगम' की आरण्या, तथा 'ऐ लड़की' की लड़की कुछ ऐसे ही पात्र हैं। विवाह के समानांतर एक विकल्प, जो कुछ–कुछ आज की terminology के live-in जैसा है, का उदाहरण 'दिलोदानिश' में वकील साहब और महक बानो के संबंध हैं। एक भरा–पूरा परिवार होने के बावजूद वकील साहब एक समानांतर संबंध भी रखते है। विवाह एवं परिवार जैसी सामाजिक संस्थाओं की सुरक्षा

की चिंता सोबती आरंभ में करती हैं, परन्तु धीरे–धीरे उन्हीं की अर्थवत्ता पर वे प्रश्नचिह्न लगाती हैं।

भारतीय समाज में नारी की पहचान हमेशा उसकी देह के माध्यम से हुई है। वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक, स्त्री को उसके शरीर तक ही सीमित करके देखा गया। सदियों से पुरूष ने नारी की देह को अपना उपनिवेश बनाकर रखा। नैतिकता के प्रतिमान भी स्त्री के लिए कुछ और थे, जबकि पुरूष के लिए कुछ और। आधुनिक नारी ने यौन–नैतिकता के इन दोहरे मापदण्डों को प्रश्नांकित किया है। कृष्णा सोबती के नारी पात्र यौन–शुचिता के दंश से आक्रांत नहीं है। वे यौन–वर्जनाओं के उन सभी बंधनों को तोड़ने का संकल्प करते हैं, जो नारी की मुक्ति में बाधक बने हैं।

व्यक्ति स्वांतत्र्य जीवन के स्वभाविक प्रभाव की पहली और अनिवार्य शर्त मानी जाती है। लेकिन जहाँ पुरूष के पास यह स्वतंत्रता अनादि काल से रही है, वहीं नारी को इस स्वतंत्रता से वंचित रखने का प्रयास प्रायः विश्व की सभी सामाजिक व्यवस्थाओं द्वारा किया गया है। नारी का अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति जागरूक होना ही नारी–चेतना का परिचायक है। नारी–चेतना नारी का परिचय सर्वप्रथम एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में मानती है, उसके पश्चात ही उसके अन्य परिचय आते हैं। कृष्णा सोबती के यहाँ नारी के दो रूप मौजूद हैं– एक जो परंपरागत सामाजिक बंधनों में जकड़ी हुई है, पर उससे छूटने का प्रयास कर रही है और दूसरी वह जो कि इन बंधनों को तोड़ चुकी है। प्राचीन, जड़ जीवन–मूल्यों से नवीन जीवन–मूल्यों की ओर अग्रसरता द्वारा कृष्णा सोबती ने नारी की नवीन चेतना को व्यवहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है।

देश–विभाजन न सिर्फ भारतीय इतिहास, बल्कि विश्व–साहित्य में एक युगान्तकारी घटना के रूप में जाना जाता है। धर्म के आधार पर देश का विभाजन केवल भौगोलिक सीमाओं का विभाजन ही नहीं था, बल्कि दिलों का भी विभाजन था।

देश–विभाजन, जिन रचनाकारों का भोगा हुआ दर्द है, कृष्णा सोबती उनमें से एक हैं। देश–विभाजन तथा उससे उत्पन्न परिस्थितियों ने किस प्रकार मानवीय संबंधों में बदलाव पैदा किया तथा लोगों की सोच को प्रभावित किया, इसे दिखलाने में कृष्णा सोबती पूर्णतः सफल रही हैं। 'सिक्का बदल गया' कहानी में वे मानवीय मूल्यों के बदलाव को रेखांकित करती हैं तो 'आजादी शम्मोजन की' में यह दिखलाया है कि देश की स्वतंत्रता से समाज के कुछ ही तबकों की स्थिति सुधरी, वेश्याओं की सामाजिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। देश–विभाजन, कृष्णा सोबती के लिए एक जीवंत इतिहास है, जिसका यथार्थपरक चित्रण उनकी रचनाधर्मिता की विशिष्टता है।

किसी भी समाज के लिए परंपराएँ उस सेतु का कार्य करती हैं जो अतीत को वर्तमान एवं वर्तमान को भविष्य से जोड़ता है। लोक जिस सहज–सरल और अविरल परंपरा के प्रवाह में रहता है, उसे लोक–परंपरा कहते हैं। कृष्णा सोबती उन रचनाकारों में से एक हैं, लोक जिनकी रचना को केन्द्र–बिन्दु रहा है। लोक के समस्त आचार–विचार, विश्वास एवं रीति–रिवाजों का यथार्थपरक चित्रण कृष्णा सोबती की रचनाओं की विशिष्टता है।

कृष्णा सोबती अपनी भाषिक विलक्षणता के लिए प्रसिद्ध है। उनकी भाषा में यदि एक तरफ माधुर्य है तो दूसरी तरफ ओज भी है। हिन्दी–कथा भाषा को कृष्णा सोबती ने एक विलक्षण ताजगी दी है। समसामयिक यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए कृष्णा सोबती ने अनुभव की भाषा को माध्यम बनाया है। शिल्प की प्रयोगशीलता भी सोबती की रचनादृष्टि का अनिवार्य अंग है।

आधुनिक युग के किसी भी समाज में नारी–प्रश्नों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्त्री की संस्कृति, इतिहास एवं परंपरा पुरूष से भिन्न रही है, बावजूद इसके, यह भिन्नता साहित्य के इतिहास में पहचानी नहीं गई। आज का स्त्री–लेखन, स्त्री के इतिहास, परंपरा और संस्कृति की अलग पहचान की माँग करता है। आज का स्त्री–लेखन जिन चुनौतियों से गुजर रहा है, उसमें से एक है पुरूषवादी

आलोचनात्मक पद्धति का नकार तथा स्त्रीवादी आलोचना का विकास। स्त्री–लेखन की दूसरी बड़ी चुनौती है पुंसवादी भाषिक संरचना को तोड़कर एक नई भाषा के गठन का। तीसरी बड़ी चुनौती है 'सेल्प सेंसरशिप' का नकार, जो स्त्रियों ने स्वयं पर आरोपित कर लिया है। स्त्री–लेखन का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व बनता है कि वह हाशिए की स्त्रियों की वाणी को स्वर देने का प्रयास करे।

स्त्री–लेखन आज अनेक अंतर्विरोधों के दौर से गुजर रहा है। सबसे पहला अंतर्विरोध तो यह है कि स्त्री लेखन को अलग रचनाधारा के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए या नहीं यह विवाद का विषय रहा है। कई आलोचक स्त्री–लेखन को एक अलग धारा के रूप में स्थापित करने के विरोध में हैं। स्त्री–रचनाकारों में भी इस प्रश्न को लेकर मतैक्य नहीं है। कृष्णा सोबती ने भी स्त्री–लेखन के वर्गगत विभाजन को सही नहीं माना है। लेकिन स्त्री के अनुभवों, विचारों एवं आशाओं को स्वर देने के लिए स्त्री–लेखन को एक अलग धारा के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए, क्योंकि आज तक के साहित्य, इतिहास एवं सांस्कृतिक विमर्शों में स्त्री की उपस्थिति भी पुरूष–प्रदत्त है। स्त्री के विषय में जो कुछ भी कहा गया है, वह पुरूषों के द्वारा ही, स्त्री ने स्वयं अपने विषय में कुछ नहीं कहा है।

स्त्री–लेखन को दूसरा अंतर्विरोध यह है कि इसके अंतर्गत सिर्फ स्त्रियों द्वारा किए गए लेखन को रखा जाये या फिर पुरूषों के द्वारा किए गए लेखन को भी इस पर कोई सहमति नहीं बन पाई है। कई रचनाकार और आलोचक स्त्रियों द्वारा किसी भी विषय पर किए गए लेखन को स्त्री–लेखन के अंतर्गत रखना चाहते हैं, तो कई आलोचक पुरूषों द्वारा स्त्री के लिए किए गए लेखन को भी स्त्री–लेखन के अंतर्गत रखने के पक्षधर हैं। वस्तुतः स्त्री–लेखन के अंतर्गत वही रचनाएँ आनी चाहिए, जो स्त्री–दृष्टि को केन्द्र में रखकर लिखी गई हों। इस हिसाब से पुरूषों द्वारा किया गया वैसा लेखन जो स्त्री–दृष्टि को केन्द्र में रख कर किया गया हो, भी स्त्री–लेखन के अंतर्गत आना चाहिए। साथ ही, स्त्रियों द्वारा किए गए वैसे लेखन को स्त्री–लेखन में

नहीं रखा जाना चाहिए, जिसमें स्त्री दृष्टि का अभाव हो। स्त्री–लेखन एक तरफ तो पुरूषवादी वर्चस्व से मुक्ति की बात करता है, और दूसरी तरफ अपने लेखन का अनुमोदन भी पुरूष वर्ग से ही चाहता है, यह एक और अतर्विरोध है।

समकालीन स्त्री–लेखन पर नारीवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है। नारी जीवन के अनेक अनछुए संदर्भों को अपनी रचनाओं का विषय बना कर स्त्री–लेखन, स्त्री की सामाजिक प्रस्थिति के पुनर्निधारण का प्रयास करता है। विवाह, मातृत्व, स्त्री की अस्मिता का प्रश्न, यौन स्वच्छंदता, पूंजी एवं संपत्ति पर स्वामित्व का प्रश्न एवं राजनीतिक सत्ता में भागीदारी, कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनसे टकराने का प्रयास समकालीन स्त्री–रचनाकारों ने किया है। देह–मुक्ति का प्रश्न, समकालीन महिला लेखन में प्रभुत्व होकर उभरा है। सदियों से पुरूष ने स्त्री की देह को अपना उपनिवेश बना कर रखा, जिसके विरुद्ध प्रतिकार का प्रथम चरण हुआ देह–मुक्ति। लेकिन मृदुला गर्ग और मैत्रीय पुष्पा के यहाँ देह मुक्ति को ही इतनी प्रधानता मिली है कि स्त्री से संबंधित अन्य सभी मुद्दे गौण हो गए हैं। ऐसा लगता है कि स्त्री–स्वातंत्र्य को इनके यहाँ यौन–स्वातंत्र्य तक ही सीमित कर दिया गया है। यहाँ पर कृष्णा सोबती तथा समकालीन स्त्री लेखन की दृष्टि का फर्क मालूम पड़ता है। कृष्णा सोबती के यहाँ स्त्री की देह का प्रश्न उठा है, मगर वह किसी विचारधारा या आंदोलन के प्रभाव में नहीं। यौन–स्वच्छंदता का प्रश्न भी सोबती के यहाँ उपस्थित है (मित्रो के रूप में) परन्तु वह यौन–उन्मुक्तता का पर्याय नहीं बना है। 'मित्रो मरजानी' में मित्रों की माँ बालो, 'न गुल था, न चमन था', की नादिरा एवं 'गुलाबजल गंडेरियाँ' की धन्नो के माध्यम से सोबती ने यह दर्शाया है कि यौन–उन्मुक्तता का परिणाम नकारात्मक होता है। कृष्णा सोबती की मित्रो, देहरस को खुलकर जीना चाहती है। पति से असंतुष्ट मित्रो, परपुरूष से संबंध बनाने को तैयार भी हो जाती है, परन्तु अपनी माँ की दुर्दशा देख कर उसका विवेक जाग्रत हो उठता है। वह यौन–उन्मुक्तता के जिन प्रतिमानों के पुरूष द्वारा पालन न किए जाने पर उसकी

आलोचना की जाती है, उन्हीं प्रतिमानों का उल्लंधन अधिकांश महिला–रचनाकारों के यहाँ हुआ है। कृष्णा सोबती व्यक्ति–स्वातंत्र्य को यौन–स्वातंत्र्य तक सीमित करके नहीं देखतीं, जबकि समकालीन स्त्री–लेखन में अधिकांश स्थलों पर व्यक्ति–स्वातंत्र्य को मान लिया गया है।

संपत्ति के स्वामित्व का प्रश्न, जो कि समाकलीन स्त्री–लेखन में कई जगहों पर उइा है, वह कृष्णाजी के यहाँ इतनी प्रमुखता से नहीं उभरा है। 'ऐ लड़की' में स्त्री के आत्मनिर्भर होने की वकालता की गई है तथा 'दिलोदानिश' मे महक बानो अपने जेवरात वापस हासिल करने का प्रयत्न करती है। लेकिन सोबती के स्त्री–पात्रों के यहाँ आर्थिक प्रश्न इतना महत्वपूर्ण नहीं, जितने कि प्रेम विवाह संबंधी प्रश्न। अतः कई स्थलों पर ऐसा लगता है कि सोबती अनुत्पादक वर्ग की प्रवक्ता हैं। जीविका की कोई चिंता उनके पात्रों को नहीं है। यह कृष्णा सोबती की रचना–दृष्टि को सीमित करता है, क्योंकि 'अर्थ' आज के मनुष्य के लिए एक ऐसा प्रश्न है, जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है।

मातृत्व का प्रश्न भी समकालीन स्त्री लेखन का एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। कई रचनाकार जहाँ मातृत्व को महिमामंडित कर रही हैं, तो वहीं दूसरी तरफ मातृत्व का नकार भी कईयों के यहाँ है। कृष्णा सोबती मातृत्व के प्रश्न से सीधे–सीध नहीं टकरातीं। मातृत्व के निर्णय संबंधी अधिकार उनके नारी–पात्रों को चिंता का विषय नहीं। यह सोबती की रचना दृष्टि को व्यापक बनाने से रोकता है।

राजनीति का प्रश्न भी समकालीन स्त्री लेखन में महत्वपूर्ण होकर उभरा है। आधुनिक युग में नारी भी सत्ता में भागीदारी के लिए प्रयास कर रही है। वह वंचितों की श्रेणी में ही नहीं रहना चाहती तथा राजनीति का उपयोग स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति को सुधारने के लिए भी करना चाहती है। राजनीति का प्रश्न कृष्णा सोबती के यहाँ प्रायः अनुत्तरित है। सोबती के नारी पात्र किसी भी तरह की राजनीतिक भागीदारी के लिए प्रयासरत नहीं दिखाई पड़ते। परन्तु इसके बावजूद कृष्णा सोबती

आज के स्त्री–लेखन के लिए उतनी ही प्रासंगिक हैं, जितनी की कल। कृष्णा सोबती मूर्तिभंजक रचनाकार नहीं है। सामाजिक संस्थाओं की सुरक्षा, समाज के स्थायित्व एवं समन्वित संस्कृति के प्रश्न उनकी रचनात्मक चिंता का विषय हैं। आधुनिकीकरण एवं नारी–मुक्ति आंदोलनों के प्रभावस्वरूप जो लेखन उभर रहा है, उसमें न तो समाज के स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयास है, न ही सामाजिक संस्थाओं के पुनर्निरीक्षण का प्रयास। कृष्णा सोबती ने विवाह एवं परिवार के पुराने ढाँचे को नई आवश्यकताओं के अनुसार निर्मित करने के प्रयास पर जोर दिया है, विवाह एवं परिवार के अस्तित्व को नकारा नहीं है। अपने संपूर्ण लेखन में सोबती ने नारी की दुःरावस्था के लिए पुरूष वर्ग को जिम्मेदार नहीं ठहाराया है। अतः यह कहा जा सकता है कि वर्ग को जिम्मेदार नहीं ठहराया है। अतः यह कहा जा सकता है कि समाकलीन स्त्री–लेखन की कमजोरियाँ कृष्णा सोबती के यहाँ नहीं।

कहना न होगा कि भारतीय–समाज के व्यापक फलक का विस्तार कृष्णा सोबती की रचनाओं में हुआ है। सामाजिक परिदृश्य का चित्रांकन जितनी सूक्ष्मता एवं विश्वसनीयता के साथ कृष्णा सोबती के कथा–साहित्य में हुआ है, वह हिन्दी कथा–साहित्य के लिए एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ सूची

(1) सोबती, कृष्णा

(1) डार से बिछुड़ी,
राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली
तीसरा संस्करण, 2005

(2) मित्रो मरजानी,
राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली
चतुर्थ संस्करण, 2004

(3) यारों के यार
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
छठा संस्करण, 2004

(4) तिन पहाड़
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
छठा संस्करण, 2004

(5) सूरजमुखी अंधेरे के,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र. सं., 1972

(6) जिंदगीनामा,
राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 2004

(7) बादलों के घेरे,
राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 2007

(8) ऐ लड़की,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 1991

(9) दिलोदानिश,
राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 2007

(10) समय सरगम,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 2000

(11) जैनी मेहरबान सिंह,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 2008

सहायक संदर्भ ग्रंथ

1. अज्ञेय, सच्चिदानंद, हीरानदं वात्सयायन — शेखर : एक जीवननी, मयूर पेपरबैक्स, दिल्ली, संस्करण–2003

2. अग्रवाल, पुरूषोत्तम — संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2002

3. उपाध्याय, रमेश एवं संध्या — (सं.) आज का स्त्री आन्दोलन शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2004

4. –– — (सं.) आज के समय में प्रेम शब्दसंधन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2008

5. –– — (सं.) परिवार में जनतंत्र शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2004

6. कुमार, जैनेंद्र — साहित्य का श्रेय और प्रेय पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–1953

7. केसर, कीर्ति — समकालीन हिन्दी कहानी का समाज सापेक्ष अध्ययन नचिकेता प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1982

8. कौर, सुनंत — समकालीन हिन्दी कहानी : स्त्री–पुरूष संबंध अभिव्यंजना प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1991

9. खेतान, प्रभा — उपनिवेश में स्त्री राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2003

10. खेतान, प्रभा
छिन्नमस्ता
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1997

11. गर्ग, भैरू लाल
स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में
सामाजिक परिवर्तन,
चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद,
प्रथम संस्करण–1979

12. गर्ग, मृदुला
कठगुलाब
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,
तृतीय संस्करण–2000

13. गुप्त, जगदीश
नई कविता : स्वरूप और समस्याएँ
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1969

14. चतुर्वेदी, रामस्वरूप
अज्ञेय और आधुनिक रचना की
समस्या
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1968

15. जैन, अरविंद
औरत : अस्तित्व और अस्मिता
सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2001

16. ––
औरत होने की सजा
सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली,
संस्करण–1995

17. जैन, निर्मला
कथा प्रसंग : यथा प्रसंग
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2000

18. —— हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,
संस्करण–1992

19. जैन, नेमिचंद्र जनांतिक, संभावना प्रकाशन
हापुड़, प्रथम संस्करण–1968

20. दईया पीयूष भारतीय लोक कला मण्डल,
उदयपुर
प्रथम संस्करण–2002

21. दुबे, श्यामाचरण समय और संस्कृति
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
द्वितीय संस्करण–2000

22. दुबे, श्यामसुंदर लोकः परम्परा, पहचान एवं प्रवाह
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2003

23. —— संस्कृति, समाज और संवेदना
ग्रंथलोक प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2004

24. पचौरी, सुधीश उत्तर–आधुनिक साहित्यिक विमर्श
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1996

25. —— स्त्री–देह के विमर्श
आत्माराम एंड संस, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2000

26. पाण्डेय, मैनेजर भक्ति आंदोलन और सूरदास का
काव्य
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1992

27. —— साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका
हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला
द्वितीय संस्करण–2001

28. —— आलोचना की सामाजिकता
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2005

29. पुष्पा, मैत्रेयी इदन्नमम
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1994

30. पुष्पा, मैत्रेयी खुली खिड़कियाँ
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2003

31. पुष्पा, मैत्रेयी चाक
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1997

32. भट्ट, बिन्दु अद्यतन हिन्दी उपन्यास
पार्श्व प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1993

33. भण्डारी, मन्नू मेरी प्रिय कहानियाँ
राजपाल एण्ड संस, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1986

34. भारती, धर्मवीर मानव मूल्य और साहित्य
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1960

35. मधुरेश हिन्दी उपन्यासः सार्थक की पहचान
स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली,

प्रथम संस्करण–2002

36. मधुरेश — हिन्दी कहानी का विकास
सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद,
चतुर्थ संस्करण–2004

37. मदान, इंद्रनाथ — हिन्दी कहानीः पहचान व परख,
सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 1975

38. माहेश्वरी, सरला — नारी प्रश्न
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1998

39. मिश्र, रामदरश — हिन्दी कहानी का विकास,
सुमित प्रकाशन, नई दिल्ली,
चतुर्थ संस्करण–2004

40. मिश्र, रामदरश एवं मोहन, नरेन्द्र — (सं.) हिन्दी कहानी : दो दशक की यात्रा
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,
संस्करण–1970

41. मिश्र, शिवकुमार — प्रेमचंद : विरासत का सवाल
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
संस्करण–1993

42. मुद्गल, चित्रा — आवां
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली,
संस्करण–2005

43. यादव, राजेन्द्र — आदमी की निगाह में औरत
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
द्वितीय संस्करण–2007

44. —— — औरों के बहाने
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1980

45. —— (सं) एक दुनिया समानांतर
अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली,
संस्करण–1994

46. —— सारा आकाश
हिन्दी पॉकेट बुक्स, दिल्ली,
संस्करण–1971

47. रस्तोगी, गिरीश मोहन राकेश और आषाढ का एक दिन
अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद,
संस्करण–2001

48. रहबर, हंसराज प्रेमचंद : जीवन, कला, कृतित्व
आत्माराम एंड संस, दिल्ली,
संस्करण–1959

49. राकेश, मोहन बकलम खुद
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1974

50. राकेश, मोहन न आने वाला कल,
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली,
संस्करण–1984

51. राजकिशोर (सं.) स्त्री : परंपरा और आधुनिकता
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1994

52. —— स्त्री–पुरूष : कुछ पुनर्विचार
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
तृतीय संस्करण–2007

53. वर्मा, महादेवी शृंखला की कड़ियाँ
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,
संस्करण–1993

54. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर
द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास
राजपाल एंड संस, दिल्ली,
संस्करण–1982

55. शुक्ला, इंदु
भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में चित्रित देशकाल और भारतीय समाज
चिंता प्रकाशन, दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1968

56. सिंह, ओमप्रकाश
प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य और सांप्रदायिक समस्याएँ
नमन प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1998

57. सिह, विजयमोहन
कथासमय
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,
संस्करण–1993

58. सिंह, सुधा
ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ
ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2008

59. सिंह, त्रिभुवन
उपन्यास में यथार्थवाद
हिन्दी प्रचाकर पुस्तकालय,
वाराणसी, संस्करणा–1955

60. सोबती कृष्णा एवं वैद, कृष्ण बलदेव
सोबती–वैद संवाद
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2007

61. सोबती कृष्णा
हम हशमत (1)
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1999

62. –
हम हशमत (2)
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,

प्रथम संस्करण–1999

63. – सोबती : एक सोहबत
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1999

64. – शब्दों के आलोक में
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2005

65. सोलंकी, गीता नारी चेतना और कृष्णा सोबती के उपन्यास
भारत पुस्तक भंडार, दिल्ली, 2004

66. श्रीवास्तव, परमानंद उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
संस्करण–1976

अनूदित पुस्तकें

1. क्राफ्ट, मेरी कें. स्त्री अधिकारों का औचित्य
(अनु. मीनाक्षी)
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
संस्करण–2003

2. डॉ राधाकृष्णन धर्म और समाज
(अनु. विकास)
राजपाल एंड संस प्रकाशन,
नई दिल्ली, तृ. संस्करण–1963

3. दुबे, श्यामाचरण भारतीय समाज
(अनु. वंदना मिश्र)
नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2001

4. फ्रॉम, एरिक
प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत
(अनु. युगांक धीर)
संवाद प्रकाशन, नई दिल्ली,
संस्करण–2002

5. बाशम, ए. एल.
अद्‌भुत भारत
(अनु. वेंकेटेशचंद्र पांडेय)
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी,
आगरा, 1997

6. बोउवार, सीमोन द
स्त्री : उपेक्षिता
(अनु. प्रभा खेतान)
हिन्दी पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली
संस्करण–2002

7. मिल, जॉन स्टुअर्ट
स्त्री और पराधीनता
(अनु. युगांक धीर)
संवाद प्रकाशन, मेरठ
संस्करण–2002

8. राधाकुमार
स्त्री संघर्ष का इतिहास
(अनु. रमाशंकर)
वाणी प्रकाशन, दिल्ली
संस्करण–2002

9. वुल्फ, वर्जीनिया
अपना कमरा
(अनु. गोपाल प्रधान)
संवाद प्रकाशन, मेरठ
संस्करण–2002

पत्र–पत्रिकाएँ

1. आलोचना
संपादक– नामवर सिंह
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
अंक– अप्रैल–जून, 1980
अक्टूबर–दिसंबर 2003

2.	कथादेश	संपादक– हरिनारायण सहयात्रा प्रकाशन प्रा. लि, दिल्ली, अंक– मई, 2008
3.	पहल	संपादक– ज्ञान रंजन सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, अंक– 67, 73
4.	सारिका	संपादक– कन्हैयालाल नंदन दि टाईम्स ऑफ इण्डियाग्रुप, दिल्ली, अंक– जनवरी, 1979 मार्च 1980
5.	साक्षात्कार	संपादक– भगवत रावत मध्य प्रदेश साहित्य परिषद, भोपाल अंक– फरवरी–98, जुलाई–2000, अगस्त 2001
6.	हंस	संपादक– राजेन्द्र यादव अक्षर प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, अंक– जून, 94, जुलाई–94 अप्रैल–1997, मार्च–2001, जनवरी 2002, अगस्त–2005
7.	भारतीय लेखक	संपादक– भीमसेन त्यागी रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली, अंक–3, अप्रैल–जून 2003
8.	कसौटी	संपादक– नंदकिशोर नवल पुनश्च प्रकाशन, नई दिल्ली, अंक– 15

सहायक अंग्रेजी पुस्तकें

1.	Adorno, T.W	The Culture Industry : Selected Essays on Mass Culture, Routledge Pub., London, 1991
2.	Awasthi Abha and Srivastava, A.K	Modernity, Feminism and Women Empowerment, Rawat Pub., Jaipur, 2001
3.	Bottomore, T.B	Sociology : A Guide to Problems and Literature Blackie, Bombay, 1978
4.	Cornell, R.W.	Gender and Power, Society, the person and sexual politics, Polity Press, London, 1987
5.	Desai, Neera	Women in Modern India Vona & Ko Pvt. Ltd. Bombay, Ist Edition, 1957
6.	Firestone, Sulmith	The Dilectics of Sex, Morrow, New York, 1970
7.	Friden, Betty	The Feminine Mystique, Morrow, New York, 1963
8.	Haralombos, M. and Heald, R.M.	Sociology : Themes and Perspectives. Oxford University Press, New Delhi, 2002
9.	Hasan, Zoya	Forging Identities : Gender Communities and the State, Kali for Women, New Delhi, 1994

10.	Kakkar, Sudhir	Intimate Relations : Exploring Indian Sexulaity, Penguin Books India, New Delhi, 1994
11.	Kuppswami, B	Social change in India Vikas Publication, Delhi, Edition - 1972
12.	Mackiver, R.M. and Page, H. Charles	Society, An Introductory analysis, McMillian Indian Pvt. Ltd. New Delhi, 2002
13.	Mandelbaum, David G.	Society in India, Popular Prakashan, Bombay, 2003
14.	Millete, Kate	Sexual Politics, Doubleday, New York, 1970
15.	Mukherjee, D.P.	Sociology of Indian Culture, Rawat Publication, Jaipur 1979
16.	Mukherjee, Meenakshi	Racism and Reality : The novel and Society in India, Oxford University Press, New Delhi, 1994
17.	Raghava, Sulochana	Sociology of Indian Literature: A Sociological Study of Hindi Novels, Rawat Pub. Jaipur 1987
18.	Singh, Jaspal	Society, Culture and Socio-cultural Change N.B.O. New Delhi, 1996

19. Singh, Yogendera — Modernization of Indian Tradition, Rawat Pub., Jaipur, 2002

20. Srinivas, M.N. — Social Change in Modern India, Orient Longman Pvt. Ltd., New Delhi, 2003

21. Zereffa, Michael — Fictions: The Novels and Social Reality, Haramandsworth, Middlsex, Penguin Book, New Delhi, 1976